भारत में शिक्षा

लेखक

डॉ. श्रीधरनाथ मुकर्जी

अध्यक्ष

शिक्षा एवं मनोविज्ञान संकाय

श्री महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय

बड़ौदा

प्रकाशक

आचार्य बुक डिपो

बड़ौदा

१९६०
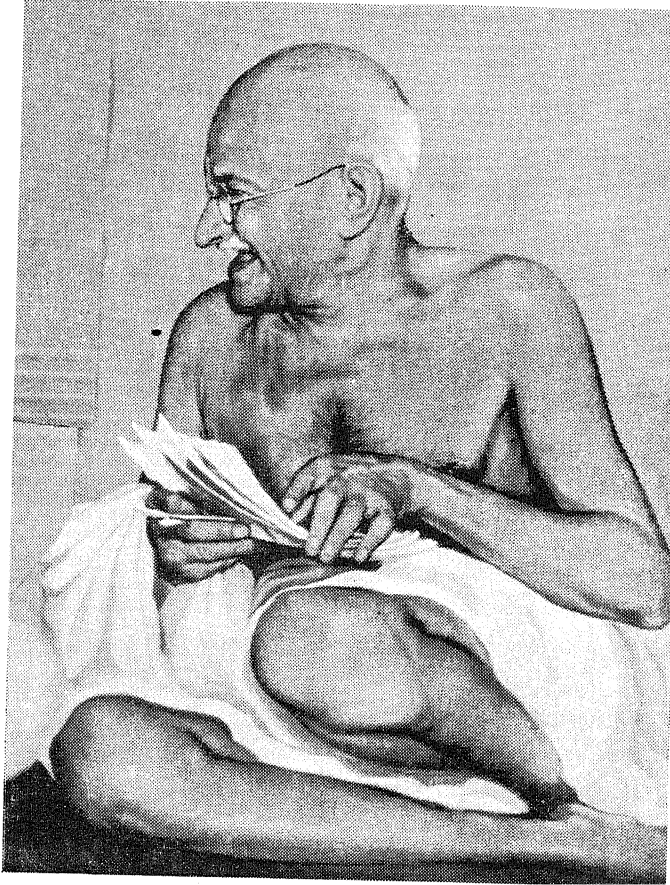
प्राक्कथन

अंग्रेजी भाषा में मेरी 'Education in India—Today and Tomorrow' नामक पुस्तक पहले ही प्रकाशित हो चुकी है। उसका चतुर्थ संस्करण अभी प्रकाशित हुआ है। शिक्षा-जगत् में उस पुस्तक का इस प्रकार समुचित आदर एवं प्रचार उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। प्रस्तुत पुस्तक मेरी उसी अंग्रेजी पुस्तक पर आधारित है। इसमें कहीं-कहीं तो उस मूल ग्रन्थ का अनुवाद है, और कहीं उसको आधार मान लिया गया है। आशा है कि मेरी उक्त अंग्रेजी पुस्तक का यह हिन्दी रूप भी पाठकों को रुचिकर होगा।

प्रशिक्षण महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम की ओर दृष्टि रखकर मैंने यह पुस्तक लिखना आरम्भ किया था; किन्तु जिस समय मैं वर्ण्य विषय के विभिन्न अङ्गों पर व्याख्या-पूर्वक लिखने बैठा, उस समय मैंने अनुभव किया कि व्यापकता का ध्यान रखते हुए इस पुस्तक को केवल बी० एड० या एम० एड० के पाठ्यक्रम तक ही सीमित न रखा जावे, वरन् इसे इस प्रकार लिखा जावे, जिससे यह साधारण शिक्षित भारत-वासी का भी ध्यान आकृष्ट करे। चूँकि शिक्षा-विषयक जानकारी प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए आवश्यक है, अतएव इस पुस्तक को इस प्रकार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है कि जिससे कठिनाइयों के बिना सर्वसाधारण वाचक इसका समुचित लाभ ले सके।

इस पुस्तक को लिखने का मेरा दूसरा उद्देश्य हिन्दी-भाषा की यथा-रुचि सेवा करना भी है। हिन्दी भाषा में शिक्षा-विषयक पुस्तकों की माँग है, और ऐसी शिक्षा-साहित्य की पुस्तकों का अभाव भी है। इसीसे इस पुस्तक को प्रस्तुत करने की आवश्यकता समझी गयी। मैंने इस ग्रन्थ में भाषा को भरसक सरल रखने का प्रयत्न किया है। शिक्षा-विषयक पारिभाषिक शब्दों के रूप की अनिश्चितता के कारण कभी-कभी कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा, पर साधारणतया मैंने हिंदी में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग किया है।

अन्त में उन अनेक विद्वानों तथा ग्रन्थकारों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके विचारों तथा ग्रन्थों से मुझे इस कार्य में सहायता प्राप्त हुई है। इनके नाम ग्रन्थ-सूची में दिये गये हैं।

मैं श्री सभामोहन अवधिया, 'स्वर्ण-सहोदर' एवम् आदरणीय पं० शालग्राम द्विवेदी, एम० ए०, (भूतपूर्व अधीक्षक, प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय, जबलपुर) का अत्यन्त

ही आभारी हूँ। इन महाभानुवों ने कृपा-पूर्वक पुस्तक की पाण्डु-लिपि संशोधन में मेरी यथेष्ट सहायता की है। मैं अपने मित्र श्री भारतेन्दु सिनहा, प्राध्यापक, हिंदी विभाग बड़ौदा विश्वविद्यालय एवं प्रिय छात्र श्री रामभाई पटेल, शिक्षक, शारदा मन्दिर हाईस्कूल, बड़ौदा का भी अनुगृहीत हूँ; क्योंकि उनके प्रूफ-संशोधन एवं अनुकूल परामर्श के बिना निश्चिय ही यह पुस्तक इतनी अच्छी नहीं निकल सकती थी।

सेवन्ती बाग, बडौदा।
शिवरात्रि,
सं० २०१६ वि०।

श्रीधरनाथ मुकर्जी

विषय-सूची

तालिका-सूची

चित्र-सूची

पहला अध्याय

भारतीय शिक्षा के इतिहास की रूप-रेखा

[एक सिंहावलोकन]

भूमिका

आज हमारा देश पिछड़ा गिना जाता है। यदि अर्थाभाव पिछड़ेपन का लक्षण है तो हमें कुछ कहना नहीं है। यदि निरक्षरता के कारण हम पिछडे गिने जाते हैं, तो भी हमें चुप रह जाना पड़ता है। किन्तु यदि सभ्यता की दृष्टि से देखा जाय तो कुछ इने-गिने देश ही हमारी बराबरी कर सकते हैं। जब हमारा देश संसार का सिरमौर समझा जाता था, तब पाश्चात्य देश बर्बर गिने जाते थे। यद्यपि आज ८३ प्रति शत भारतवासी निरक्षर हैं, तथापि वे गवाँर नहीं कहे जा सकते हैं। बातों-ही-बातों में उनके मुँहों से कबीर, तुलसी प्रभृति की उपदेश-भरी पंक्तियाँ निकल पड़ती हैं। वे आल्हा-ऊदल की वीर-रस-पूर्ण वीर-गाथा बखानने लगते हैं, और नरसी मेहता तथा कम्बन के भक्ति-मय गीतों को सुनकर विभोर हो उठते हैं।

इसका मुख्य कारण है हमारी संस्कृति। वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक हमारी संस्कृति की धारा अटूट बहती आ रही है। निश्चय ही उसे अनेक आँधी-तूफानों का सामना करना पड़ा, तो भी हमारी सभ्यता का क्रम अक्षुण्ण रहा। आज भी हमारी प्राचीन कला तथा साहित्य की उत्कृष्टता को संसार स्वीकार करता है। अनेक सभ्य देश तो काल के गाल में समा गये, पर भारत आज भी सिर ऊँचा किये खड़ा है। हमारी शिक्षा की सुदृढ़ नींव पर आधारित हमारी सभ्यता आज भी गर्वोन्नत भाल खड़ी है।

शिक्षा का आरम्भ ऋग्वेद काल से होता है। इस अवधि अर्थात् २,५०० ई० पू० से वर्तमान सन् १९६० ई० तक के वर्षों को विचार एवं विवेचना की सुविधा के लिए, हम निम्नलिखित पाँच भागों में बाँट सकते हैं :

१. वैदिक युग ... २,५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक;
२. बौद्ध युग ... ५०० ई० पू० से १,२०० ई० तक;
३. मुस्लिम युग ... १,२०० ई० से १,७५७ ई० तक;
४. बृटिश युग ... १,७५७ ई० से १,९४७ ई० तक; और
५. स्वातन्त्र्योत्तर काल ... १,९४७ ई० से आगे।

प्रस्तुत पुस्तक में वर्तमान शिक्षा-स्थिति की विस्तार-पूर्वक चर्चा की गयी है तथा शिक्षा के जटिल प्रश्नों की विशद रूप से व्याख्या की गयी है। पर इन्हें समझने के लिए हमें अतीत को समझना आवश्यक है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान सदैव बीती हुई घटनाओं की नींव पर खड़ा होता है। इसी कारण इस अध्याय में भारतीय शिक्षा के इतिहास की रूप-रेखा दी गयी है तथा अगले अध्यायों के प्रत्येक शिक्षा-प्रश्न की पूर्व-पृष्ठिका संक्षेप में दी गयी है। हमने प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय शिक्षा के इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियों तथा घटनाओं का ही वर्णन किया है। ये इस प्रकार चुनी गयी हैं, जिनसे वर्तमान स्थिति पर सम्यक् प्रकाश पड़े।

वैदिक युग में आर्यों ने यह सिद्धान्त किया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिर पर तीन ऋण लेकर पैदा होता है—देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण। अन्नादि का दान देकर तथा यज्ञ कर के वह देव-ऋण से मुक्त होता है, विवाह कर और पुत्र उत्पन्न कर वह पितृ-ऋण से छूटता है, तथा अध्ययन और अध्यापन कर वह ऋषि-ऋण से उऋण होता है।

वैदिक युग

वैदिक युग में मानव-समाज कर्म-स्वभाव के अनुसार चार वर्णों में बाँट दिया गया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का काम था पढ़ना और पढ़ाना, क्षत्रिय का कर्तव्य था प्रजा तथा आश्रितों का रक्षण और पालन करना, वैश्य का काम था व्यापार और खेती करना, तथा शूद्र का काम था सेवा करना और सब वर्णों के काम की वस्तुएँ बनाना। समाज को पूर्णाङ्ग व्यवस्थित करने के लिए, इस वर्ण-व्यवस्था की सृष्टि की गयी थी, जिससे प्रत्येक मनुष्य वही काम करे, जिसके लिए वह उपयुक्त समझा जावे। जाति-भेद की व्यवस्था उस समय किसीने सोची भी नहीं थी।

अध्ययन के प्रक्रम ठीक-ठीक बाँट दिये गये—जन्म से सात वर्ष तक घर में, और उसके बाद गुरुकुल में। आठवें वर्ष उपनयन के पश्चात्, बालक गुरुकुल में विद्याध्ययन

के लिए जाता था। उपनयन का अर्थ है गुरुकुल में पहुँचाने का संस्कार। प्रथम तीन वर्णों के लिए गुरुकुल में अध्ययन करना अनिवार्य था। शूद्र अपने शिक्षागुरु या पिता से आवश्यक अध्ययन करता था। गुरुकुल में शुल्क नहीं लिया जाता था। बालक से गुरु पूछते थे—'कस्य ब्रह्मचारी असि?' (तुम किसके ब्रह्मचारी हो?) बालक उत्तर देता था—'भवतः' (आपका)। फिर उसका नाम पूछा जाता था, और वह प्रविष्ट कर लिया जाता था।

गुरुकुल-आश्रम, नगर के कोलाहल से दूर, किसी नदी या बृहत् जलाशय के समीप होता था, जिससे शान्त वातावरण में समुचित पढ़ाई हो सके तथा निवास के लिए पर्याप्त स्थान प्राप्त हो। प्रत्येक विद्यार्थी को गुरु-गृह में जितेंद्रिय रहकर ब्रह्मचर्य-जीवन पालन करना पड़ता था। उसका जीवन अति संयमी तथा सात्विक होता था। तामसिक पदार्थों का सेवन, बासी अन्न, मिठाई आदि का भोजन, तथा तेल, जूता, छतरी और दर्पण का उपयोग करना विद्यार्थी के लिए निषिद्ध था। उसे कठोर शय्या पर सोना होता था और धोये हुए स्वच्छ वस्त्रों को पहनना पड़ता था। उसे स्त्रियों के बीच बैठने की मनाही थी।

ब्रह्मचारी की दिनचर्या भी बँधी थी। प्रति दिन ब्राह्म मुहूर्त में उठकर तथा नित्य कर्म समाप्त कर, उसे आश्रम के लिए कुश, जल, समिधा आदि लाना होता था। तत्पश्चात् आश्रम को बुहारकर, गायों को दुहकर तथा दुग्ध-पानकर वह गुरुजी के पास जाता था। वहाँ वह गुरुजी को प्रणाम कर चुपचाप उनका पढ़ाया हुआ पाठ सुनाता तथा सुनता था। पाठ पूरा होने पर वह गुरुजी की आज्ञा से अपनी शंका समाधान करता था। दोपहर के समय, वह निकट के किसी गाँव या नगर में भिक्षा माँगने जाता था। प्राप्त भिक्षान्न गुरुपत्नी को देता, तथा उसका दिया हुआ भोजन खाकर वह कुछ समय विश्राम करता था। विश्राम के बाद वह प्रातःकाल के पाठ की चर्चा अन्य सहपाठियों के साथ करता था। सन्ध्या के समय वह व्यायाम करता था। फिर, आश्रम को साफ़ कर, गौओं को दुहकर तथा निकट के गाँव से भिक्षा लाकर वह गुरु के पास जाता था। गुरु या किसी साधु-विद्वान से इतिहास-पुराण की कथा-वार्ता सुनकर या किसी वयोवृद्ध का सत्संग कर वह एक पहर रात गये सो जाता था, और पुनः दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में सोकर उठ जाता था।

प्रत्येक बालक को सांस्कारिक, नैतिक, शारीरिक और व्यावसायिक शिक्षा दी जाती थी। सांस्कारिक शिक्षा के अन्तर्गत चार वेद, वेदाङ्ग, दर्शन तथा नीतिशास्त्र

सभी को पढ़ना पड़ता था। अपने-अपने वर्ण के अनुसार विद्यार्थीगण वेद तथा वेदाङ्ग का अध्ययन करते थे। नैतिक शिक्षा कुछ तो उपदेश से और कुछ आश्रम के वातावरण से मिलती थी। शारीरिक शिक्षा के लिए प्राणायाम और व्यायाम का विधान था। यों तो दैनिक नियमित कार्यों के सम्पादन में ही पर्याप्त व्यायाम हो जाता था, जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी को लकड़ी काटना, पानी भरकर ढोना तथा आश्रम की स्वच्छता करना आवश्यक होता था।

व्यावसायिक शिक्षा वर्णों के अनुकूल दी जाती थी। ब्राह्मण पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषय का अध्ययन करते थे, क्षत्रिय दण्ड-नीति, राज-नीति, सैन्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि सीखते थे तथा वैश्य को पशु-पालन एवं कृषि-विद्या में विशेष योग्यता प्राप्त करना पड़ती थी। इन विषयों के सिवा आयुर्वेदादि विषय अपनी अपनी इच्छा के अनुसार सभी छात्र सीख सकते थे। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक विषयों के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा रहते हुए भी, प्रत्येक छात्र को किसी एक विषय में पारङ्गत होना पड़ता था। साधारणतः पचीस वर्ष की आयु में तीनों वर्णों की शिक्षाएँ पूरी हो जाती थीं; पर ब्राह्मण को यह विशेषाधिकार था कि वह आजीवन स्वेच्छापूर्वक विद्यार्जन करे—'यावज्जीवमधीते विप्रः'। शिक्षा समाप्त होने पर तथा गुरु-दक्षिणा देकर प्रत्येक विद्यार्थी विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था।

आचार्य या गुरु सब से ऊपर के वर्गों के छात्रों को पढ़ाते थे। ये विद्यार्थी अपने से निम्न वर्ग के छात्रों को सिखाते थे, और वे अपने से नीचे वालों को। इस प्रकार सब से नीचे वर्ग के छात्रों के सिवा, गुरुकुल में सब गुरु-ही-गुरु रहते थे। अध्यापन के समय, प्रत्येक विद्यार्थी के व्यक्तित्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कारण, वैदिक काल में गुरु किसी विद्यालय या वर्ग के शिक्षक न थे। गुरु का कर्तव्य केवल पढ़ाना ही न था। उसका धर्म था कि वह प्रत्येक छात्र को सदाचारी बनावे, उसके आचरण की रक्षा करे, उसका चरित्र-गठन करे, उसके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध करे तथा उसके प्रति अपने पुत्र के समान वात्सल्यभाव दिखावे। विद्यार्थी भी गुरु को पिता और देवता समझता था। उसे 'आचार्यदेवो भव' की शिक्षा दी जाती थी। यह सब कुछ सम्भव था, क्योंकि शिक्षा सावास-प्रणाली के अनुसार दी जाती थी और गुरु तथा शिष्य साथ-साथ रहते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत का शिष्य गुरु का केवल विद्यार्थी ही नहीं होता था, वरन वह गुरु-परिवार का एक सदस्य भी होता था। इस गुरु-परिवार में गरीब और अमीर साथ-साथ रहते और विद्याध्ययन करते थे। वहाँ

ऊँच-नीच का भेद-भाव न था। इस प्रकार गुरुकुलों का सामाजिक जीवन भ्रातृभाव से परिपूर्ण था। इसी कारण आर्थिक सङ्कट के समय सुदामाजी सहायतार्थ अपने पूर्व सहपाठी श्रीकृष्ण भगवान् के निकट दौड़े गये थे, और एक नृपति होकर भी उन्होंने अपने एक भूतपूर्व दीन सहपाठी का समुचित सम्मान किया था।

वैदिक कालीन शिक्षण-पद्धतिमें तीन क्रियाओं का समावेश था — श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। अध्यापन के समय विद्यार्थी गुरु के वचन को ध्यान-पूर्वक सुनते थे। पाठ समाप्त होने पर विद्यार्थी प्रश्न करते थे और गुरु उनके उत्तर देते थे। इस प्रकार प्रश्नोत्तर-प्रणाली प्रचलित थी। विद्यार्थियों के उत्तर की शुद्धता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। अपने अवकाश के समय वे पठित पाठ का मनन और निदिध्यासन (चिन्तन) करते थे।

गुरुकुलों में आजकल के समान परीक्षा-प्रणाली न थी। गुरुजी प्रति दिन जो कुछ पढ़ाते थे, उसे उसके अगले दिन प्रत्येक विद्यार्थी से सुनते थे। जहाँ कमी रह जाती थी, उसे वहाँ विद्यार्थी पूरा कर लेता था। पूर्णतः सन्तुष्ट होने पर ही गुरुजी अगला पाठ पढ़ाते थे। इस प्रकार प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत योग्यता की ओर विशेष लक्ष्य दिया जाता था। बीच-बीच में गुरुजी आश्रम के विद्यार्थियों को दो दलों में बाँट देते थे, जिनमें परस्पर शास्त्रार्थ चलता था। कभी-कभी दो गुरुकुल के छात्रों में भी परस्पर शास्त्रार्थ हुआ करता था। प्रत्येक विद्वान् को भी सदैव शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत रहना पड़ता था। उसे कोई भी शास्त्रार्थ के लिए आह्वान कर सकता था, और उसे स्वार्जित विद्या का परिचय देना पड़ता था। आजकल के विद्यार्थी तो अपनी विद्वत्ता की साक्षी के रूप में विश्वविद्यालय का एक दस्तावेज पेश कर सकते हैं, पर वैदिक काल में प्रत्येक विद्वान् की विद्वत्ता उसकी जीभ पर नाचती थी। वह नहीं कह सकता कि मैंने जो कुछ सीखा था उसे भूल गया हूँ। उसे सदैव विद्या की चर्चा करनी पड़ती थी।

इस काल में कन्याओं का यज्ञोपवीत तो अवश्य होता था, पर बालकों के समान उनके लिए गुरुकुल न थे। ऋग्वेद के काल में स्त्रीशिक्षा पूर्णतः प्रचलित थी। सहशिक्षा वर्जित न थी, पर धीरे-धीरे यह प्रथा उठ गयी। याज्ञवल्क्य ने बालिकाओं का उपनयन अनावश्यक समझा तथा उनका विवाह ऋतु प्रारम्भ के पूर्व होने लगा। अधिकतर कन्याओं के लिए यह विधान था कि वे अपने माता-पिता, ज्येष्ठ भगिनी, सास तथा पति से विद्या प्राप्त करें। आचार्यों की कन्याएँ स्वयं अपने पिता के साथ रहकर विद्याध्ययन करती थीं, जैसेः गार्गी, देवयानी, मैत्रेयी आदि। हमारे धर्म-ग्रन्थों में

विश्ववारा, लोपामुद्रा, आत्रेयी, मैत्रेयी, घोषा, वज्राया इत्यादि अनेक विदुषियों का होना पाया जाता है ।

गुरुकुल के परिपोषण के लिए अनेक नृपति गाँव के गाँव लगा देते थे । इसके बदले गुरुकुल को न कुछ अर्थ ही देना पड़ता था और न कर ही भुगतना होता था । ऐसी बस्ती को ब्रह्मपुरी या अग्रहार, तथा इस प्रकार के दान को भट्ट-वृत्ति कहते थे । गुरुकुलों के सिवा अनेक तीर्थ-स्थानों तथा शहरों में अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्यों ने अपने गृहों में ही विद्या-केन्द्र खोल रखे थे । इन नगरों में काशी, कांची, कनौज, तक्षशिला, तंजौर, पाटलीपुत्र, नाशिक, मिथिला प्रधान विद्या-क्षेत्र थे ।

वैदिक युग में, विद्या की सबसे महत्व-पूर्ण संस्था परिषद् थी । ये परिषद् विशिष्ट विद्वानों की गोष्ठियाँ थीं । सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर विचार करने के लिए परिषद् की बैठकें समय समय पर होती थीं । इनका निर्णय राज्य एवं प्रजा – दोनों – को मानना पड़ता था । परिषद् के सदस्यों की संख्या १० से २१ तक होती थी । गौतम धर्म-सूत्र के अनुसार इन दस सदस्यों का संयोजन इस प्रकार था : (१) चार वेदों के पूर्ण ज्ञाता, (२) धर्मशास्त्रों के तीन पण्डित तथा (३) ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ – तीनों – के एक एक प्रतिनिधि । धीरे धीरे इन विद्वानों के पास अनेक छात्र विद्याध्ययन के लिए आने लगे तथा परिषदों ने सावास विश्वविद्यालयों का रूप धारण किया । श्री राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं, "परिषद में आधुनिक विश्व-विद्यालयों के सभी उपकरण वर्तमान थे ।" † इन विद्या-केन्द्रों में दो मुख्य थे — एक, 'काशी' और दूसरा, गान्धार की राजधानी 'तक्षशिला' ।

७०० ई० पू० से ५०० ई० पू० की अवधि में तक्षशिला शिक्षा का प्रधान केन्द्र रहा । यह स्थान रावलपिंडी से २० मील पश्चिम की ओर था । यहाँ अनेक आचार्यों ने अपने विद्या-केन्द्र खोल रखे थे, और संसार के दूर-दूर के देशों से विद्यार्थीगण अध्ययन के लिए आते थे । एक-एक आचार्य के पास पाँच-पाँच सौ विद्यार्थी पढ़ते थे । यथार्थ में तक्षशिला एक केन्द्रीय विश्व-विद्यालय बन गया था, और भारत के अन्य नगरों के अनेक विद्या-केन्द्र इससे सम्बन्धित थे । इस विश्वविद्यालय में केवल उच्च शिक्षा ही दी जाती थी । चारों वेदों के अतिरिक्त यहाँ निम्न लिखित विषय पढ़ाये जाते थे : धर्म, विधि (कानून), गणित, कृषि, वाणिज्य, पशु-विद्या, लौह-शिल्प,

† R. K. Mookerji. *Ancient Indian Education*. Bombay, Macmillan, 1951. pp. 220–22.

काष्ठ-शिल्प, चिकित्सा तथा शल्य-शास्त्र, धनुर्विद्या तथा युद्ध-विद्या, ज्योतिष (गणित और फलित), भविष्य-कथन, जादू, गारुड़ी विद्या, गुप्त द्रव्योत्पादन, संगीत, नृत्य, चित्रकला और साहित्य । †

बौद्ध युग

भूमिका.—प्रसिद्ध दार्शनिक श्रीराधाकृष्णन् का कहना है : "बौद्ध धर्म नया धर्म नहीं, अपितु हिन्दू धर्म का ही परिवर्तित रूप है।" § जिस समय भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था (५६३ ई० पू०), उस समय धार्मिक सुधारों की विशेष आवश्यकता थी। वैदिक धर्म में ज्ञान एवं कर्म के समन्वय का सम्पूर्ण ह्रास हो गया था। इसके बदले यज्ञ का आडम्बर आ गया था, जिसमें मांस की आहुति देना आवश्यक था। ब्राह्मणों की प्रधानता बढ़ गयी थी और उनके सिवा अन्य जातियों से उपनयन संस्कार उठ गया था। ब्राह्मणों ने तो अपने फन्दे में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी—को फाँस रखा था। जनता उनके बनाये हुए नियमों तथा धार्मिक अन्ध-विश्वासों से तङ्ग आ गयी थी, और कहीं भी स्वतन्त्रता का मार्ग दिखलायी नहीं पड़ता था। ब्राह्मण पुकार-पुकार कर कह रहे थे कि नीच जातियाँ मोक्ष नहीं पा सकतीं, अतएव उनकी आशालता पूर्ण रूप से मुरझा गयी थी और उनकी आन्तरिक भावनाओं में उन्नति की ज्योति प्रज्ज्वलित नहीं रही थी।

उन्नति की वह ज्योति दिखायी एक क्षत्रिय राजकुमार—गौतम बुद्ध ने। जाति-पाँति का भेद-भाव उठाकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार जन-भाषाओं द्वारा सभी अवस्था, वर्ग, जाति तथा स्त्री-पुरुष में किया। जीवन का लक्ष्य ठहराया गया निर्वाण या मोक्ष। इसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय ठहराया गया—अहिंसा तथा पवित्र जीवन। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को दो भागों में विभाजित किया—भिक्षु अर्थात् पुरुष और भिक्षुणी अर्थात् स्त्री।

पब्बज्जा तथा उपसम्पदा.—वैदिक शिक्षा की भाँति बौद्ध शिक्षा का प्रारम्भ संस्कारों से ही होता है। इनमें दो मुख्य थे—पब्बज्जा (प्रव्रज्या) और उपसम्पदा। वैदिक धर्म में जो स्थान उपनयन संस्कार का है, बौद्ध धर्म में वही स्थान

† D. G. Apte. *Universities in Ancient India.* Baroda, Faculty of Education & Psychology. n. d., pp. 13–14.

§ S. Radhakrishnan. *Indian Philosophy*, Vol I., p. 360.
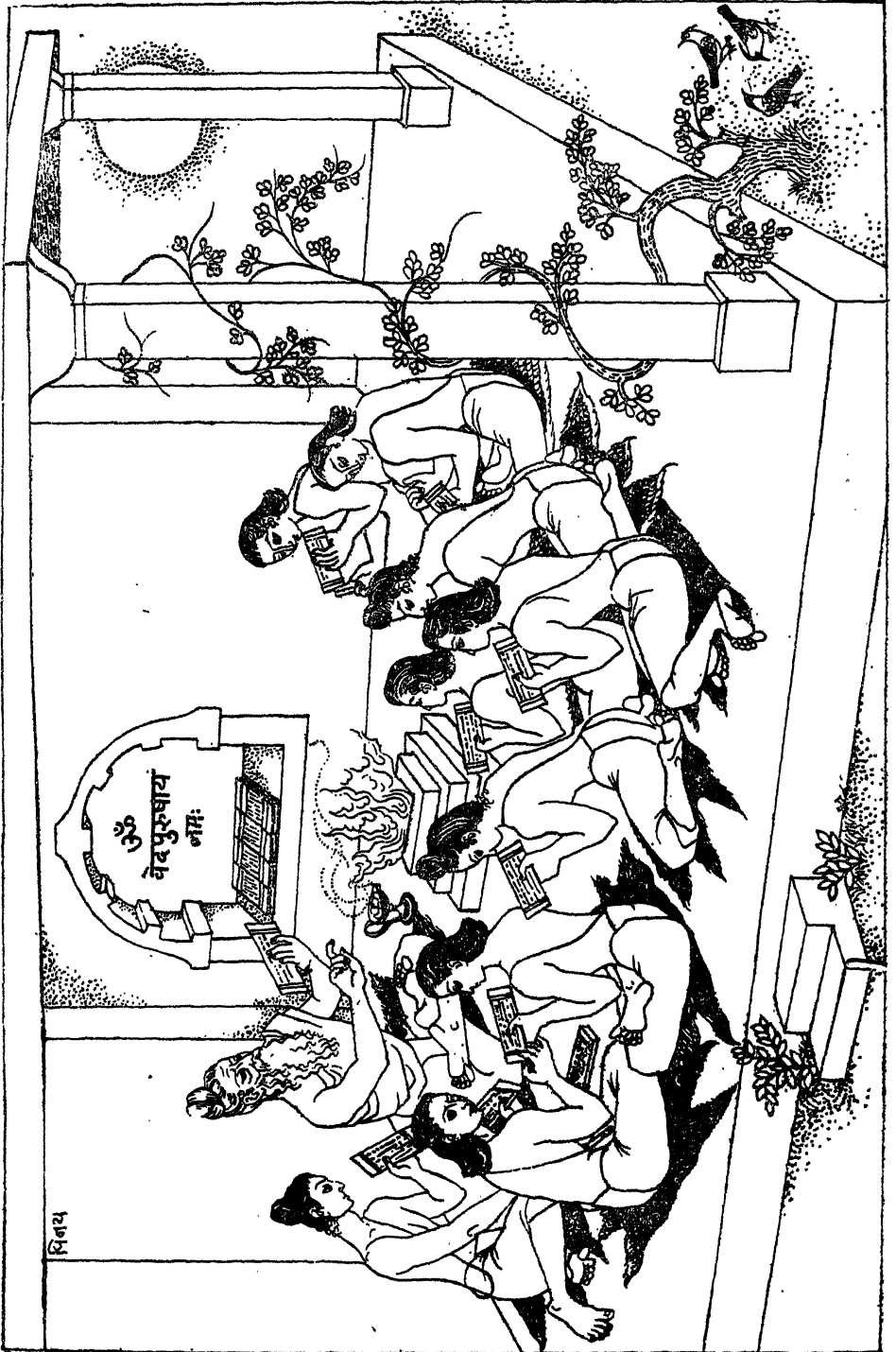
शिष्यगणसहित तक्षशिला के एक आचार्य

प्रव्रज्या (पब्बज्जा) का है। इस संस्कार का शाब्दिक अर्थ 'बाहर जाना' है। इस संस्कार के द्वारा एक अष्टवर्षीय बालक या बालिका अपने गृह से सदा के लिए अलग होकर एक संघ में प्रवेश करता था। पब्बज्जा का द्वार सभी वर्णों के लिए खुला था। अपना सिर मुड़ाकर तथा पीत वस्त्र पहन कर, विद्यार्थी नत मस्तक होकर भिक्षु को प्रणाम करता था तथा प्रार्थना करता था कि वे उसे शिष्यरूप में स्वीकार करें। इसके स्वीकार होने पर, उसे अपने उपाध्याय के सम्मुख 'सरणत्रय' के तीन प्रणों को तीन बार उच्चारण कर कहना पड़ता था :

बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।

पब्बज्जा-प्रविष्ट छात्र समनेर अथवा श्रमण कहलाता था। लगातार लगभग बारह वर्ष विद्याध्ययन करने के पश्चात्, बीस वर्ष की आयु में श्रमण उपसम्पदा संस्कार ग्रहण करता था। इस संस्कार के पश्चात् वह भिक्षु कहलाता था। उसे चार व्रत धारण करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी : (१) वृक्ष के नीचे वास करना, (२) भिक्षा-पात्र में भिक्षान्न एकत्रित करके भोजन करना, (३) माँगे हुए वस्त्रों से शरीर ढँकना और (४) औषधि-रूप में गौमूत्र सेवन करना। उपसम्पदा से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक विद्यार्थी पच्चीस वर्ष की आयु में स्नातक होकर गार्हस्थ जीवन पालन करते थे, पर बौद्ध विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर संघ के स्थायी सदस्य बन जाते थे, और शेष जीवन भिक्षु-रूप में बिताते थे।

दैनिक जीवन.—वैदिक ब्रह्मचारियों की नाईं श्रमणों तथा भिक्षुओं का जीवन शुद्ध एवं सात्विक, सरल तथा आडम्बर-शून्य होता था। उनका भोजन अति सादा होता था, मस्तक मुँडा हुआ रहता था और शरीर पर चीवर धारण करते थे। उनका जीवन नियमित रहता था, वे विनम्र एवं अनुशासित होते थे तथा उनके अध्ययन, भिक्षाटन और भोजन के लिए समय निर्धारित रहता था। उन्हें अपने आचार्य की विभिन्न सेवाएँ करनी पड़ती थीं, और मठ को साफ-सुथरा भी रखना पड़ता था।

विहार.—भिक्षु तथा भिक्षुणी विहार या संघाराम में अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। विहार शहरी आबादी से दूर स्थापित होते थे। बौद्ध-शिक्षा-मंडल या विद्यालय इन्हीं से जुड़े हुए रहते थे। वैदिक गुरुकुलों की नाईं इनकी छोटी-छोटी टोलियाँ नहीं होती थीं। ये प्रशस्त होते थे, तथा प्रत्येक मठ में कम-से-कम ५००–१,००० विद्यार्थियों के रहने का प्रबन्ध रहता था। इसके सिवा, स्त्रियों के मठ एवं विहार पृथक होते थे।

बौद्ध शिक्षा-पद्धति की एक और विशेषता थी। वह थी संघीय प्रणाली। इसके अनुसार छोटे-मोटे वैयक्तिक विद्यालय एक बड़े समुदाय से सम्बन्धित रहते थे। इनके छात्रगण अपने उपाध्याय से वैयक्तिक शिक्षा अवश्य ग्रहण करते थे, तिस पर भी वे केन्द्रीय संस्था के सदस्य होते थे तथा उसके समस्त सामूहिक व्यापारों में भाग ले सकते थे। इस प्रकार यह संघीय प्रणाली वर्तमान संबंधीय विश्वविद्यालयों से मिलती-जुलती है।

पाठ्यक्रम.—बौद्ध शिक्षा में दो प्रकार का पाठ्यक्रम होता था : (१) लौकिक और (२) धार्मिक। प्रथम पाठ्यक्रम का उद्देश्य था साधारण स्त्री-पुरुषों को उचित नागरिक बनाना तथा उन्हें अपने भावी जीवन के लिए तैयार करना। इस पाठ्यक्रम में विविध प्रकार के कला-कौशल, शास्त्रार्थ, सारथीविद्या, धनुर्विद्या, मन्त्रविद्या, चित्रकारी, संगीत, चिकित्साशास्त्र प्रभृति होते थे।

धार्मिक पाठ्यक्रम भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए होता था। इसमें इन पाठ्य-विषयों का समावेश था : (१) बौद्ध धार्मिक साहित्य, जो नौ भागों में विभक्त था, (२) मठों तथा विहारों के निर्माण का व्यावहारिक ज्ञान और (३) विहारों को दिये गये दान की सम्पत्ति का हिसाब-किताब तथा प्रबन्ध।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने जन-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। बौद्ध उपाध्यायों का यह कर्तव्य था कि वे अपने परिभ्रमण में प्रवचन करें। इसके द्वारा वे गृहस्थों को धर्म की शिक्षा देते थे तथा उनकी शङ्काओं का समाधान करते थे। उपाध्याय के पीछे-पीछे उनके शिष्यगण प्रवचन सुनते चलते थे।

अध्यापन-विधि.—बौद्ध विहारों में साधारणतः प्रवचन या व्याख्यान-द्वारा शिक्षा दी जाती थी। उपाध्याय एक मंच पर बैठते थे, और भिक्षुगण उनके तीन ओर बैठकर मौनपूर्वक प्रवचन सुनते थे। जहाँ कुछ शङ्का होती थी, वहाँ विद्यार्थीगण उपाध्याय की आज्ञा लेकर प्रश्न पूछते थे। प्रवचन प्रणाली के अतिरिक्त बौद्ध शिक्षाक्रम में व्याख्या-प्रणाली, प्रश्नोत्तर-विधि तथा वाद-विवाद की रीति का प्रमुख स्थान था। इस काल में लिपि का प्रचलन हो गया था। सम्भवतः पुस्तकाधारित अध्यापन-विधि भी चालू थी। इसके अतिरिक्त, भिक्षुगण आपस में पाठ-चर्चा या ज्ञान-विनिमय भी किया करते थे। देशाटन तथा प्रकृति-निरीक्षण को भी मान्यता दी जाती थी।

बौद्ध विश्वविद्यालय.—बौद्ध शिक्षा में सबसे अधिक उल्लेखयोग्य बौद्ध विश्वविद्यालय : नालन्दा (बिहार), वल्लभी (गुजरात), जयेन्द्रविहार (काश्मीर), जलन्धर विहार (पंजाब), विक्रमशिला, ओदन्तपुरी तथा जगदल्ल (बंगाल), इत्यादि। यहाँ विश्व के
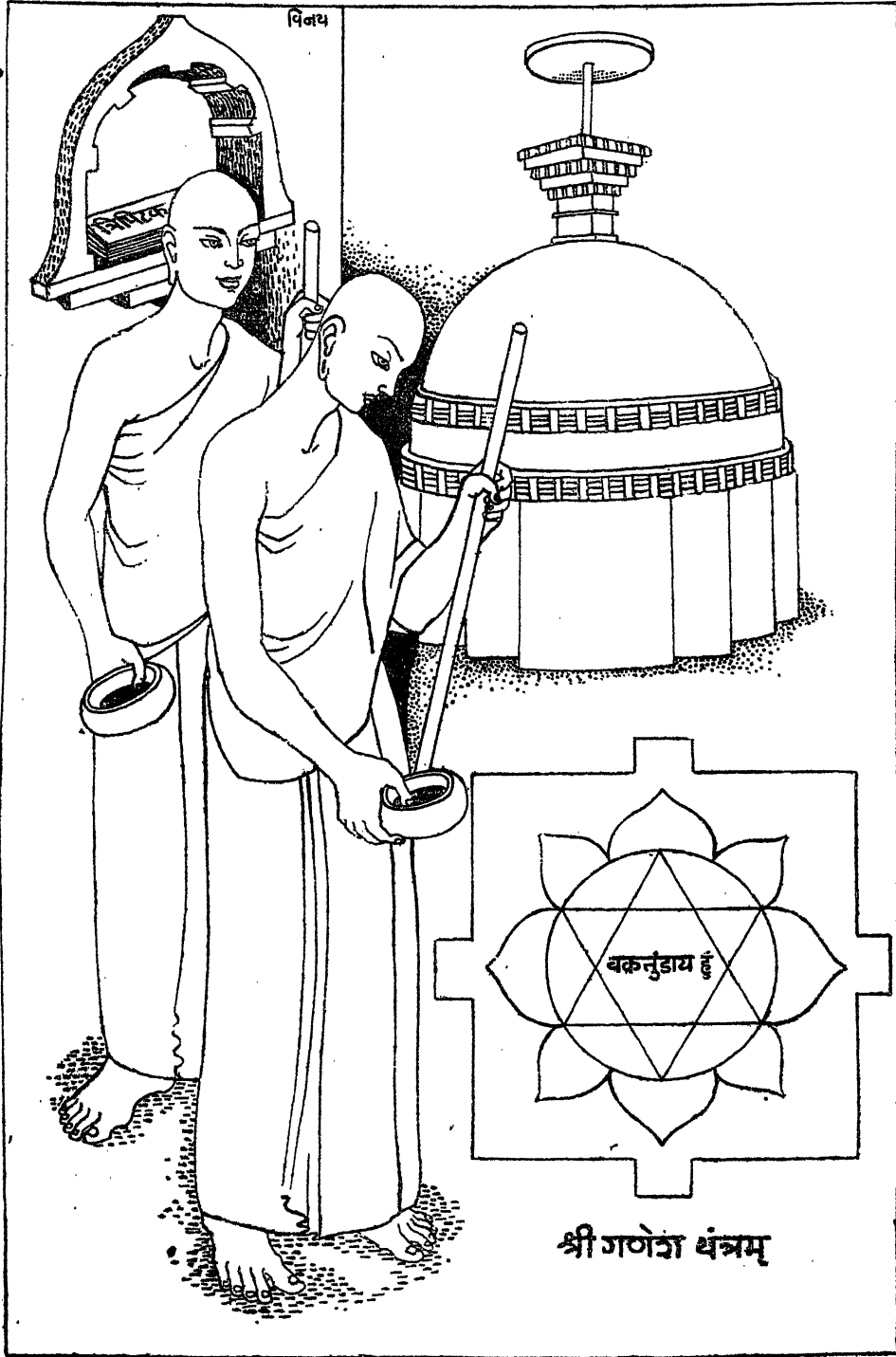
चित्र २–बौद्ध विश्वविद्यालय में भिक्षुगण

कोने-कोने से विद्यार्थीगण विद्याभ्यास के लिए आते थे और उन्हें यहाँ प्रविष्ट होने के लिए वर्षों ठहरना पड़ता था। प्रवेश पाने के लिए परीक्षा का विधान कठोर था। इन विद्यालयों के अन्तर्गत पुस्तकालय, छात्रावास तथा अतिथि-शाला के लिए अनेक सुन्दर भवन थे। विद्यालय के व्यय की समस्या राजा-महाराजाओं ने अनेक गाँव अक्षयनीवी (स्थिर पोषण) में देकर सुलझा दी थी। नालन्दा में प्राप्त यशोवर्मा के शिला-लेख में लिखा है :

> अपने शुभ्र ऊँचे चैत्यों के किरण-समूहों से नालन्दा नगरी बड़े-बड़े राजाओं की नगरियों की मानों हँसी उड़ाती है और इसके जिन ऊँचे प्रासादों एवं विहारों की पंक्तियों में प्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान वास करते हैं, वे उस सुमेरु पर्वत-सी शोभावाली लगती हैं, जिनमें विद्याधर वास करते हैं।

इन विश्वविद्यालयों का पाठ्य-क्रम सर्वाङ्गपूर्ण था तथा उसमें बौद्धीय या अबौद्धीय महायान तथा हीनयान विषयों का समावेश था। कुछ विषय तो अनिवार्य थे, और कुछ ऐच्छिक। प्रत्येक भिक्षु को महायान तथा अठारह सम्प्रदायों के ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता था। व्यायाम तथा दैनिक चंक्रमण अर्थात् टहलना भी सबके लिए अनिवार्य था। इनके अतिरिक्त दर्शन, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, तान्त्रिक दर्शन, वेद तथा वेदाङ्ग, आयुर्वेद तथा रसायन शास्त्र, व्याकरण, विधि (कानून), भाषा शास्त्र, इत्यादि भी पाठ्यक्रम में रखे गये थे। बौद्ध संस्थाएँ होते हुए भी, इन विश्वविद्यालयों में साम्प्रदायिकता की बू न थी।

अन्त.—मुसलमानों के आक्रमण के कारण भारत से बौद्ध धर्म का लोप हुआ। बहुत से भिक्षु तो तलवार के घाट उतार दिये गये, और अनेक भारत के बाहर भाग गये। यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है। सन् १२३० ई० में बख्तियार खिलजी विक्रमशिला विश्वविद्यालय पहुँचा। उसने उसे भूल से एक गढ़ समझ लिया, और उसके भिक्षुओं को सिपाही। कारण, विश्वविद्यालय के भवन के चारों ओर एक दीवार थी, और सब भिक्षुओं के शरीर पर पीत वस्त्र थे। बस, क्या था, भवन ध्वस्त कर दिया गया और सिरमुँड़े भिक्षुओं का कत्लेआम हुआ। कहा जाता है कि विश्व-विद्यालय का विशाल पुस्तकालय छः महीने निरन्तर जलता रहा।

मुस्लिम युग

भूमिका.—भारतवर्ष में मुसलमानों का आगमन प्रथम हिजरी शताब्दी के अन्त में अर्थात् आठवीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में हुआ था। पर वे इस देश में

महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद से बसने लगे। जहाँ जहाँ यवन सेनाएँ पहुँचीं, वहाँ वहाँ उलेमा तथा इस्लाम के धर्म-प्रचारक पहुँच गये। जहाँ वे बस गये, वहाँ इस्लामी धर्म-शास्त्रों की शिक्षा देने लगे।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी में, मङ्गोलों ने मध्य एशिया में लूट-मार मचा दी। इस कारण अनेक उलेमा वहाँ से भाग कर दिल्ली में आये। तथा उन्होंने बलबन के दरबार में शरण ली। ये विद्वान् बल्ख, बुखारा, समरकन्द, ख्वारीज़म से आये थे, जो मुस्लिम संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे। उस समय दिल्ली में इतने विद्वान् इकट्ठे हो गये थे कि बरनी के कथनानुसार वह बगदाद और करतब्बा से मुकाबला करती थी। इस प्रकार भारत में जो दिल्ली इस्लामी राज्य की राजधानी थी, वह मुस्लिम संस्कृति और शिक्षा का केन्द्र बन गयी।

भारत में यवन-आधिपत्य प्रायः साढ़े पाँच सौ वर्षों तक रहा, अर्थात् कुतुबुद्दीन ऐबक के राज्यारोहण से प्लासी के युद्ध तक (१२०६-१७५७ ई०)। इस दीर्घकालीन आधिपत्य के फल-स्वरूप भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता विशेष रूप से प्रभावित हुई। साहित्य तथा ललित कलाओं का विकास हुआ, भारतीय भाषाओं को नया रूप मिला तथा नवीन 'भक्ति-मार्ग' का जन्म हुआ। मुस्लिम शासन का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। प्रथमतः, एक नयी शिक्षा-प्रणाली की नींव इस देश में पड़ी। हम इसे मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली कह सकते हैं। यह उन भारतीयों के लिये निर्मित हुई थी, जिन्होंने इस्लाम धर्म की दीक्षा ली थी। द्वितीयतः, यवन सत्ता का प्रभाव पूर्ववर्ती शिक्षा-प्रणालियों पर पड़ा। इन दोनों विषयों की चर्चा अगले शीर्षकों में की जावेगी।

मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली.—भारत में मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली का वही स्वरूप था, जो अन्य इस्लामी देशों में प्रचलित था। प्राथमिक शिक्षा मकतबों में दी जाती थी। साधारणतः मकतब प्रत्येक मस्जिद के साथ जुड़े रहते थे। कहीं-कहीं मकतब मौलवियों के घर अथवा अन्य स्थानों में लगते थे। मकतबों का पाठ्य-क्रम कुरान पर ही केन्द्रीभूत होता था। कुरान के साथ-साथ बालकों को वुजू करना, नमाज़ पढ़ना, अज़ान के समय पढ़ी जानेवाली दुआएँ इत्यादि भी सिखायी जाती थीं। उन्हें मकतब में ही सामूहिक रूप से नमाज़ पढ़ने का अभ्यास कराया जाता था।

मकतब में कुरान "नाज़िरा" रीति से पढ़ाया जाता था। इसका अर्थ यह है कि अरबी वर्णमाला का ज्ञान होने के पश्चात् विद्यार्थी अर्थ-ग्रहण किये बिना ही कुरान का पाठ करते थे। सबसे पहले बालकों को तख्ती पर अक्षर लिखकर उनके नाम बता दिये

जाते थे। जब बालक वर्णमाला के सभी अक्षरों से परिचित हो जाते, तब उन्हें संयुक्ताक्षरों का ज्ञान कराया जाता था। अक्षर-ज्ञान का सम्यक् अभ्यास हो जाने के बाद कुरान का तीसवाँ पारा पढ़ाया जाता था, जिसमें छोटी-छोटी सूरतें हैं। कुरान को यथावत् पढ़ लेने के बाद, विद्यार्थियों को फ़ारसी का साधारण ज्ञान करा दिया जाता था। किसी-किसी मकतब में हदीस, कविता तथा नीतिशास्त्र भी पढ़ाया जाता था।

उच्च शिक्षा मदरसों में दी जाती थी। भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े शहरों में मदरसे थे। इनकी स्थापना बादशाहों, नवाबों तथा धनी अमीरों ने की थी। बड़े-बड़े मदरसों के साथ पुस्तकालय संलग्न रहते थे। कई एक संस्थान तो खासे सावास विश्व-विद्यालय थे, जहाँ कि छात्रगण दूर-दूर से विद्याध्ययन के लिए आते थे। मदरसों का शिक्षा-काल १० से १२ वर्ष का रहता था। शिक्षा का माध्यम अरबी थी। वर्तमान विद्यालयों के समान मदरसों में कक्षा-प्रणाली नहीं होती थी। कक्षाओं का विभाजन पाठ्यपुस्तकों के अनुसार होता था। पाठ्यपुस्तकें तीन प्रकार की होती थीं। पहली संक्षिप्त पाठ्य पुस्तकें "मुखतसरात" (ए० व० मुखतसर) कहलाती थीं। दूसरी पाठ्य पुस्तकें मध्यम विस्तार वाली होती थीं। उन्हें "मुतवस्सतात" (ए० व० मुतवस्सत–मध्यम) कहते थे। तीसरी पाठ्यपुस्तकें "मुतव्वलात" (ए० व० मुतव्वल) नामक विस्तृत होती थीं। इस प्रकार सारा पाठ्यक्रम संकेन्द्रीय होता था।

पाठ्य-क्रम दो प्रकार के थे : (१) धार्मिक—इस्लामी धर्मग्रन्थ, इस्लामी इतिहास तथा कानून, और (२) सांसारिक—अरबी, फारसी, व्याकरण, साहित्य, गणित, विज्ञान, भूगोल, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, यूनानी चिकित्सा, कृषि, कानून, हिसाब, इत्यादि। यह आवश्यक न था कि प्रत्येक मदरसा सब विषय पढ़ावे। कुछ मदरसे किसी विशेष विषय या विषयों के लिए प्रसिद्ध थे। इनमें से कुछ केन्द्रों की ख्याति देश भर में थी, जैसे: लाहोर और सियालकोट (गणित तथा ज्योतिष), रामपूर (तर्क एवं ज्योतिष), दिल्ली (कविता और संगीत) तथा लखनऊ (शिया-शिक्षा)। किसी-किसी मदरसे में हिन्दू विद्यार्थियों के लिए विशेष प्रबन्ध रहता था, जहाँ कुरान के बदले वेदान्त तथा पातञ्जलि के योग-भाष्य का अध्ययन कराया जाता था। कई एक मदरसे तो केवल उत्तर-स्नातक शिक्षा ही देते थे। उदाहरण के लिए बादशाह अकबर की धाय माँ—माहम अंगा द्वारा स्थापित मदरसा (१५६१ ई०) है। इस संस्था में केवल संगीत, चित्रकला, दर्शन तथा गणित की शिक्षा उत्तर-स्नातक स्तर पर दी जाती थी।

पूर्ववर्ती शिक्षा-प्रणालियों का नया रूप।—मुस्लिम शासन काल का प्रभाव बौद्ध तथा वैदिक शिक्षा-प्रणालियों पर भी पड़ा। चूँकि बौद्ध शिक्षा संस्था केन्द्रित

थी, इस कारण शिक्षा-केन्द्रों के सत्यानाश के साथ-साथ इस देश से बौद्ध शिक्षा-प्रणाली का भी लोप हो गया। इसके विपरीत वैदिक शिक्षा इस कारण अमिट रही कि यह शिक्षा गुरु-केन्द्रित थी। इसके विद्यालय छोटे-मोटे थे, जिनकी छात्रसंख्या ३०-४० से अधिक न थी और वे समूचे देश में फैले हुए थे। ये दो प्रकार के थे: (१) संस्कृत विद्यालय — इन्हें बङ्गाल में 'टोल' तथा पश्चिम भारत में 'पाठशाला' कहते थे। इनकी पढ़ाई बहुत ही ऊँचे दर्जे की थी इन विद्यालयों में पाँच विषयोंका अध्यापन होता था — तर्क, कानून, साहित्य, ज्योतिष तथा व्याकरण। प्रत्येक विद्यालय अपना एक ही विषय पढ़ाता था। (२) प्रायमरी स्कूल — जो गाँव-गाँव में फैले हुए थे। ये दोनों प्रकार के विद्यालय उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मौजूद थे। भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह प्रणाली 'देशी शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध है। †

शिक्षा और राज्य.—वैदिक तथा बौद्ध युग में, शिक्षा का राज्य से कोई सम्बन्ध न था, तथापि हिन्दू नृपतिगण शिक्षा-केन्द्रों तथा विद्वानों को यथेष्ट दान देते थे। मुसलमान-सुल्तानों तथा बादशाहों ने अनेक मकतब, मदरसे तथा पुस्तकालय खुलवाये, तथा उलेमा और मोअल्लिमों को सरकारी खजाने से वजीफे दिये। पर पठानों के काल में शिक्षा की कोई विशेष व्यवस्था न थी। वस्तुतः शिक्षा शासक की रुचि पर निर्भर रहती थी। इल्तुतमिश, रज़िया, बलबन तथा फ़ीरोजशाह शिक्षा में अभिरुचि रखते थे। पर अलाउद्दीन, इब्राहीम लोदी आदि बादशाहों का विद्या से कोई प्रेम न था। आश्चर्य नहीं कि इसी कारण बाबर ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि 'भारतीय शिक्षा गिरती हुई अवस्था में है।'

मुगलवंश के सभी बादशाह विद्या-प्रेमी थे। बादशाह अकबर ने मुस्लिम शिक्षा को एक नयी दिशा देने की कोशिश की। सरकारी नौकरी के लिए राजभाषा फारसी के ज्ञान की ज़रूरत थी, पर अनेक हिन्दू मकतब तथा मदरसे में अध्ययन करने में हिचकते थे। अकबर ने पाठ्य-क्रम में सुधार किया तथा मकतबों और मदरसों में हिन्दुओं के पढ़ने-लिखने की उचित व्यवस्था की, ताकि पढ़ने की हिचकिचाहट दूर हो और उन्हें अपनी संस्कृति का ज्ञान मिले।

इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों में एकता का सूत्रपात हुआ। इसी समय एक नवीन भाषा – उर्दू – की सृष्टि हुई। हिन्दू तथा मुस्लिम ग्रन्थों के अनुवाद होने से नवीन विचारों के स्रोतों का उद्गम हुआ, तथा सूफी मत का उदय हुआ। इस प्रकार शनैः शनैः भारतीय तथा यावनी संस्कृतियों एवं प्रणालियों का समन्वय हो चला।

† देखिए **चौथा अध्याय**।

बृटिश युग

भूमिका.—इस युग के इतिहास को हम निश्चित कालों में बाँट सकते हैं : (१) प्रथम काल (सन् १७५७–१८१३ ई०)–इस अवधि में ईस्ट इंडिया कम्पनी शिक्षा के प्रति उदासीन रही। उसने तटस्थता की नीति अपनायी। (२) द्वितीय काल (सन् १८१३–१८५७ ई०)–इस समय कम्पनी शिक्षा-समस्या पर विचार करती रही। उसने प्रयोगात्मक रीति अपनायी। (३) तृतीय काल (सन् १८५७–१९१९ ई०)–इस अवधि में केन्द्रीय सरकार पूरे देश की शिक्षा-नीति निर्धारित करती रही। (४) चतुर्थ काल (सन् १९१९–१९४७ ई०)–इस काल में प्रादेशिक स्वशासन शुरु हुआ। कारण, शिक्षा की पूरी जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकार के हाथ में आ गयी।

प्रथम काल (तटस्थ नीति).—प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों के गले में विजय-माला पहना दी, जिससे वे धीरे धीरे इस देश के मालिक बन बैठे। देश-विजय करने पर भी गौरांग प्रभुओं ने आरम्भ में विद्या के लिए कुछ न किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास न पैसा था और न अवकाश। भारत में अपना पाया मजबूती से जमाने के लिए उसे दिन-रात युद्ध करना पड़ा। इस अवधि में कम्पनी ने शिक्षा के प्रति तटस्थ नीति अपनायी, और वह शिक्षा के प्रति उदासीन रही। कम्पनी के डाइरेक्टरों का कहना था कि शिक्षा-विस्तार के लिए शासक की कोई जिम्मेदारी नहीं है। उसे किसी देश की प्रचलित शिक्षा विधि में कोई हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिए। इस नीति के लिए हम उन डाइरेक्टरों को दोषी भी नहीं ठहरा सकते हैं, क्योंकि उनके देश की यही राजनीति थी।

जिस समय गौराङ्ग महाप्रभुओं ने इस देश पर अपना अधिकार जमाया, उस समय हमारी देशी शिक्षा-पद्धति बहुत कुछ अस्तित्व में थी। यह अवश्य है कि अठारवीं सदी में सम्पूर्ण भारत में गड़बड़ी रहने के कारण देशी शिक्षा-पद्धति को गहरा धक्का पहुँचा था। इस शिक्षा की जाँच भारत के विभिन्न प्रदेशों में सन् १८२० से सन् १८३८ के बीच हुई थी।† तहकीकातों से पता चला कि भारत के गाँव-गाँव में प्राथमिक स्कूल तथा मस्जिदों से संलग्न मकतब अवस्थित थे। उच्च शिक्षा के लिए बड़े-बड़े नगरों में 'टोल' या 'पाठशालाएँ' (हिंदुओं के लिए) और मदरसे (मुसलमानों के लिए) मौजूद थे।

यद्यपि कम्पनी शिक्षा के प्रति उदासीन रही, तथापि उसे अपने व्यावसायिक केन्द्रों के कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए कई स्कूल खोलने ही पड़े। कम्पनी के

† देखिए **चौथा अध्याय**।

कई अफ़सरों ने शिक्षा के प्रति दिलचस्पी दिखलायी, और उन्होंने अपने व्यय से दो-एक विद्यालय स्थापित भी किये, जिन्हें बाद में कम्पनी ने अपने हाथ में ले लिया। पहली संस्था 'कलकत्ता मदरसा' सन् १७८१ में स्थापित हुई थी। उसके स्थापक भारत के सर्व प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज थे। इस संस्था को खोलने का मुख्य उद्देश्य कम्पनी की नौकरी के लिए मुसलमान नवयुवकों को उचित शिक्षा देना था। दूसरा विद्यालय था बनारस संस्कृत कालेज (सन् १७९१ ई०)। इसके प्रतिष्ठाता थे बनारस के तत्कालीन रेसीडेन्ट जनाथान डन्कन। यह संस्था हिन्दुओं के लिए खोली गयी थी। कम्पनी के राज्य का विस्तार हो रहा था, पर अंग्रेज अफ़सर इस देश के कानून कायदों से नितान्त अपरिचित थे। उनकी सहायता के लिए, भारतीय नायबों की विशेष आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य से ऐसे विद्यालय खोले गये।

यद्यपि कम्पनी स्वतः चुप रही, तथापि उसने भारत में ईसाई मण्डलों तथा धर्म-प्रचारकों को स्कूल तथा कालेज खोलने दिये। यद्यपि उन शिक्षा-संस्था संचालकों का उद्देश ईसाई धर्म का प्रचार ही प्रधान था, तो भी उन लोगों ने शिक्षा के लिए बहुत कुछ किया और शिक्षा-पद्धति में एक जान फूँक दी। उन्होंने इस देश में छापेखाने भी खोले, जिससे छपी हुई पुस्तकों का प्रचार बढ़ा।

अन्ततः कम्पनी तटस्थता की नीति अधिक समय तक स्थिर न रख सकी। इंग्लैंड में पार्लियामेण्ट के कई सदस्य प्रयत्न कर रहे थे कि कम्पनी भारत में शिक्षा-विस्तार के लिए कुछ-न-कुछ करे। उन्हींके प्रयत्नों के फल-स्वरूप सन् १८१३ ई० के नवीन आज्ञा-पत्र में एक धारा बढ़ा दी गयी थी कि "ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों का यह भी कर्तव्य होगा कि वे भारत में कम-से-कम एक लाख रुपये प्रति वर्ष शिक्षा पर व्यय करें।" पाठक समझ सकते हैं कि भारत जैसे विशाल देश के लिए शिक्षार्थ व्यय की यह अल्प राशि 'ऊँट के मुँह में जीरा' की भाँति थी। कुछ भी हो, संख्या की दृष्टि से भले ही यह राशि महत्व-हीन थी, तथापि इस कार्यवाही का मूल्यांकन कहीं और ही है। सन् १८१३ ई० के आदेश ने बृटिश पार्लियामेण्ट को यह मानने के लिए बाध्य किया कि "शिक्षा का सरकारी राजस्व पर अधिकार है"। यह बात कम्पनी अभी तक स्वीकार नहीं करना चाहती थी, किन्तु उसे इस आदेश से हार माननी पड़ी और उसे झुकना ही पड़ा।

द्वितीय काल (प्रयोगात्मक रीति).—इस अरसे में कम्पनी ने प्रयोगात्मक रीति अपनायी। पैसे की कमी के कारण वह यह स्थिर न कर सकी कि शिक्षा के लिए क्या किया जावे। उसके सामने ये समस्याएँ थीं: (१) आम जनता में प्राथमिक शिक्षा

फैलायी जावे **या** उच्च शिक्षा का प्रचार उच्च श्रेणी में किया जावे। (२) प्राच्य **या** पाश्चात्य विद्या का प्रचार किया जावे। (३) शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी होवे **या** संस्कृत और फारसी। (४) शिक्षा का प्रचार देशी विद्यालयों **या** नये स्कूलों और कालेजों द्वारा किया जावे।

इन समस्याओं के रहते हुए भी सन् १८१३ ई० के आदेशान्तर्गत धारा को क्रियान्वित करने के लिए कम्पनी दस वर्ष मौन रही। उसे इस समय इस दिशा में सक्रियता दिखाने के लिए अवकाश भी तो नहीं था। सन् १८१३ से १८२३ ई० तक कम्पनी को गुरखों, पिण्डारियों तथा मराठों का सामना करना पड़ा। लड़ाई से फुरसत मिलने पर कम्पनी ने सन् १८२३ में शिक्षा के लिए प्रधान शिक्षा-समिति (जनरल कमिटी ऑफ् पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) मुकर्रर की। इस समिति को इस देश के अनुकूल शिक्षा-प्रबंध निर्धारित करने का कार्य सौंपा गया, और खर्च के लिए तथाकथित आदेशानुसार एक लाख रुपया वार्षिक दिया जाने लगा।

प्रधान समिति में दस सदस्य थे। शुरू-शुरू में सब-के-सब अंग्रेज थे, जो प्राच्यवादी थे। इस कारण पहिले पहल इस समिति ने प्राच्य विद्या फैलाने का प्रयत्न किया, लेकिन धीरे-धीरे पाँसा पलट गया। शिक्षा-समिति के कुछ सदस्य बदल गये। सन् १८३१ ई० में इसके आधे मेम्बर प्राच्यवादी थे और आधे आंग्लवादी। दोनों दलों में झगड़ा खड़ा हुआ। मतभेद इतना बढ़ा कि कुछ भी कामकाज होना कठिन हो गया। दोनों दलों ने स्वीकार किया कि अर्थाभाव के कारण जन-शिक्षा की ओर ध्यान देना असम्भव है। इसलिए दोनों दल सहमत हुए कि इस थोड़ीसी रक़म के द्वारा पहले उन्नत समाज में उच्च शिक्षा का प्रचार किया जावे। उन्होंने सोचा कि ये लोग धीरे-धीरे अपनी मातृभाषा में उपयोगी पुस्तकें लिखेंगे और जनता में शिक्षा का प्रचार करेंगे। इस प्रकार शिक्षा छनते हुए विशिष्ट समाज से आरम्भ होकर जनता की ओर फैलेगी। यह सिद्धान्त भारतीय शिक्षा के इतिहास में शिक्षा छनने के सिद्धान्त (फिल्ट्रेशन थ्योरी) के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में दोनों दलों में यह विवाद खड़ा हुआ कि यह उच्च शिक्षा किस देश की विद्या हो (भारत या युरोप की), तथा शिक्षा का माध्यम क्या हो—अंग्रेजी या संस्कृत और फारसी? प्राच्यवादियों का मत था कि यह विद्या इस देश की हो तथा शिक्षा का माध्यम इस देश की सांस्कृतिक भाषा हो; पर आंग्लवादियों का कथन था कि प्राच्यविद्या सड़ गयी है, अतएव इस देश में पाश्चात्य विद्या का प्रचार अँग्रेजी के द्वारा किया जाय।

इस विवाद ने उग्र रूप धारण किया, और सन् १८३४ ई० में दोनों दलों ने सरकार के सम्मुख अपना अपना अभिमत व्यक्त करते हुए वक्तव्य भेजे। इसी साल प्रसिद्ध अँग्रेजी विद्वान् लार्ड मैकाले गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्य होकर यहाँ आये। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिंक ने उन्हें शिक्षा समिति का प्रधान नियुक्त किया और उन्हें अधिकार दिया कि आप इस विषय की जाँच करके अपना मत व्यक्त करें। फलतः २ फ़रवरी, सन् १८३५ को एक लेख-पत्र द्वारा मैकाले ने अपना मत दिया।

इस लेख-पत्र-द्वारा मैकाले ने यह प्रतिपादित किया था कि सरकार बिना रोक टोक चाहे जिस प्रकार शिक्षा की रक़म खर्च कर सकती है, पर हमें इस पैसे का सबसे अच्छा उपयोग करना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि यह सब कैसे हो सकता है? इस छोटी-सी रक़म के द्वारा जन-शिक्षा असम्भव है; इसलिए हमें कुछ इने-गिने मनुष्यों में उच्च विद्या का प्रचार करना पड़ेगा, जो भारतीय लोक-भाषा, संस्कृत या फारसी से संभव नहीं है। कारण, इन भाषाओं में कोई दम नहीं है और न इनका साहित्य-भण्डार युरोपीय चुनी हुई पुस्तकों की एक आलमारी के मुकाबिले ठहर ही सकता है। इस कारण हमें पाश्चात्य विद्या का प्रचार अँग्रेजी भाषा द्वारा करना पड़ेगा। यह भाषा सारे संसार में प्रचलित है, इसके ज्ञान का ख़ज़ाना असीम है और भारतवासी इसे सीखने के लिए उत्सुक हैं। मैकाले ने पुनः घोषित किया कि "हमें निर्माण करना है इस देश में ऐसे वर्ग का, जो रङ्ग और रक्त में भले ही भारतीय हो, परन्तु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार तथा बुद्धि में पूरे अँग्रेज रहे।" †

यह प्रसिद्ध लेख-पत्र बेंटिंक के सामने पेश किया गया। वे तो इसी की ताक में बैठे थे। उनकी इच्छा इस देश में अँग्रेजी भाषा के प्रचार की थी ही, क्योंकि राज-कार्य के लिए उन्हें अल्प-वेतनभोगी अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय नौकरों की ज़रूरत थी। बस, मैकाले के लेख-पत्र के मिलते ही, उन्होंने झट उस पर लिख दिया, "मैं सम्पूर्ण रूप से सहमत हूँ।"

७ मार्च, सन् १८३५ ई० को एक सरकारी सूचना निकली, जिसका सार अर्थ यह था कि भारत में पाश्चात्य विद्या का प्रचार अँग्रेजी भाषा-द्वारा किया जावे। प्रधान शिक्षा-समिति को हुक्म दिया गया, "प्राच्य शिक्षा के लिए जो कुछ किया जा चुका है, वह जैसे-का-तैसा बना रहेगा; परन्तु भविष्य में सम्पूर्ण अनुदान अंग्रेजी माध्यम द्वारा दी जानेवाली अँग्रेजी शिक्षा पर ही व्यय किया जायगा।"

---

† Macaulay's Minute, *Sharp's Selections*, p. 116.

इस ऐलान का असर आज भी हमारी शिक्षा पर है। अंग्रेजी शिक्षा फैली, और खूब फैली। पर शिक्षा उच्च श्रेणी में ही सीमित रही, जनता में न फैली। फल-स्वरूप आज ८० प्रति शत भारतवासी अपढ़ हैं। हम अपनी पुरानी संस्कृति और सांस्कृतिक भाषाएँ भूल बैठे। हम अंग्रेजी के रङ्ग में रँग गये। हमें पाश्चात्य कला और विज्ञान का लाभ अवश्य मिला और यहाँ पाश्चात्य ढङ्ग के स्कूल तथा कालेज भी खोले गये, पर पर्याप्त रूप में नहीं। हमारे देश की परम्परागत शिक्षा-पद्धति नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। हमारे देशी स्कूल, टोल, पाठशालाएँ, मकतब तथा मदरसे कुचल दिये गये। माना कि वे पुराने ढाँचे में ढले हुए थे, तथापि उनमें संशोधन या सुधार किया जा सकता था।

आज मैकाले साहब के लेख-पत्र की नुकताचीनी करने से कोई विशेष लाभ नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी एक ऐसा युग था, जिसके लिए हम मैकाले साहब को विशेष दोषी नहीं ठहरा सकते। अठारहवीं शताब्दी की व्यावसायिक क्रान्ति और साम्राज्यवृद्धि ने प्रत्येक अंग्रेज का सिर फेर दिया था। वह यही सोचता था कि न अंग्रेजी भाषा के समान कोई दूसरी भाषा है और न किसी राष्ट्र की उन्नति अंग्रेजी के बिना हो ही सकती है। मैकाले इस युग का एक चिनगारी मात्र था। पर हमें यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य ज्ञान से हमें बहुत कुछ लाभ मिला है। आधुनिक काल में, ज्ञान का विकास सांस्कृतिक भाषाओं-द्वारा असम्भव है।

सन् १८३५ ई० के बाद दूसरी मञ्जिल आती है सन् १८५४ ई० में। इस वर्ष कम्पनी के बोर्ड ऑफ् कंट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने भारतीय शिक्षा पर एक सरकारी पत्र प्रकाशित किया था। इसका नाम 'वुड का घोषणापत्र' (वुड्स डिसपैच) पड़ गया है। प्रथमतः इस चिट्ठे ने शिक्षा के ये सिद्धान्त इस देश के लिए घोषित किये :

> यह सत्य है कि भारत की जनता अपनी सांस्कृतिक भाषाओं के बिना काम नहीं चला सकती है, तिस पर भी इस देश में शिक्षाप्रसार के विषय युरोप के समुन्नत कला-कौशल, विज्ञान, दर्शन तथा साहित्य—संक्षेप में युरोपीय ज्ञान—हों।†

इस घोषणा ने जन-शिक्षा पर विशेष जोर दिया। शिक्षा के माध्यम पर, इस दस्तावेज़ ने गौर किया, "भारत की शिक्षा-प्रणाली में अंग्रेजी और मातृ-भाषा—दोनों का विशेष स्थान है; अंग्रेजी, उच्च शिक्षा के लिए और मातृभाषा, जन-शिक्षा के लिए।" ‡

---

† *Wood's Despatch*, para 7

‡ *Ibid., para 14*

इस घोषणा-पत्र के फल-स्वरूप प्रत्येक प्रदेश में शिक्षा-विभाग संगठित हुए। लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए, राजकीय प्रशासन-विभाग तथा प्रशिक्षण विद्यालय खोले गये, प्राथमिक एवं स्त्रीशिक्षा पर जोर दिया गया तथा जनता-द्वारा चलाये हुए विद्यालयों की सहायता के लिए आर्थिक अनुदान-पद्धति (ग्राण्ट-इन-एड सिस्टम) का प्रावधान प्रारम्भ किया गया। इस प्रकार वर्तमान शिक्षाप्रणाली को इस आज्ञा-पत्र ने ही संघटित किया। इसी कारण यह दस्तावेज़ भारतीय शिक्षा का महा विधान (मैग्ना-कार्टा) गिना जाता है।

तृतीय काल (केन्द्रीय निर्धारित नीति).—सन् १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य-युद्ध के फल-स्वरूप, भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकलकर अंग्रेज नरेशों के हाथ में आ गयी। इस दीर्घ काल में, अर्थात् सन् १९१९ तक, भारत सरकार सम्पूर्ण देश की शिक्षा-नीति नियन्त्रित करती रही। केन्द्रीय सरकार ने तीन महत्व-पूर्ण आयोग या कमीशन (हंटर, १९०२ की विश्वविद्यालय समिति तथा सैडलर) नियुक्त किये। दो शिक्षा-नीति (१९०४ और १९१३) घोषित की, प्रान्तीय सरकारों को अनेक प्रसिद्धि-पत्र भेजे, तथा शिक्षा-सम्बन्धी कई सम्मेलन बुलवाये। इन सबका ज़िक्र अगले अध्यायों में यथा स्थान किया जावेगा। इस प्रकार भारत सरकार देश की शिक्षा-नीति संचालित करती रही।

इस समय का विशेष उल्लेखयोग्य विषय है राष्ट्रीय जागृति। इसी काल में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और बंग-भंग का आन्दोलन खड़ा हुआ। इन सब घटनाओं की आँच शिक्षा पर भी लगी। लार्ड कर्जन की विश्वविद्यालय नीति का तीव्र प्रतिवाद हुआ, बँग-भँग आन्दोलन ने विद्यार्थियों को राजनैतिक क्षेत्र में खींचा तथा प्राविधिक शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ।

श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य करने की चेष्टा की। इस प्रयत्न में वे असफल हुए, किन्तु उनकी चेष्टा व्यर्थ न हुई। देश में स्वाधीनता का आन्दोलन बढ़ा और इसीके फल-स्वरूप भारत सरकार का सन् १९१९ का नियम निकला।

चतुर्थ काल (प्रान्तीय स्वशासन).—प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के समय, अगस्त १९१७ ई० में, इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में तत्कालीन भारत-सचिव माण्टेग्यू ने घोषणा की, "शासन के हर एक क्षेत्र में भारतवासियों का सहयोग उत्तरोत्तर बढ़ाया जाय।" इस घोषणा के पश्चात् माण्टेग्यू साहब इस देश में आये। उन्होंने और तत्कालीन वाइसराय चेम्सफोर्ड ने मिलकर भारत में लागू करने के लिए राजनीतिक सुधारों की एक योजना तैयार की। इस योजना के आधार पर सन् १९१९ में इंग्लैण्ड

की सरकार ने 'गवर्नमेण्ट ऑफ् इंडिया एक्ट' के द्वारा भारतवासियों को माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार प्रदान किये। इस कानून की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है शिक्षाक्षेत्र में प्रान्तीय स्वशासन। इस कायदे के अनुसार शिक्षा की जिम्मेवारी भारत सरकार के हाथ से निकल कर प्रांतीय सरकारों के उत्तरदायित्व में आ गयी। प्रत्येक प्रांतीय सरकार को अधिकार दिया गया कि अपने प्रान्त की शिक्षा-नीति का नियन्त्रण वही करे। इस विषय में केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों पर कोई दबाव नहीं डाल सकती।

प्रान्तीय स्वशासन का एक और भी विशेष रूप है। सन् १९१९ के कायदे के अनुसार शिक्षा का सम्पूर्ण प्रबन्ध एक निर्वाचित भारतीय मन्त्री के हाथ सौंप दिया गया। इस प्रकार प्रान्तीय विधान-सभा शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने लगी और जनता शिक्षा की उन्नति के कार्य में काफ़ी दिलचस्पी लेने लगी। प्राथमिक शिक्षा लाजमी (अनिवार्य) करने के लिए कानून निकले, स्त्री-शिक्षा की उन्नति हुई तथा प्रौढ़ शिक्षा का श्रीगणेश हुआ।

यह सब कुछ होते हुए, शिक्षा की सन्तोषप्रद प्रगति न हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण संसार में आर्थिक मन्दी आयी, और फिर आरम्भ हुआ द्वितीय विश्व-युद्ध। इसके साथ-साथ देश में स्वाधीनता का आन्दोलन जारी रहा। यह सत्य है कि शिक्षा का विस्तार भारत में ठीक-ठीक न हुआ, पर शिक्षा-क्षेत्र में नयी धाराएँ अवश्य ही बह निकलीं; यथा : बुनियादी शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, मातृभाषा पर जोर, पाठ्य-क्रम का विस्तार, प्राविधिक शिक्षा पर ध्यान, आदि। इस प्रकार अन्त में १५ अगस्त, १९४७ के दिन हमारा देश पराधीनता की शृंखला से मुक्त हुआ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल

स्वाधीन होने पर हमारे देश के सामने सब से बड़ा सवाल था, पूर्व स्वाधीन-युगीन शिक्षा की कमियों को हटाना। ८० प्रति शत भारतवासी अपढ़ थे, ६—११ वयोवर्ग के केवल ३० फी सदी बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएँ थीं, और इनसे बहुत ही कम प्रतिशत था माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के लिए। वैज्ञानिक और प्राविधिक शिक्षा पिछड़ी हुई थी, तथा शोध का तो श्रीगणेश ही हुआ था। इन कमजोरियों को दूर करने के सिवा हमारे सामने प्रश्न था—देश की संस्कृति का पुनरुद्धार करना और पूर्व तथा पश्चिम के पड़ोसी देशों के साथ भाई-चारे का भाव बढ़ाना।

इन बहुमुखी समस्याओं का सामना करना कुछ कम साहस का काम नहीं था, तो भी स्वाधीन भारत इन सबके लिए कटिबद्ध हुआ। विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए दो स्वतन्त्र आयोग नियुक्त हुए, और अन्य सभी महत्व-पूर्ण विषयों के

लिए समितियाँ गठित हुईं, जैसे : प्राविमिक शिक्षा, समाज शिक्षा, उच्च ग्राम-शिक्षा, भाषा, इत्यादि । इन आयोगों एवं समितियों के अभिस्तावों के अनुसार बहुत कुछ काम भी हुआ ।

पंचवर्षीय योजनाओं की क्रियान्विति स्वाधीन भारत का सर्वाधिक उल्लेखनीय कदम है । इनका प्रधान उद्देश्य देश में विकास कार्य आरम्भ करना है, जिससे लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाया जा सके और उन्हें उन्नत जीवन बिताने के लिए नये अवसर प्रदान किये जा सकें । इन योजनाओं में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है । शिक्षा के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१–५६ ई०) में १६९ करोड़ रुपये खर्च हुए, और द्वितीय योजना (१९५६–६१ ई०) में ३०७ करोड़ रुपये निर्धारित हैं । दोनों योजनाओं के विभिन्न अङ्गों पर होनेवाले व्यय का आवण्टन नीचे दिया गया है :

तालिका १

प्रथम तथा द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाओं में शिक्षा-व्यय का आवण्टन (करोड़ रुपये)

विषय	प्रथम योजना	द्वितीय योजना
प्राथमिक शिक्षा	९३	८९
माध्यमिक शिक्षा	२२	५१
विश्वविद्यालयीय शिक्षा	१५	५७
प्राविधिक शिक्षा	२३	४८
समाज शिक्षा	५	५
प्रशासन तथा विविध	११	५७
योग......	१६९	३०७

सन् १९५५ ई० में द्वितीय योजना की प्राथमिक रूपरेखा की आलोचना के समय, शिक्षा के निमित्त १०८ अरब रुपयों की माँग थी । संशोधित रक़म घटते-घटते ३०७ करोड़ रुपये निर्धारित हुई । इस व्यय में से ९५ करोड़ रुपये केन्द्र तथा २१२ करोड़ रुपये राज्य वहन करेंगे । अगले पन्ने की तालिका में प्रथम योजना की सफलताएँ तथा द्वितीय योजना के लक्ष्य दिखाये गये हैं ।

तालिका २ †

प्रथम योजना की सफलताएँ तथा द्वितीय योजना के लक्ष्य

कार्य	१९५५–५६	१९६०–६१
६–११ वयोवर्ग के शिक्षा पाने वाले बच्चों की उस वयोवर्ग की कुल आबादी की प्रतिशती	५१·०	६२·७
११–१४ वयोवर्ग के शिक्षा पाने वाले बच्चों की उस वयोवर्ग की कुल आबादी की प्रतिशती	१८·२	२२·५
१४–१७ वयोवर्ग के शिक्षा पाने वाले बच्चों की उस वयोवर्ग की कुल आबादी की प्रतिशती	८·४	११·७
प्रारम्भिक तथा अवर बुनियादी स्कूलों की संख्या...	२,७८,७६८	३,२६,८००
अवर बुनियादी स्कूलों की संख्या	४२,९४१	६४,९१०
मिडिल तथा प्रवर बुनियादी स्कूलों की संख्या...	२१,७३०	२२,७२५
प्रवर बुनियादी स्कूलों की संख्या	४,८४२	४,५७१
हाई तथा उच्च हाईस्कूलों की संख्या ...	१०,७३८	१२,१२५
हाईस्कूल से परिवर्तित उच्च हाईस्कूलों की संख्या...	४७	१,१९७
बहूद्देशीय स्कूलों की संख्या	३६७	१,१८७
विश्वविद्यालयों की संख्या	३२	३८
इंजीनियरिंग डिग्री-संस्थानों की संख्या ...	४७	५४
,, डिप्लोमा ,, ,, ...	८८	१०४
,, डिग्रीप्राप्त छात्रों की संख्या ...	३,३९५	५,४८०
,, डिप्लोमाप्राप्त ,, ,, ...	३,८११	८,०००
टैकनोलोजी डिग्री संस्थानों की संख्या	२५	२८
,, डिप्लोमा ,, ,, ...	३६	३७
,, डिग्री प्राप्त छात्रों की संख्या	७००	८००
,, डिप्लोमा प्राप्त ,, ,, ...	४३०	५८०

तृतीय पञ्चवर्षीय योजना (१९६१–६६) की प्राथमिक रूप-रेखा की आलोचना हो रही है। इस मसौदे का मुख्य उद्देश्य यह है कि तृतीय पञ्चवर्षीय योजना के

† *India*, 1959, p. 112.

अन्त तक ६ वर्ष से ११ वर्ष तक की आयु के सभी बच्चे अनिवार्य शिक्षा-योजना के अन्तर्गत आ जावें तथा लड़कियों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जावे। इस रूप-रेखा में यह भी सिफ़ारिश की गयी है कि कम-से-कम ५० प्रति शत वर्तमान हाईस्कूलों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में बदलने की व्यवस्था की जाय तथा राज्य-सरकारों द्वारा वयस्क स्कूलों की स्थापना का अलग कार्यक्रम शामिल किया जाय।

भारत को स्वाधीन हुए बारह वर्ष हुए। इस अरसे में शिक्षा काफी बढ़ी। आज (१९५७) हमारे देश में २,८७,३१८ प्राथमिक शालाएँ, ३५,८३८ माध्यमिक स्कूल, ७७१ आर्ट्स तथा साइन्स कालेज, ४०४ व्यवसाय-सम्बन्धी कालेज तथा ३,२८३ व्यावसायिक स्कूल हैं।† सन् १९४८ के वर्ष में इन संस्थाओं की संख्या क्रमशः १,४०,७९४ (प्राथमिक), १२,८९९ (माध्यमिक), २९५ (आर्ट्स तथा साइन्स कालेज), १३१ (व्यावसायिक कालेज) और १,३९१ (व्यावसायिक स्कूल) थी।‡ इसी अरसे में छात्र-संख्या भी प्रायः तिगुनी हो गयी।

यह शिक्षा-विस्तार कुछ कम नहीं है, पर यदि हम सब कन्धे से कन्धा लगाकर काम करते तो संभवतः प्रगति और भी अधिक होती। हाल ही में चीन देश से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका नाम है 'China's Big Leap Forward'। इससे पता चलता है कि चीन में ८ वर्ष के अरसे में शिक्षा-संस्थाओं की छात्र-संख्या कितनी बढ़ी। प्राथमिक शालाएँ २,४०,००० से ६,४०,०००, माध्यमिक शालाएँ १० लाख से ६० लाख, व्यवसाय-सम्बन्धी स्कूल साढ़े तीन लाख से ७,८०,००० तथा विश्वविद्यालय और कालिज १,५५,००० से ४,४५,००० की संख्या में बढ़े। इंजीनियरिंग विद्यार्थियों की संख्या तो पचगुनी होकर १,६३,००० तक जा पहुँची। सरकार तथा जनता के पारस्परिक सहयोग के कारण ही यह विस्तार वहाँ हो सका।

आज भारत सचेत हो उठा है। चारों ओर से शिक्षा-सुधार की पुकार मची हुई है। लोग अनुभव कर रहे हैं कि शिक्षा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में एक नवीन जीवन के प्रादुर्भाव की आवश्यकता है। प्रशासन-पद्धति, शैक्षणिक रूप-रेखा, प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, प्राविधिक तथा स्त्री शिक्षा पर नये नये विचार हो रहे हैं। भाषा तथा शिक्षा के माध्यम की नयी समस्याएँ देश के सामने उपस्थित हैं। इसीके फल-स्वरूप हमारे शिक्षा-क्षेत्र में नयी-नयी विचार धाराएँ बहने लगी हैं, जैसे : बुनियादी तथा सामाजिक शिक्षा, राष्ट्रीय प्रयोग शालाएँ तथा विज्ञान-मन्दिर, राष्ट्रीय तथा सहायक सैन्य शिक्षार्थी दल, इत्यादि। इन गहन प्रश्नों पर इस पुस्तक के अगले अध्यायों में विचार किया जायगा।

---

† भारत, १९५९, पृष्ठ ७९।

‡ *Seven Years of Freedom*. pp. 34–47.

दूसरा अध्याय

शिक्षा-व्यवस्था

भारत के राज्य

जब १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वाधीन हुआ तब भारत में नौ प्रान्तों के अतिरिक्त ५४८ रियासतें थीं। भारत के उपप्रधान मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने दो वर्ष के भीतर ही सम्पूर्ण भारत को एक बना दिया, जिससे ये बहुसंख्यक देशी राज्य भारत के आन्तरिक भाग बन गये, जिस तरह कि अन्य राज्य इसके अङ्ग हैं। परिणामतः सारे भारत में प्रजातन्त्र राज्य प्रस्थापित हुआ। १ नवम्बर, १९५६ में राज्यों का पुनर्गठन हुआ, जिसमें देशी राज्यों का घटक राज्यों के रूप में नवनिर्मित राज्यों में विलयन हो गया। आज भारत इन चौदह नवीन राज्यों का संघटित रूप — राष्ट्र-संघ — है। इन चौदह राज्यों का क्षेत्रफल तथा जनसंख्या अधोलिखित तालिका में प्रदर्शित है।

तालिका ३

भारत के राज्यों का क्षेत्रफल और जन-संख्या†

राज्य	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जन-संख्या
असम	८५,०१२	९०,४३,७०७
आन्ध्रप्रदेश	१,०५,६७७	३,१२,६०,१३३
उड़ीसा	६०,२५०	१,४६,४५,९४६
उत्तरप्रदेश	१,१३,४२२	६,३२,१५,७४२
केरल	१५,००६	१,३५,४९,११८
जम्मू और कश्मीर	८५,८६१	४०,१०,०००
पंजाब	४७,०६२	१,६१,३४,८९०
पश्चिम बङ्गाल	३३,९२७	२,६३,०२,३८६
बम्बई	१,९०,६६८	४,८२,६५,२२१
बिहार	६७,०७१	३,८७,८३,७७८
मद्रास	५०,१३८	२,९९,७४,९३६
मध्यप्रदेश	१,७१,२५०	२,६०,७१,६३७
मैसूर	७४,८६१	१,९०,०१,१९३
राजस्थान	१,३२,१४८	१,५९,७०,७७४

† भारत, १९५९, पृष्ठ ८–९।

इन राज्यों के सिवा भारत में छः संघीय क्षेत्र हैं, अर्थात् (१) अन्दमान तथा निकोबार द्वीप-समूह, (२) दिल्ली, (३) हिमाचल प्रदेश, (४) लक्का द्वीप, मिनिकाय तथा अमीनदीवी द्वीप-समूह, (५) मणिपूर और (६) त्रिपुरा।

भारत पृथ्वी का एक छोटा-सा स्वरूप है, जिसका क्षेत्रफल १२,५९,७६५ वर्ग मील है। संसार के सबसे अधिक जन-संख्यावाले देशों में इस देश का स्थान दूसरा है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार, इस देश की कुल जन-संख्या ३५,६८,७९,३४९ थी, जिसमें १८,३३,०८,७३३ पुरुष तथा १७,३५,२२,८३१ स्त्रियाँ हैं। औसतन १,००० पुरुष पीछे ९४७ स्त्रियाँ हैं। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि देश की एकत्रित जन-संख्या में से १७·३ प्रतिशत लोग शहरों में तथा शेष गाँवों में रहते हैं। इस जन-गणना के अनुसार भारत में ५,९१,५१,००१ व्यक्ति साक्षर थे, जिनमें ४,५६,०१,१८४ पुरुष तथा १,३६,४९,८१७ महिलाएँ थीं; अर्थात् सम्पूर्ण देश की साक्षरता थी : १६·६१ प्रतिशत — २४·८७ (पुरुष) तथा ७·८७ (स्त्रियाँ)।

भारत में विभिन्न रूप-रङ्गोंवाले तथा अनेक भाषा-भाषी लोग रहते हैं। १९५१की मर्दुमशुमारी के अनुसार देश में कुल ८४५ भाषाएँ अथवा बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनमें ७०२ भारतीय भाषाएँ अथवा बोलियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक के भाषियों की संख्या एक लाख से कम है, तथा ६३ गैर भारतीय भाषाएँ हैं। ९१ प्रतिशत जनता संविधान में उल्लिखित १४ भाषाओं में से किसी-न-किसी एक भाषा को बोलती है।

शिक्षा-प्रशासन

पूर्व-पृष्ठिका

सन् १८५५ ई० तक इस देश में शिक्षा-प्रशासन सुव्यवस्थित न था। वुड के घोषणा-पत्र की सिफ़ारिशों के कारण, प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग कायम हुए। इसके साथ-साथ समूचे देश की शिक्षा-नीति भारत सरकार निरूपित करने लगी।† पर केन्द्र में शिक्षा शासन के लिए कोई राजकीय विभाग स्थापित न हुआ। कुछ काल तक शिक्षा की व्यवस्था गृह-विभाग की शिक्षा-शाखा करती रही, पर भारत सरकार अनुभव कर रही थी कि पूरे देश की शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए एक अफसर की आवश्यकता है। इस अभाव की पूर्ति लार्ड कर्जन ने की। सन् १९०१ ई० में उन्होंने पूरे देश के लिए प्रधान शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर जनरल ऑफ़ एजुकेशन) पद की सृष्टि गृह-विभाग के मातहत की।

---

† देखिए **चौथा अध्याय**।

नौ वर्षों तक इसी प्रकार ही काम चलता रहा। सन् १९१० ई० में वाइसराय की कार्य-कारिणी समिति के सदस्यों की संख्या एक और बढ़ा दी गयी। इस सदस्य को शिक्षा की जिम्मेवारी सौंपी गयी, पर प्रधान शिक्षा-संचालक का पद उठा दिया गया। पाँच वर्ष बाद 'एज्यूकेशन कमिश्नर' नामक एक नये अफसर की नियुक्ति हुई। उसका काम वही रहा जो प्रधान शिक्षा-संचालक का था। इसी साल शिक्षा-सूचना-कार्यालय (ब्यूरो ऑफ़ एज्यूकेशन) भी खोला गया। भारत सरकार की वार्षिक तथा पंचवार्षिक रिपोर्टों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त, यह दफ्तर शिक्षा-सम्बन्धी अनेक साहित्य निकालता रहता था। सन् १९०२–१८ की अवधि में केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयों तथा प्रान्तीय सरकारों को काफी रुपये अनुदान में दिये।

भारत सरकार के सन् १९१९ के कायदे के अनुसार, शिक्षा की जिम्मेवारी केन्द्रीय सरकार के हाथ से निकल कर प्रान्तीय सरकार के हाथ आ गयी। पर इस प्रान्तीय स्वशासन के कारण प्रान्तीय सरकारों का भारत सरकार से एकलन होने के सिवा, आपसी पृथक्करण भी हुआ। इस पृथकवादी नीति के फल-स्वरूप पैसा तथा परिश्रम बहुत कुछ व्यर्थ जाने लगा। कारण, न प्रान्तीय सरकारें आपस के कार्य-कलापों का लाभ उठा सकती थीं और न केन्द्रीय सरकार पूरे देश के लिए कोई शिक्षा-नीति निर्धारित कर सकती थी। इस प्रकार सभी अनुभव करने लगे कि सम्पूर्ण देश की शिक्षा-नीति में एकसूत्रता लाने के लिए एक प्रतिष्ठान की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय अनुदान बन्द हो गया। फल-स्वरूप, शिक्षा की नवीन योजनाएँ शिथिल पड़ने लगीं।

इस कारण सन् १९२१ ई० में केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-मण्डल (सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन) की स्थापना हुई। पर केवल दो वर्ष बाद, इस मण्डल का खात्मा हुआ। कारण, सरकार के पास पैसा न था। इस मितव्ययता के फल-स्वरूप शिक्षा-सूचना-कार्यालय भी उठा दिया गया, तथा शिक्षा विभाग अन्य सरकारी मुहकमों अर्थात् स्वास्थ्य, राज्य-कर और कृषि के साथ जोड़ दिया गया। आर्थिक स्थिति सुधरने पर तथा हार्टग समिति की सिफ़ारिशों के कारण, सन् १९३५ ई० में केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-मण्डल तथा इसके दो साल बाद शिक्षा-सूचना-कार्यालय पुनः स्थापित हुए।

सन् १९४५ ई० में, भारत सरकार ने अपना एक स्वतंत्र शिक्षा-विभाग खोला। दो वर्ष बाद यह विभाग मन्त्रालय में बढ़ा दिया गया। सन् १९५७ में इस मन्त्रालय को

वैज्ञानिक शोध का कार्य सौंपा गया और इसका नाम पड़ा 'शिक्षा तथा वैज्ञानिक शोध मन्त्रालय'। लेकिन एक वर्ष बाद, यह मन्त्रालय दो भागों में विभक्त हुआ: (१) शिक्षा और (२) वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति।

यह हमारे देश के शिक्षा-शासन के विकास की रूप-रेखा हुई। इस शासन की बागडोर तीन स्वतन्त्र अधिकारियों के अधीन है: (१) केन्द्रीय सरकार, (२) राज्य सरकार और (३) स्वायत्त शासन। इनके कार्यकलापों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

केन्द्रीय सरकार

शिक्षा-मन्त्रालय.—शिक्षा-मन्त्रालय, शिक्षा-मन्त्री की अधीनता में है। सन् १९५८ तक शिक्षा-मन्त्री मन्त्री-मण्डल के सदस्य रहे, पर अब वे केवल राज्य-मन्त्री ही हैं। मन्त्रालय के मुख्य दो कर्तव्य हैं: (१) देश की शिक्षा-नीति संयोजित करना और (२) यथा सम्भव भिन्न-भिन्न राज्यों की शिक्षा-प्रणाली में एकरूपता रखना।

मन्त्रालय के सब से प्रधान कर्मचारी शिक्षा-परामर्श-दाता (एज्युकेशन एडवाइजर) होते हैं। ये भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय के सचिव का काम करते हैं, तथापि इनकी सबसे बड़ी जवाबदारी यह है कि ये शिक्षा-मन्त्री को पूरे देश की शिक्षा-नीति तथा शासन के विषय में उचित परामर्श दें। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय निम्नलिखित आठ संविभागों में विभक्त है:

(१) प्रारम्भिक तथा बुनियादी शिक्षण,
(२) माध्यमिक शिक्षा,
(३) उच्च शिक्षा तथा यूनेस्को,
(४) हिन्दी,
(५) सामाजिक शिक्षा तथा समाज-कल्याण,
(६) व्यायाम तथा मनोरञ्जन,
(७) छात्र-वृत्ति तथा
(८) प्रशासन।†

---

† *Free Press Journal.* May 14, 1958.

केन्द्रीय
शिक्षा मन्त्रालय
विभाग
शिक्षामन्त्री
अधिकार क्षेत्र
प्रारम्भिक तथा बुनियादी शिक्षा
माध्यमिक शिक्षा
उच्च शिक्षा तथा युनेस्को
हिन्दी
सामाजिक शिक्षा तथा समाज-कल्याण
व्यायाम तथा मनोरंजन
छात्र-वृत्ति
प्रशासन
शिक्षा परामर्शदाता
सलाहकारी परिषद
केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार मण्डल
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद
अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद
ग्रामीण उच्चतर शिक्षा समिति
राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा परिषद
अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क
संघीय क्षेत्र
शिक्षा-सूचना कार्यालय
विदेशी दफ़्तरें
केन्द्रीय विश्वविद्यालय
पब्लिक स्कूल
अखिल भारतीय शिक्षा-सँस्थाएँ

चित्र २
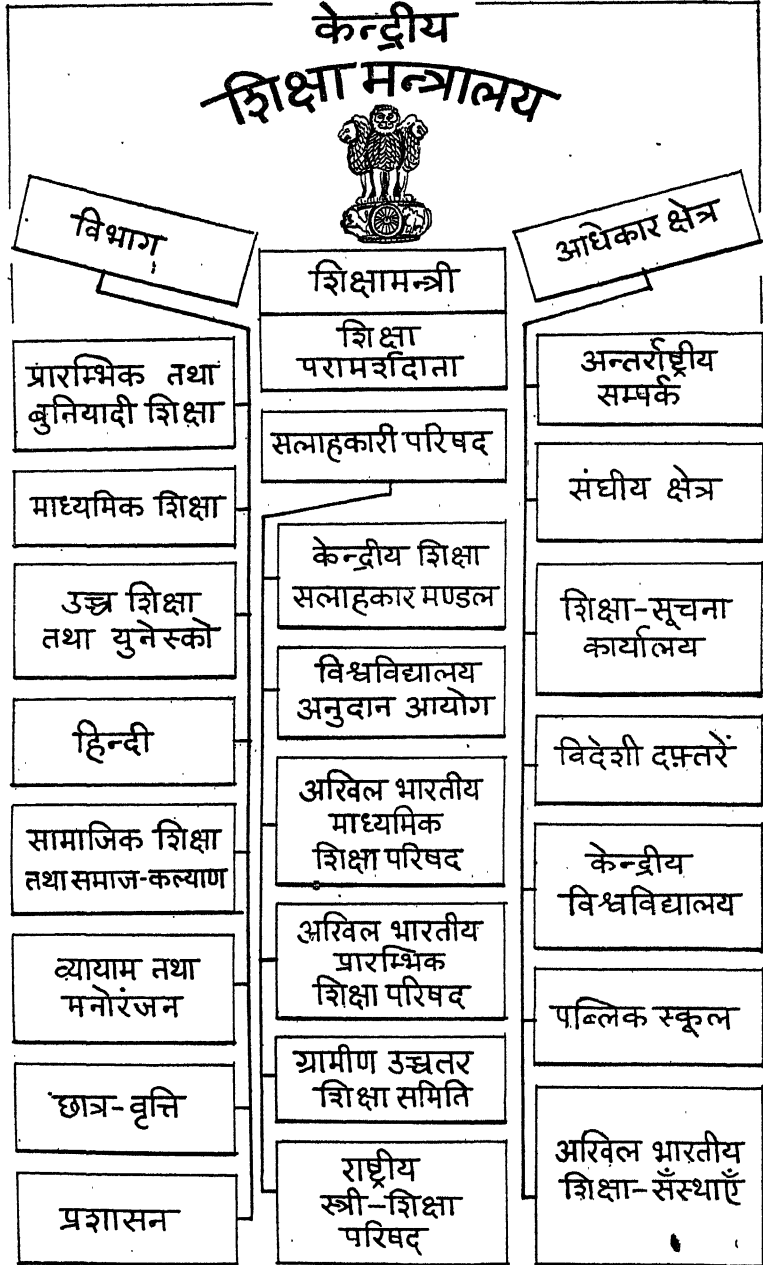
शिक्षा-मन्त्रालय को कई सलाहकारी या परिनियत परिषद् सहायता पहुँचाती हैं। मुख्य परिषद् ये हैं: (१) केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार मण्डल (केशिसम), (२) विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग (युनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन), (३) अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद् (आल इंडिया काउन्सिल ऑफ सेकण्डरी एज्यूकेशन), (४) अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद् (आल इंडिया काउन्सिल ऑफ् एलीमेण्टरी एज्यूकेशन), (५) ग्रामीण उच्चतर शिक्षा समिति (नेशनल काउन्सिल ऑफ् रूरल हायर एज्यूकेशन), (६) राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा-परिषद् (नेशनल काउन्सिल ऑफ् वुमेन्स एज्यूकेशन), (७) केन्द्रीय समाज-सेवा-मण्डल (सेन्ट्रल सोशियल वेलफेयर बोर्ड), इत्यादि। इस अध्याय में केवल 'केशिसम' की आलोचना की जायेगी। अन्य परिषदों के विषय में अगले अध्यायों के यथायोग्य अंशों में लिखा जायगा।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के कार्यों का प्रधान साधन 'केशिसम' है। इसकी स्थापना सन् १९२१ ई० में हुई थी। इसका संविधान इस प्रकार है:

(१) भारत-सरकार के शिक्षा-मन्त्री (सभापति),

(२) भारत-सरकार के शिक्षा-परामर्श-दाता (सदस्य),

(३) भारत सरकार द्वारा मनोनीत पंद्रह सदस्य, जिनमें से पाँच सदस्य महिला हों,

(४) संसद् द्वारा निर्वाचित पाँच सदस्य — दो राज्य-सभा-द्वारा तथा तीन लोक-सभा-द्वारा,

(५) अन्तर्विद्यालय-मण्डल (इण्टर युनिवर्सिटी बोर्ड) द्वारा निर्वाचित दो सदस्य,

(६) अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा-परिषद् (आल इंडिया काउन्सिल ऑफ् टेकनिकल एज्यूकेशन) द्वारा मनोनीत दो सदस्य,

(७) प्रत्येक राज्य का एक प्रतिनिधि, जो कि शिक्षा-मन्त्री हो। उसकी अनुपस्थिति में, उसका मनोनीत व्यक्ति किसी भी बैठक में भाग ले सकता है और

(८) मण्डल का सचिव — (जिसे भारत सरकार नियुक्त करती है)।

गैर सरकारी सदस्यों का कार्य-काल तीन वर्ष रहता है। मण्डल की बैठक प्रतिवर्ष एक बार होती है, जिसमें सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित शिक्षा-विषयक प्रश्नों पर विचार

किया जाता है। मण्डल की कई स्थायी समितियाँ भी हैं, और समय समय पर मण्डल शिक्षा के विशिष्ट विषयों पर रिपोर्टें प्रकाशित करता रहता है। हर्ष की बात है कि आरम्भ से ही मण्डल का कार्य प्रशंसनीय रहा है। मण्डल की सिफ़ारिशों को क्रियान्वित करने के लिए राज्य सरकारें बाध्य नहीं हैं। कारण, शिक्षा एक राज्यीय विषय है। राज्य सरकारें मण्डल की सिफ़ारिशों को ठुकरा सकती हैं, बदल सकती हैं या अपना सकती है। इस कारण, मण्डल की चेष्टाएँ कभी-कभी व्यर्थ भी जाती हैं।

मण्डल से संलग्न शिक्षा-सूचना कार्यालय तथा एक सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तकालय है। शिक्षा-सूचना-कार्यालय का काम है देश-विदेश के शिक्षा-विषयक समाचारों का संग्रह करना तथा शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित करना। पुस्तकालय तो देश-विदेश के शिक्षा-साहित्य का भण्डार ही है।

यद्यपि शिक्षा के सम्बन्ध में भारत-सरकार राज्यों की कार्यवाही में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है, तथापि उसका स्थान शिक्षा-क्षेत्र में महत्व-पूर्ण है। प्रथमतः, पूरे देश की शिक्षा-नीति में समानता लाने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर ही है। 'केशिसम' तथा राज्य के शिक्षा-मन्त्रियों की बैठकों में, पूरे देश के शिक्षा-विषयक प्रश्नों पर विचार-विनिमय हुआ करता है। शिक्षा के पेंचीदे प्रश्नों को सुलझाने के लिए भारत-सरकार समितियाँ तथा आयोग नियुक्त करती है, रिपोर्टें प्रकाशित करती है तथा वित्तीय मामलों पर सोच-विचार करती है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार विशेषज्ञ तथा प्रकाशक का कार्य करती है। द्वितीयतः, यह अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क तथा संयुक्त राष्ट्र संघीय शिक्षा, 'विज्ञान एवं संस्कृति-संगठन' (यूनेस्को) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों के साथ सम्पर्क स्थापित करती है। इसके सिवा, केन्द्रीय सरकार का काम है इस देश के छात्रों को विदेश की शिक्षा-संस्थाओं में प्रविष्ट कराना तथा उनकी देख-भाल करना। इस कार्य के लिए भारत-सरकार के लंदन, वाशिंगटन, बान तथा नैरोबी में दफ्तर हैं। तृतीयतः, संघीय क्षेत्र की शिक्षा की जिम्मेवारी भारतीय सरकार पर है तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालयों (दिल्ली, अलीगढ़, बनारस और विश्व-भारती) की देख-रेख इसे ही करनी पड़ती है। चतुर्थतः, भारत के अठारह पब्लिक स्कूल शिक्षा-मन्त्रालय के प्रशासन में हैं। पञ्चमतः, अनेक अखिल भारतीय शिक्षा-संस्थाएँ स्वयं भारत-सरकार-द्वारा सञ्चालित है, जैसे: दिल्ली सेन्ट्रल इंस्टीटयूट ऑफ् एज्यूकेशन, देहरादून सेंट्रल ब्रेल प्रेस, दिल्ली नेशनल इंन्स्टीटयूट ऑफ् बेसिक एज्यूकेशन, इत्यादि। षष्ठतः, केन्द्रीय सरकार अनेक शिक्षा-योजनाओं के लिए राज्यों तथा गैरसरकारी संस्थाओं को आर्थिक सहायता देती है, बशर्ते कि ये योजनाएँ केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता-प्राप्त होवें।

---

† देखिए **पृष्ठ २८**

वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मन्त्रालय।—इस मन्त्रालय के सबसे प्रमुख व्यक्ति एक राज-मन्त्री हैं, जिनकी सहायता एक उप-मन्त्री करते हैं। इस मन्त्रालय की स्थापना हाल ही में हुई है। इस मन्त्रालय के मुख्य कार्य ये हैं: (१) वैज्ञानिक शोध तथा भूमीक्षण, (२) सांस्कृतिक कार्यकलाप तथा (३) प्राविधिक शिक्षा। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा कानपुर में इस मन्त्रालय के क्षेत्रीय कार्यालय हैं। राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं, जूलोजिकल सर्वे ऑफ् इंडिया, बोटेनिकल सर्वे ऑफ इंडिया, जेओडोटिक सर्वे ऑफ् इंडिया—इसीके प्रशासन में हैं। यह मन्त्रालय अनेक शिक्षा-संस्थाएँ भी चलाता है, जैसे: दिल्ली पोलीटैकनिक, खड़गपुर-स्थित प्रौद्योगिकी संस्था, धानवाद-स्थित इंडियन स्कूल ऑफ् माईन्स एण्ड एप्लाईड ज्योलोजी, इत्यादि। वैज्ञानिक तथा प्राविधिक गवेषणा के प्रोत्साहन के लिए, मन्त्रालय अनेक संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता भी देता है। अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा-परिषद् मन्त्रालय को प्राविधिक शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देता है।†

राज्य सरकार

यह पहले ही बताया जा चुका है कि, शिक्षा एक राज्यीय विषय है। केन्द्रीय सरकार राज्यीय शिक्षा-नीति में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। केवल दो विषयों की बाबत, केन्द्रीय सरकार की सम्पूर्ण जिम्मेवारी है। ये हैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के माध्यम से विभिन्न उच्च शिक्षा निकायों के बीच समन्वय स्थापित करना और उच्चतर शिक्षा, शोध, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा का स्तर निर्धारित करना। ये जटिल तथा व्यय-साध्य विषय पूरे देश से सम्बन्धित हैं, इसलिए हमारे संविधान ने इनकी जिम्मेवारी राज्यों पर लादना हितकारी नहीं समझा। और यह ठीक भी है। इनके सिवा, राज्य-सरकारों पर एक और प्रतिबन्ध है। जिन-जिन योजनाओं के लिए, राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता लेती हैं, उन योजनाओं को चलाने के लिए उन्हें केन्द्रीय सरकार के द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करना पड़ता है। इन रुकावटों के सिवा, राज्यों को शिक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण स्वायत्तता है।

राज्य का राज्यपाल भारत के राष्ट्रपति-द्वारा पाँच वर्षों के लिए नियुक्त किया जाता है। उसके कार्य-संचालन में सहायता तथा परामर्श देने की दृष्टि से मुख्य मन्त्री के नेतृत्व में एक मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की गयी है। मन्त्रियों को अलग-अलग शासन-विभाग सौंप दिये जाते हैं, जिनकी जिम्मेवारी पूरे मन्त्रि-परिषद् पर होती है। वह सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। शिक्षा-मन्त्री के

† देखिए **आठवाँ अध्याय**।

मातहत शिक्षा-विभाग रहता है। पूरे राज्य की शिक्षा-नीति का निर्देशन वे ही करते हैं। उनकी सहायता के लिए दो प्रधान अफसर रहते हैं : शिक्षा-सचिव तथा शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर ऑफ् एज्यूकेशन)। सचिव शिक्षा-विभाग के सारे कागज़ात शिक्षा-मन्त्री के सामने पेश करते हैं तथा सरकार की ओर से हुक्म निकालते हैं। बहुधा सचिव शासकीय अफ़सर ही होता है, और उसे शिक्षा-विभाग का अधिक अनुभव नहीं रहता है।

शिक्षा-विभाग का असली काम डाइरेक्टर चलाते हैं, जो सदा इस विभाग के एक अनुभवी व्यक्ति होते हैं। शिक्षा-सम्बन्धी पेचीदे प्रश्नों पर ये ही शिक्षा-मन्त्री को सलाह देते हैं। डाइरेक्टर की सहायता के लिए, सदर दफ्तर में कई उपसंचालक (डिप्टी या असिस्टेण्ट डाइरेक्टर) रहते हैं। राज्य विभागों में बाँट दिया जाता है, और विभाग ज़िलों में। प्रत्येक विभाग एक क्षेत्रीय डिप्टी डाइरेक्टर या सुपरिण्टेडेण्ट अथवा इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स के प्रशासन में रहता है। यह प्रबंध प्रत्येक राज्य की शासन-पद्धति पर निर्भर होता है। कई राज्यों में मध्यवर्ती शासक रखने की प्रथा उठा दी गयी है। इन राज्यों में डाइरेक्टर से परवर्ती अफ़सर जिला शाला-निरीक्षक (डिस्ट्रिक्ट एज्यूकेशन इन्स्पेक्टर) होता है। प्रत्येक राज्य तालुका या तहसीलों में बाँट दिया जाता है जो कि एक डिप्टी इन्स्पेकक्टर के मातहत रहता है। इन सब अफसरों के काम की निगरानी शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर करते हैं।

यों तो पूरे राज्य की शिक्षा की जिम्मेवारी शिक्षा-मन्त्री पर रहती है, पर कुछ विशेष शिक्षा-संस्थाएँ अन्य मंत्रियों के प्रशासन में रहती हैं, जैसे : कृषि-विद्यालय, टैकनीकी स्कूल तथा कालेज, समाज-शिक्षा-केन्द्र, आदि। हमें यह न सोचना चाहिए कि शिक्षा-विभाग अपना पूरा कार्य स्वयं चलाता है। उसे अन्य व्यवस्थापकों की सहकारिता की भी आवश्यता पड़ती है, जैसे : उच्च शिक्षा–विश्वविद्यालयों के जरिये, प्राथमिक शिक्षा–स्थानीय बोर्डों से मिलजुल कर, माध्यमिक शिक्षा–माध्यमिक शिक्षा–मण्डलों के सहयोग से। इस पृथकीकरण नीति के कारण, कभी-कभी शिक्षा को क्षति पहुँचती है। शिक्षा-प्रशासन के समक्ष यह एक गुरुत्व-पूर्ण प्रश्न है।

स्वायत्त शासन

स्वायत्त शासन की नींव सन् १८६१ ई० में पड़ी। इस वर्ष कलकत्ता, मद्रास और बम्बई शहरों का इन्तजाम करने के लिए प्रजा-द्वारा निर्वाचित सभाओं की स्थापना हुई। इसके बाद सन् १८८२ ई० में लार्ड रिपन ने एक नियम बनवाया, जिसके अनुसार भारतवर्ष के शहरों, कस्बों और ज़िलों का प्रबन्ध करने के लिए नगरपालिका समितियाँ तथा जिला-मण्डल स्थापित हुए। आज स्थानीय निकाय मोटे तौर पर दो

प्रकार के हैं : शहरी तथा ग्रामीण। बड़े बड़े नगरों के निकायों को 'निगम' और मध्यम तथा छोटे नगरों के निकायों को 'नगरपालिका समिति' कहा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों की देख-भाल जिला-मण्डल अथवा ताल्लुका-मण्डल (जनपद सभा) तथा ग्राम-पंचायतें करती हैं।

सरकार ने कई कायदे-कानूनों तथा प्रस्तावों द्वारा स्थानीय निकायों को शिक्षा-विषयक अनेक अधिकार दिये हैं। माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने स्पष्ट घोषणा की कि "शासन की ओर से ज़िलों, शहरों एवं कस्बों का शासन उनके निवासियों को मिल जाय और वे उनका प्रबन्ध-सभाएं बनाकर इच्छानुकूल कार्य करें।" इस विषय में बाहरी हस्तक्षेप वाञ्छनीय नहीं है। इस घोषणा का फल यह हुआ कि प्रान्तीय विधान सभाओं ने धीरे-धीरे स्थानीय निकायों की क्षमता बढ़ा दी। आज सभी राज्यों में प्राथमिक शिक्षा का शासन स्थानीय निकाय ही करते हैं। वे स्वतः स्कूल खोलते हैं, गैरसरकारी स्कूलों को मंजूर करते हैं तथा उन्हें ग्राण्ट देते हैं। शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए वे अपने स्कूल-बोर्ड स्थापित करते हैं तथा स्कूलों की देखरेख के लिए निरीक्षक नियुक्त करते हैं। प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए, वे अपनी योजानाएँ भी चला सकते हैं।

शिक्षा-संस्थाओं का वर्गीकरण

भारत की शिक्षा-संस्थाएँ दो श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं : (१) स्वीकृत तथा (२) अस्वीकृत। पहले वर्ग की संस्थाएँ किसी शिक्षा-विभाग, विश्वविद्यालय या हाईस्कूल बोर्ड द्वारा प्रस्वीकृत होते हैं। इनके द्वारा अनुमोदित संस्थाओं को पाठ्य-क्रम तथा पाठ्य-पुस्तकों को चलाना पड़ता है, और उन्हें अपने विद्यार्थियों को सरकारी या विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में बिठाने का हक़ रहता हैं। समय-समय पर इन संस्थाओं का निरीक्षण भी होता है। इस कारण, इन्हें सदैव चौकन्ना रहना पड़ता है। ऐसे स्कूल और कालेजों को छोड़कर शेष संस्थाएँ अस्वीकृत होती हैं। बहुधा ये देशी विद्यालय होते हैं, जिनमें संस्कृत, फारसी, कुरान, आयुर्वेद या यूनानी चिकित्सा का ज्ञान दिया जाता है। हमारे देश मे कुछ ऐसे स्कूल भी खुल गये हैं, जो परीक्षाओं में असफल छात्रों को फिर से परीक्षाओं में प्राईवेट बिठाने के लिए तैयार करते हैं। परमेश्वर देश को ऐसी अनर्थकारी संस्थाओं से बचावें।

स्वीकृत संस्थाएँ भी दो प्रकार की हैं—सरकारी तथा स्वसंचालित। पहले वर्ग की संस्थाएँ राजकीय या स्थानीय निकायों-द्वारा परिचालित होती हैं। स्वसंचालित संस्थाओं को या तो कोई व्यक्ति अकेला ही चलाता है या कोई शिक्षा-मण्डल चलाता है। इन

संस्थाओं को भी हम दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) सहायता-प्राप्त अर्थात् जिन्हें सरकार या और स्थानीय निकायों से ग्राण्ट मिलती है, और (२) स्वाश्रित, जिन्हें अनुदान प्राप्त नहीं होता। ऐसी संस्थाओं को अधिकतर फीस, चन्दा या दान पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

१९५५–५६ में स्वीकृत संस्थाओं की सख्या ३,६६,६४१ थी : राजकीय ८७,६०१, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड १,४२,९८०, म्युनिसिपल बोर्ड १०,४९७, स्वसंचालित १,१४,२०४ (सहायता-प्राप्त) और ११,३५९ (स्वाश्रित)। इसी वर्ष सम्पूर्ण देश में ४,८०६ अस्वीकृत संस्थाएँ थीं।†

शिक्षा की सीढ़ी

शिक्षा की पहली सीढ़ी पर पूर्व-प्राथमिक स्कूल हैं, जहाँ ३ से ६ वर्ष की आयु के बच्चे पढ़ते हैं। ऐसे स्कूलों की संख्या देश में बहुत ही कम है। इनके बाद प्राथमिक स्कूलों और अवर बुनियादी स्कूलों का नम्बर आता है, जहाँ ६ से ११ वर्ष की आयु के बच्चे पढ़ते हैं। इनके बाद के माध्यमिक स्कूल दो प्रकार के होते हैं—(१) मिडिल–अवर हाई स्कूल या प्रवर बुनियादी स्कूल, जिनमें ११ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चे विद्याध्ययन करते हैं और (२) हाईस्कूल, जिनमें ११ से १६ वर्ष की आयु के बच्चे शिक्षा पाते हैं। परन्तु कई राज्यों में उच्चतर माध्यमिक स्कूल भी हैं, जहाँ ११ से १७ या १८ वर्ष की आयु के बालक शिक्षा पाते हैं।

हाईस्कूल के बाद इण्टरमीडिएट कालेजों या डिग्री कालेजों की इण्टरमीडिएट कक्षाओं का नम्बर आता है। यहाँ दो वर्ष शिक्षा मिलती है। इण्टरमीडिएट परीक्षा में सफलीभूत होने के बाद विद्यार्थी को दो वर्ष का समय प्रथम डिग्री पाने के लिए लगता है। जो विद्यार्थी उच्चतर माध्यमिक स्कूल से उत्तीर्ण होते हैं, उन्हें इण्टरमीडिएट नहीं पढ़नी पड़ती है। वे सीधे तीन-वर्षीय डिग्री पाठ्य-क्रम में भरती होते हैं।

स्नातक होने के बाद, विद्यार्थी को उत्तर-स्नातक डिग्री प्राप्त करने के लिए दो वर्ष लगते हैं। आजकल विश्वविद्यालयों, अनुसन्धान-संस्थाओं तथा कई कालेजों में शोध का विशेष बन्दोबस्त है। यहाँ विद्यार्थीगण उत्तर-स्नातक स्तर के अनुसन्धान कार्यों में दिलचस्पी ले सकते हैं।

---

† *Education in India*, 1955-56, Vol. I, pp. 18-19

उमर
३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४
पूर्व-प्राथमिक
प्राथमिक स्कूल
अवर बुनियादी स्कूल
मिडिल स्कूल
हाईस्कूल
उच्चतर माध्यमिक स्कूल
इण्टर
पॉलीटेकनीक
अ
विश्वविद्यालय
आ
व्यवसायिक कालेज
प्रवर बुनियादी स्कूल
उत्तर बुनियादी स्कूल
शिक्षा-सीढ़ी
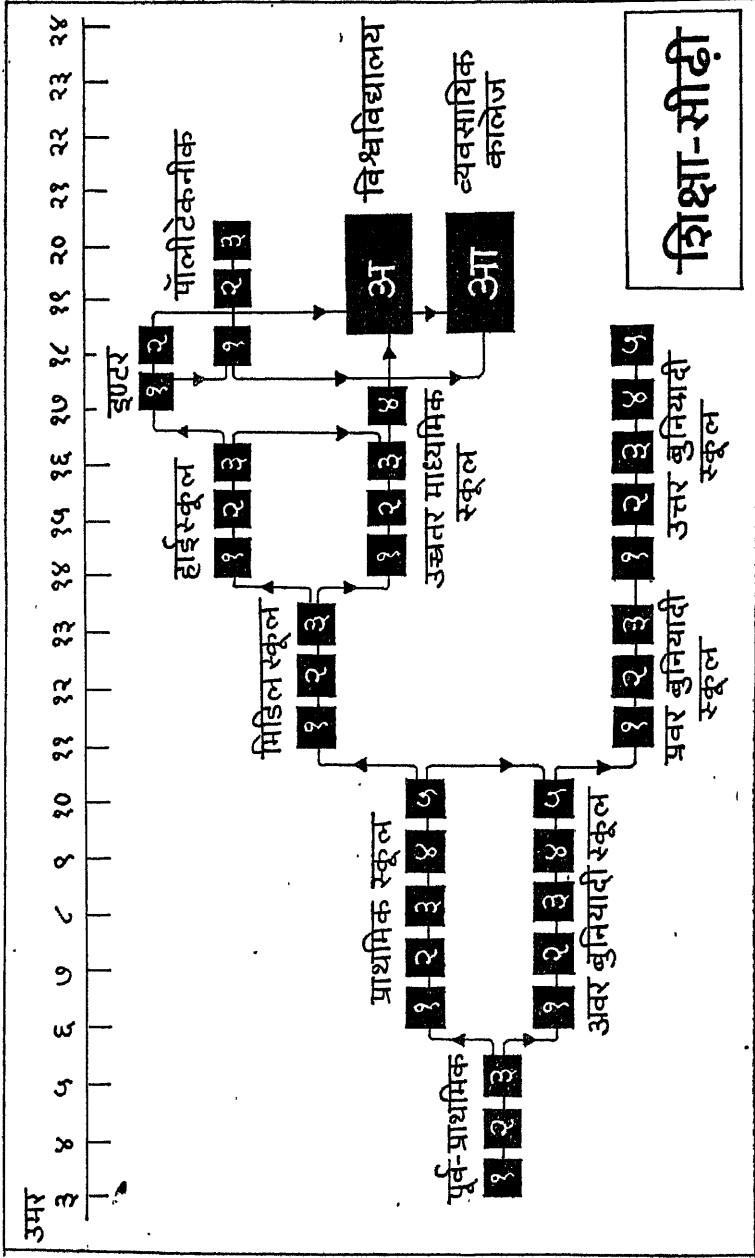
चित्र ४

व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा नाना प्रकार की होती है, जैसे : अर्थ-वाणिज्य, कृषि, शिक्षा, प्राविधिक शिक्षा, विधि (कानून), चिकित्सा, वन-विद्या, नृत्य, चित्रकला, आदि। कालेजों में तो विद्यार्थी इण्टरमीडिएट या पूर्व-व्यावसायिक (प्री-प्रफेशनल) परीक्षा उत्तीर्ण होकर ही प्रविष्ट होते हैं, पर स्कूल तथा पालीटेकनीक में प्रवेश पाने के लिए मैट्रिक सर्टीफिकेट यथेष्ट होता है। अशक्त एवं अन्य विकलाङ्ग बच्चों के लिए विशेष स्कूल हैं। इसी प्रकार प्रौढ़ों के लिए भी अलग स्कूल हैं।

यह तो हुआ हमारे देश की शिक्षा-पद्धति का साधारण विवरण। आजकल पद्धति में बहुत कुछ फेरफार हो रहे हैं। इनके सिवा प्रत्येक राज्य की कुछ-न-कुछ अपनी शैक्षणिक विशिष्टताएँ हैं, जिससे समूचे देश की शिक्षा-पद्धति एक समान नहीं है।

शिक्षा–व्यय

शिक्षा-व्यय दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) और परोक्ष (इन-डाइरेक्ट)। प्रत्यक्ष व्यय में जो खर्च शामिल हैं, वे ये हैं : अध्यापकों, कर्मचारियों आदि के वेतन, भत्ते, पेंशन, अंश-दान, साज-सामान और उपयोग में आनेवाली वस्तुएँ, लेखन-सामग्री, इमारतों की मरम्मत, किराया, परीक्षाओं आदि का आवर्ती प्रसार। परोक्ष व्यय में ये खर्च शामिल हैं : छात्रावास और छात्र-वृत्तियों का खर्च, इमारतों और साज-सामान का खर्च, निर्देशन एवं निरीक्षण का खर्च और इस प्रकार के विविध खर्च जो किसी एक संस्था या एक प्रकार की संस्थाओं में नहीं बाँटे जा सकते।

पिछले कुछ वर्षों से शिक्षा-व्यय बढ़ गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। ३१ मार्च, १९४८ को पूरे देश का कुल शिक्षा-व्यय केवल ५५·१ करोड़ रुपया था। यह खर्च १९५६ ई० में १८९·४ करोड़ रुपया हुआ। अर्थात् शिक्षा-खर्च तीन गुने से अधिक बढ़ गया है। इतना होते हुए भी इस रक़म से पूरे देश की शिक्षा की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकती हैं। एक सरकारी रिपोर्ट का कहना है :

> शिक्षा-व्यय में यह वृद्धि अवश्य सराहनीय है; पर पूरे देश की शिक्षा की आवश्यताओं को पूरा करने के लिए, ४०० करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। इस रक़म से यह भी पता चलता है कि हमें अभी कितना काम करना है।†

† Ministry of Education. *Ten Years of Freedom.* Delhi, Manager of Publications, 1957, p. 65.

रजत-जयन्ती के अवसर पर, गान्धीजी के सभापतित्व में इस देश के शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन आमन्त्रित हुआ। इसमें गान्धीजी ने अपनी नवीन शिक्षा-योजना उपस्थित करते हुए कहा कि वर्तमान शिक्षा न तो किसी प्रकार की जीवन-वृत्ति के लिए मार्ग प्रदर्शित करती है और न उसमें किसी प्रकार के उत्पादनशील कार्य की क्षमता ही है। उक्त सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित हुए :

> १. इस सम्मेलन की राय में, देश के सब बच्चों के लिए सात वर्ष की मुफ्त और लाजिमी तालीम होना चाहिए।
>
> २. तालीम का जरिया मातृ-भाषा होना चाहिए।
>
> ३. यह सम्मेलन महात्मा गान्धी की इस तजवीज की ताईद करता है कि तमाम मुद्दत में शिक्षा का मध्य बिन्दु किसी किस्म की दस्तकारी होना चाहिए, जिससे कुछ मुनाफा हो सके और बच्चों में जो कुछ अच्छे गुण पैदा करने हैं और उनको जो शिक्षा-दीक्षा देनी है वह जहाँ तक हो सके किसी केन्द्रीय दस्तकारी से सम्बन्ध रखती हो और जिस दस्तकारी का चुनाव बच्चों के माहोल का लिहाज रखकर किया जाय।
>
> ४. सम्मेलन आशा करता है कि इस तरीके से धीरे-धीरे अध्यापकों की तनख्वाह का खर्च निकल आवेगा। †

नयी तालीम की अहिंसक योजना।—सम्मेलन ने फिर दिल्ली के जामिया मिलिया के प्राचार्य डाक्टर जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक कमिटी मुकर्रर की। उस समिति की रिपोर्ट २ दिसम्बर, १९३७ में निकली। १९३८ की हरिपुरा कांग्रेस ने इस रिपोर्ट की सिफारिशों को मंजूर किया और वर्धा के पास सेवाग्राम में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ स्थापित किया। इस संघ का उद्घाटन करते हुए गान्धीजी ने कहा :

> यह योजना पूरी तरह से भारतीय योजना है। इसके आदर्श का जन्म सेगाँव में हुआ है। असली हिन्दुस्तान तो सात लाख गाँवों में बसता है, जो सेगाँव से भी बहुत हीन दशा में हैं। मैं चाहता हूँ कि आप लोग इन गाँवों से निरक्षरता दूर भगा दें, तथा सत्य और अहिंसा के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने का सन्देश गाँवों में पहुँचावें। यह जिम्मेवारी आपके

† तदैव, ३०-१०-१९३७।

> ऊपर है।... ... ...यदि यह योजना असफल हुई तो इसके लिए अध्यापक दोषी ठहराये जावेंगे। दस्तकारी के जरिये, भूमिति, इतिहास, भूगोल और गणित की शिक्षा दी जायगी और छात्रों के शारीरिक श्रम से स्कूल का खर्च निकालने का प्रयत्न किया जायगा।... ... ...पाश्चात्य जगत विनाशिनी शिक्षा दे रहा है। हमें अहिंसा के जरिये रचनात्मक शिक्षा देनी है। †

जाकिर हुसैन रिपोर्ट की रूप-रेखा—अब हमें यह देखना है कि जाकिर हुसैन रिपोर्ट की शिक्षा-योजना की रूप-रेखा क्या है। यह निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत की गयी थी: (१) सम्पूर्ण ज्ञान का मध्य-बिन्दु एक केन्द्रीय दस्तकारी है। तमाम पढ़ाई इस केन्द्रीय दस्तकारी द्वारा दी जाती है। (२) योजना स्वावलम्बी है। इस स्वावलम्बन के दो रूप हैं। प्रथमतः, योजना विद्यार्थियों को अपने भावी जीवन में अपने पाँवों पर खड़ा होना सिखाती है। द्वितीयतः, योजना का ध्येय है कि छात्रों के परिश्रमार्जित उत्पादन से कम-से-कम शिक्षकों के वेतन का खर्च निकले। (३) हाथ के काम पर विशेष ध्यान दिया जाता है ताकि कोई भी विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम से न डरे। (४) योजना अहिंसात्मक है, क्योंकि बच्चों को मशीन-द्वारा दूसरों की रोटी छीनना इसके द्वारा नहीं सिखाया जाता है। (५) तालीम विद्यार्थी के वातावरण और स्थानीय परिस्थिति की ओर विशेष लक्ष्य रखती है, जैसे: उसका गृह तथा ग्राम, गाँव के धन्धे तथा दस्तकारी। (६) योजना प्रत्येक विद्यार्थी को अपने भविष्य जीवन में उपयुक्त नागरिक बनाने की कोशिश करती है।

रिपोर्ट का मुख्य ध्येय था कि इस देश में ७ से १४ वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चे एवं बच्चियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाय, तथा शिक्षा की अवधि सात वर्ष की रहे। पाठ्यक्रम का स्तर अंग्रेजी को छोड़कर वर्तमान मैट्रिक के समान रहे। इन सब विषयों की शिक्षा एक आधारभूत दस्तकारी के माध्यम से दी जाय। शिक्षण का माध्यम मातृ-भाषा रहे, परन्तु राष्ट्र-भाषा (हिंदुस्तानी) का अध्ययन सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य रहे।

पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय निर्धारित किये गये: (१) केन्द्रीय दस्तकारी—कोई भी एक विषय: (अ) कताई और बुनाई, (आ) बढ़ईगिरी, (इ) फल और सब्जी की बागवानी, (ई) कृषि, (उ) चमड़े का काम, (ऊ) अन्य कोई उपयुक्त दस्तकारी जो शिक्षा-प्रद हो और जिसके लिए स्थानिक वातावरण अनुकूल हो। (२)

† तदैव, २१ अप्रैल, १९३८।

तीसरा अध्याय

बुनियादी शिक्षा

प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय शिक्षा के विकास में सबसे उल्लेखनीय घटना है 'बुनियादी शिक्षा'। इसने इस देश के शिक्षा-क्षेत्र में एक नवीन धारा प्रवाहित कर दी। भारत को श्रद्धेय बापू की यह अन्तिम, किन्तु सबसे बहुमूल्य देन है। उन्होंने अनुभव किया कि देश में एक नूतन आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की सृष्टि की आवश्यकता है, और यह उपयुक्त शिक्षा-पद्धति के द्वारा ही सम्भव है। गान्धीजी ने तो देश का कोना-कोना छान डाला था, और उन्हें जन-समुदाय की स्थिति का रत्ती-रत्ती पता था। उन्होंने अनुभव किया था कि भारतीय जनता को न तो भरपेट भोजन ही नसीब होता है और न तन भर कपड़ा ही प्राप्त होता है।

इस आर्थिक दरिद्रता से भी हीनतर थी आत्मिक दरिद्रता। देश में सदियों से परवशता का बोलबाला था। यहाँ के अधिवासी तन, मन, विचार, आचार, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि के दासत्व के कुचक्र में इस बुरी तरह फँस रहे थे कि उससे उन्हें मुक्ति पाना दुष्कर-सा हो रहा था। अधिक क्या, लोग इस मायामयी गुलामी पर मोहित-से हुए उसे अधिकाधिक आत्मसात् करते जा रहे थे। पूज्य गान्धीजी के ध्यान में यह बात विशेष रूप से खटकी। देश के शिक्षित वर्ग की आकांक्षाओं तथा गति-विधि को देखते हुए उनके हृदय में वर्तमान शिक्षा के प्रति एक वितृष्णा उत्पन्न हुई। जिस जमीन का अन्न-पानी इस वर्ग के शरीर में भिदा था उस वातावरण के अनुकूल उसे शिक्षा नहीं मिली थी, जिससे उसे अपनी भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा थी। उसके हाव-भाव से पाश्चात्य बू आ रही थी, वह परिश्रम से दूर भागता था और जनता से अपने को कोसों दूर रखना चाहता था। इस कारण समाज के दो टुकड़े हो गये थे। एक ओर इने-गिने बुद्धिजीवी थे और दूसरी ओर करोड़ों श्रमजीवी। दोनों के बीच भेद की गहरी खाई खुद गयी थी। बुद्धिजीवी श्रम से घबराते थे, और श्रमजीवियों को बुद्धि का लाभ नहीं मिलता था। इस प्रकार दोनों अपनी अपनी जगह

पंगु बनकर बैठे थे। ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, मालिक-नौकर और हुजूर-मजूर के विचार ने सबको इस बुरी तरह पछाड़ रखा था कि छुटकारे का कोई रास्ता ही नज़र नहीं आ रहा था।

नयी तालीम का जन्म नये समाज और नवीन मानव की रचना के विचार से हुआ था। इस तालीम में गान्धीजी ने शिक्षा के श्रेष्ठ आदर्शों का समावेश करना चाहा था। वे इस शिक्षा के द्वारा अपनी मातृ-भूमि में वास्तविक शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे; ऐसी शिक्षा, जो पुस्तकीय न हो, वरन अभिज्ञता तथा सृजनात्मक कार्यों पर निर्भर हो, जो भारतीय संस्कृति के पाये पर खड़ी हो, जिसमें शारीरिक परिश्रम के लिए यथेष्ट स्थान हो, जो अमीर-गरीब का भेद मिटावे और जो पूरे देश को एक-सूत्र में पिरो देवे। गान्धीजी के सामने एक और प्रश्न था — अर्थ। कारण, शिक्षा-विस्तार के लिए पर्याप्त द्रव्य अपेक्षित होता है। पर हमारी गरीब एवं पराधीन मातृभूमि के लिए इस महत् कार्य के निमित्त इतना अधिक धन संग्रह करना सम्भव न था। इसलिए गान्धीजी एक ऐसी शिक्षा की कल्पना में थे जो असली अवश्य हो, पर खर्चीली न हो।

गान्धीजी अपनी नवीन शिक्षा विषयक कल्पना में बहुत दिनों से निमग्न थे। उनकी शिक्षा का आरम्भ दक्षिण आफ्रिका के फिनिक्स कालोनी में अपने परिवार में ही और टालस्टाय फार्म में हुआ। दक्षिण आफ्रिका में मानव की आत्मा एवं मानवता का जो नित्य अपमान हो रहा था, और आज भी हो रहा है, उसके विरुद्ध गान्धीजी ने जो अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया, वही उनकी शिक्षा के कार्यक्रम का माध्यम रहा। इस माध्यम का प्रथम विकास दक्षिण आफ्रिका में करके बापूजी भारत में आ[illegible] यहाँ साबरमती में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। सन् १९१७ ई० के चम्पा[illegible] सत्याग्रह से लेकर उनकी जन-शिक्षा का कार्यक्रम का प्रारम्भ हुआ। यह भारत जैसे एक विराट राष्ट्र की समग्र जनता के लिए अहिंसा पर आधारित व्यक्तिगत व सामूहिक जीवन की तैयारी थी। आगे जाकर उन्होंने अपनी इस नयी शिक्षा का नाम 'बुनियादी शिक्षा' या 'नयी तालीम' दिया। जुलाई, १९३७ के 'हरिजन' के अंकों में गान्धीजी ने राष्ट्र के सामने बुनियादी तालीम की मूल कल्पना रखी। †

प्रारम्भिक कार्य

अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन, वर्धा.—२२ और २३ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा के मारवाड़ी हाईस्कूल (वर्तमान नवभारत विद्यालय) की

† हरिजन सेवक, २-७-१९३७

धुनाई और कताई का साधारण ज्ञान। (३) मातृ-भाषा। (४) गणित। (५) समाज-शास्त्र (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र का समन्वय)। (६) साधारण विज्ञान। (७) संगीत और चित्रकला। (८) हिन्दुस्तानी (उर्दू और देवनागरी लिपि-द्वारा)।

योजना की प्रगति.—जाकिर हुसैन रिपोर्ट के निकलते ही कांग्रेस-प्रदेशों अर्थात् असम, बम्बई, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रदेश में बुनियादी शिक्षा का प्रचार जोरों से आरम्भ हुआ। स्कूल स्थापित हुए, शिक्षकों तथा शासकीय अफ़सरों के लिए प्रशिक्षण और पुनर्संजीवन केन्द्र खोले गये तथा बुनियादी शिक्षा की समितियाँ स्थापित हुईं। रक्षित राज्यों में कश्मीर ने अच्छा काम किया। कुछ शिक्षा-प्रतिष्ठानों ने अपनी निजी बुनियादी शालाएँ चलायीं। इनमें उल्लेखयोग्य हैं: दिल्ली जामिया मिलिया, गुजरात विद्यापीठ, तिलक विद्यापीठ, आन्ध्र जातीय कलाशाला, इत्यादि। पर द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होते ही, योजना में शिथिलता आ गयी। तो भी देश की आज़ादी के साथ-साथ बुनियादी शिक्षा में फिर से तेजी आ गयी।

नयी तालीम पर नये विचार.—इस अवधि में गान्धीजी ने नयी तालीम को एक नया रूप दिया। १९४२ में जेल से मुक्त होने के बाद, उन्होंने घोषणा की:

> बन्दी अवस्था में नयी तालीम की शक्यता पर सोचते-सोचते मेरा दिल अस्थिर हो पड़ा। योजना की कामयाबी देखकर हमें चुप नहीं रहना चाहिए। हमें आगे बढ़ना है। हमें बच्चों के घर सुधारने पड़ेंगे, हमें उनके माँ-बाप को शिक्षा देनी होगी। बुनियादी शिक्षा का ध्येय होना चाहिए—आजीवन शिक्षा।

इस घोषणा के साथ आरम्भ हुई नयी तालीम की दूसरी मञ्जिल। बुनियादी शिक्षा का सम्बन्ध अब केवल बच्चों की तालीम में मर्यादित न रहा। इस शिक्षा का वृत्त बढ़ाना पड़ा, ताकि इस वृत्त में हर उम्र का हर व्यक्ति शामिल हो सके। जनवरी १९४५ को, सेवाग्राम में राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ताओं की एक बैठक हुई। प्रश्न था बुनियादी शिक्षा का सिंहावलोकन तथा भविष्य के लिए एक प्रोग्राम खींचना। अध्यक्षीय भाषण देते हुए गान्धीजी ने कहा:

> हमारी जिम्मेवारी सात से चौदह वर्ष के बच्चों की शिक्षा के साथ-साथ समाप्त नहीं होती। नयी तालीम के कार्य-क्षेत्र के विस्तार की बहुत आवश्यकता है। यह शिक्षा मानव-जीवन में गर्भाधान से आरम्भ होती है और मृत्यु पर्यन्त चलती रहती है।

गान्धीजी के नवीन निर्देशानुसार बुनियादी शिक्षा को आजीवन शिक्षा बनाने की ओर सम्मेलन ने ध्यान दिया। सम्मेलन ने चार समितियाँ गठित की और प्रत्येक को जीवन के एक-एक प्रक्रम के अनुकूल सुप्रयोज्य शिक्षा-योजना निर्धारित करने की जिम्मेदारी सौंपी। इन शिक्षा-प्रक्रमों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं: (१) प्रौढ़ शिक्षा, (२) पूर्व बुनियादी अर्थात् सात से कम आयु वाले बच्चों की शिक्षा, (३) बुनियादी अर्थात् सात से चौदह वर्ष वाले बच्चों की शिक्षा और (४) उत्तर बुनियादी शिक्षा, अर्थात् उन विद्यार्थियों की शिक्षा, जिन्होंने बुनियादी शिक्षा समाप्त कर ली हो।

३० जनवरी, १९४८ को गान्धीजी हम सबको रोता हुआ छोड़ इस संसार से सदा के लिए बिदा हुए। उनकी मृत्यु के पश्चात् नयी तालीम के कार्य-कर्त्ताओं ने यह शपथ ली कि जब तक हमारे दम में दम है तब तक हम नयी तालीम की यात्रा को जारी रखेंगे, तथा अपने जीवन और काम में नीचे लिखे उद्देश्यों को सामने रखकर मञ्जिल की ओर बढ़ते रहेंगे:

१. तालीम में सत्य और अहिंसा की रूह फूँकना।

२. तालीम को हाथ के काम से, कुदरती वातावरण से, और समाजी जिन्दगी से जोड़ना।

३. तालीम के द्वारा सच्ची देश-भक्ति और इन्सानी हमदर्दी सिखाना तथा साम्प्रदायिकता को मिटाना।

४. बचपन से बुढ़ापे तक की उम्र की हर सीढ़ी के लिए नयी तालीम का उचित प्रबन्ध करना।

५. बच्चों और सयानों को ऐसे समाज के लिए तैयार करना, जिसमें मुकाबिले की जगह सहयोग हो, लूट की जगह इन्साफ़ हो, आज़ादी हो जिम्मेवारी के साथ, और आर्थिक उन्नति हो नैतिक उन्नति के साथ। †

नयी तालीम के प्रक्रम

अब तनिक नयी तालीम के भिन्न-भिन्न प्रक्रमों पर विचार किया जाय।

प्रौढ़ शिक्षा.—नयी तालीम की पूरी कामयाबी के लिए आवश्यक है कि यह शिक्षा बच्चों से आरम्भ न की जाय, वरन इसकी शुरूआत बच्चों के माता-पिता, अभिभावक एवं प्रौढ़ समाज से होनी चाहिए। इसलिए नयी तालीम का प्रथम

† **नयी तालीम का चौथा सम्मेलन**, अप्रैल, १९४८।

प्रक्रम है 'प्रौढ़शिक्षा'—अर्थात् समूचे समाज की तालीम और साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी शिक्षा, जिससे कि सब लोग एक सुखी, स्वास्थ्यकर, स्वच्छ तथा स्वावलम्बी जीवन बिता सकें।

पूर्व-बुनियादी—(७ से कम आयुवाले बच्चों की शिक्षा)—ज्योंही बच्चा स्वतः अपने घर से स्कूल पैदल जाने लगता है, त्योंही शिक्षा-प्रक्रिया गृह से शाला की ओर प्रसारित होती है। पूर्व-बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य बच्चों का पूर्णतया शारीरिक एवं मानसिक विकास करना है। यह तभी संभव है जब कि शिक्षक, माता-पिता तथा समाज मिल-जुल कर बच्चों की शिक्षा में हाथ बँटावें तथा घर, स्कूल एवं गाँव एक सूत्र में गुँथ जावें। †

बुनियादी शिक्षा—(*सात से चौदह वर्ष वाले बालक-बालिकाओं के लिए*)—इस शिक्षा की इमारत प्रौढ़ शिक्षा तथा पूर्व-बुनियादी शिक्षा की नींव पर खड़ी होती है। जाकिर हुसैन रिपोर्ट का पूर्व पाठ्यक्रम दुबारा संशोधित किया गया है। योजना निम्न लिखित कार्य-कलापों से सम्बन्ध रखती है :

१. आवश्यक ज्ञान, अभ्यास, भाव तथा कौशल — जो स्वच्छ एवं स्वास्थ्यप्रद जीवन (व्यक्तिगत तथा सामाजिक) के लिए आवश्यक हो।

२. नागरिक शिक्षा (व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक)—गृह, स्कूल, ग्राम, स्वदेश तथा विश्व के ज्ञान के द्वारा। यह ज्ञान इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, सरल समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र-द्वारा दिया जाय।

३. स्वावलम्बी होने की शक्ति--अन्न-वस्त्र तथा आश्रय-प्राप्ति के लिए।

४. केन्द्रीय दस्तकारी—इनमें से कोई भी एक हस्तकार्य हो : कृषि और बागवानी, कताई और बुनाई, बढ़ईगिरी, गृह-निर्माण और मरम्मत का काम, या अन्य कोई दस्तकारी जो शिक्षा-प्रद हो और जिसके लिए स्थानिक वातावरण अनुकूल हो।

५. साधारण विज्ञान और गणित।

हाल ही में बुनियादी शिक्षा की अनुमान-निर्धारण समिति (एसेसमेण्ट कमिटी) ने सिफ़ारिश की है कि जो विद्यार्थी हाईस्कूल या अन्य उच्च विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं वे अंग्रेज़ी को वैकल्पिक विषय की भाँति छठी कक्षा से ले सकते हैं। इसी प्रकार अहिन्दी क्षेत्रों की बुनियादी शालाओं में हिन्दी एक अनिवार्य विषय कर दिया जाय।

† देखिए **अध्याय दसवाँ**।

उत्तर बुनियादी शिक्षा (पन्द्रह से अठारह वर्षवाले विद्यार्थियों के लिए)—हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की उत्तर बुनियादी समिति के निर्णय के अनुसार इस शिक्षा के ये उद्देश्य हैं : (१) इस शिक्षा की नींव भी बुनियादी शिक्षा की नाईं किसी दस्तकारी पर आधारित या केन्द्रित होना चाहिए। (२) पाठ्यक्रम अपने आप में पूर्ण हो। (३) पाठ्यक्रम में विविध प्रकार के विषयों का समावेश रहे, ताकि विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार विषयों का चयन हो सके। (४) शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। (५) पूरी शिक्षा की अवधि, पाठ्यक्रम की आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न अवश्य हो, पर तीन से चार वर्ष के भीतर की ही हो। (६) पाठ्यक्रम ऐसा हो कि अभ्यास-काल में प्रत्येक विद्यार्थी अपना खर्च स्वतः कमा ले। †

समिति ने चौदह प्रकार के कार्य प्रस्तावित किये हैं, ताकि प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुकूल कार्य का चयन कर सके। वे कार्य ये हैं : कृषि, चिकित्सा, इञ्जीनियरिंग, यन्त्रसम्बन्धी कला, वाणिज्य, हस्तकला, विद्युत, शिक्षा, पत्रकार कला, मुद्रण, ललितकला, गृह-विज्ञान, धातु-विज्ञान और उद्योग। ‡

इस शिक्षा की एक और खूबी है; और वह है स्वाश्रितता, जिसकी ओर बुनियादी और उत्तर बुनियादी—दोनों—शिक्षाओं का लक्ष्य है। पर बुनियादी शिक्षा का ध्येय है कि शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थी अपने भविष्य जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हो सके तथा विद्यार्थियों के श्रमार्जित उत्पादन से शिक्षकों के वेतन का व्यय भी निकले। पर उत्तर बुनियादी शिक्षा का आदर्श गूढ़तर है। इसका उद्देश्य है कि विद्यार्थी कौशल तथा स्वार्जित ज्ञान के द्वारा अपने विद्याध्ययन का व्यय स्वतः उठा सके, और उसे इस खर्च के लिए अपने माता-पिता तथा समाज का मुँह न ताकना पड़े। एक आदर्श बुनियादी विद्यालय का विवरण सुनिए :

> उत्तर बुनियादी पाठशाला तो एक विद्यालय-ग्राम है, जहाँ विद्यार्थी तथा शिक्षक साथ-साथ रहते हैं। वे अपने शारीरिक परिश्रम द्वारा आय से अपने लिए अन्न वस्त्रादि की आवश्यकता को स्वयं ही पूरा करते हैं। इस मेहनत का ध्येय अर्थ-संग्रह नहीं है। *

---

† Marjorie Sykes, ed. *A Picture and Programme of Post-Basic Education.* Sevagram, Hindustani, Talimi Sangh, 1954, pp. 21–22.

‡ *Ibid.*, p. 18.

* Ram Kishore. 'After Fifteen Years,' *Modern Review*, March, 1955, pp. 228–29.

उत्तम बुनियादी या विश्वविद्यालयीय शिक्षा:—१९४९ में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट निकली। इस रिपोर्ट में ग्रामीण विश्वविद्यालय की चर्चा विशेष रूप से की गयी है। बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन के सातवें अधिवेशन के समय विश्वविद्यालय (उत्तम बुनियादी) शिक्षा की आलोचना की गयी और सेवाग्राम में एक विश्वविद्यालय स्थापित करना निश्चित हुआ। एक कमिटी ने उत्तम बुनियादी शिक्षा का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम खींचा। समिति ने अध्ययन के लिए सात कार्य-कलाप ठीक किये: कृषि तथा उद्यान-विद्या, पशु-पालन तथा दुग्ध-व्यवसाय, ग्रामीण इञ्जीनियरिंग, ग्राम-उद्योग, ग्राम्य-स्वास्थ्य तथा आहार, ग्रामीण टैक्नोलोजी और ग्राम्य शिक्षा।

नवम्बर, १९५२ में विश्वविद्यालय का कार्य आरम्भ हुआ और अठारह विद्यार्थी उसमें प्रविष्ट हुए। अधिक छात्रों ने कृषि या पशु-पालन को चुना और कुछ ने इञ्जीनियरिंग या स्वास्थ्य। इतने में सन्त विनोबा की पुकार आयी। ये विद्यार्थी सेवाग्राम छोड़कर, विनोबाजी के भूदान-यज्ञ में सम्मिलित हुए। यथार्थ में विनोबाजी की भूदान-यात्रा एक परिव्राजकीय ग्राम-विश्वविद्यालय है। प्रतिदिन नये नये ग्रामों में इस जंगम विद्यालय का अध्यापन चलता है, और विद्यार्थियों को नयी तालीम का साक्षात्कार होता है।

नयी तालीम और भूदान

आज भारत में विनोबाजी ने एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न की है। हमारे लिए आशा और उत्साह की बात यह है कि भारत की जनता विनोबाजी की बात सुन रही है और उसका जवाब भी दे रही है। अभी तक ४४ लाख एकड़ भूमि और पाँच हज़ार के करीब ग्रामों का दान प्राप्त हुआ है। इसका अर्थ यह है कि नयी तालीम की विचार-धारा देश में प्रवाहित हो रही है। नयी तालीम का क्षेत्र तैयार हो रहा है।

उपर्युक्त प्रयोग के फल-स्वरूप तालीमी संघ ने यह स्वीकार कर लिया है कि जो यह ग्राम-दान आन्दोलन है, यह नयी तालीम का ही कार्य-क्रम है। दिनांक १८ जनवरी, १९५७ की बैठक में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने यह प्रस्ताव पारित किया है कि:

> पूज्य विनोबाजी के भूदान-कार्य ने अब जो ग्रामदान का रूप ग्रहण किया है उससे अहिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का कार्य प्रत्यक्ष रूप से अमल में लाने के दिन आ गये हैं। अहिंसात्मक क्रान्ति राज-सत्ता के द्वारा नहीं, किन्तु शिक्षा के द्वारा हो सकती है। इसलिए हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का कर्तव्य होता है कि इस क्रान्ति में यथा सम्भव सहयोग हो।

ग्राम-दान आन्दोलन आगे बढ़ता हुआ अब शान्ति-सेना के कार्य-क्रम तक आ पहुँचा है। शान्ति-सेना की कल्पना भारत के लिए कोई नयी बात नहीं है। आज से बीस वर्ष पूर्व गान्धीजी ने शान्ति-सेना की योजना राष्ट्र और विश्व के सामने उपस्थित की थी, लेकिन उस समय उनकी कल्पना के अनुसार काम करने का नैतिक बल इस देश में जाग्रत न था। अब सन्त विनोबाजी ने भूदान-यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण देश में एक नवीन जीवन फूँक दिया है। ग्राम-दान में मिले हुए गाँवों में ग्राम-स्वराज्य की स्थापना नयी तालीम का एक नया पर्व है। विनोबाजी ने ग्राम-शिक्षा और ग्राम-रक्षा —इन दोनों—को जोड़कर राष्ट्र के समक्ष नयी तालीम का जो समग्र कार्यक्रम रखा है उसके विषय में शिक्षक-समाज को गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए। सच्चा शिक्षक वही है जो प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-निर्भरता का और समाज की प्रवृत्तियों में अनुशासन-युक्त सहयोग की भावना का विकास करे तथा जो सबका सेवक एवं मित्र होवे।

गान्धीजी के मन में शान्ति-सेना की जो कल्पना थी, विनोबाजी ने उसकी ओर राष्ट्र का ध्यान पुनः आकर्षित किया है। शान्ति-सैनिक का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है :

> शान्ति सेना का सैनिक नित्य जन-सेवा करेगा, और नैतिक तौर पर शान्ति-कार्य करेगा। ऐसे निष्काम, निस्स्वार्थ, निष्पक्ष एवं निरपेक्ष सेवकों की सेना खड़ी होनी चाहिए।

राष्ट्र के शिक्षक ही इस शान्ति-सेना के सैनिक बन सकते हैं। नयी तालीम का ध्येय है : जब कि सारा संसार भयभीत है तब शिक्षकगण स्वेच्छा से शान्ति-सेना के स्वयंसेवक (सैनिक) बनकर विश्व में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करें।

नयी तालीम और सरकार

खेर समितियाँ.—जाकिर हुसैन रिपोर्ट की जाँच-पड़ताल के लिए 'केसशिम' ने बम्बई के मुख्य तथा शिक्षा मन्त्री श्री खेर की अध्यक्षता में दो बार समितियाँ नियुक्त कीं। प्रथम समिति ने अपनी रिपोर्ट १९३८ में तथा दूसरी ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४० में दी। प्रथम रिपोर्ट में निम्नलिखित मुख्य बातें थीं :

१. बुनियादी शिक्षा का आरम्भ पहले गाँवों में किया जाय।

२. अनिवार्य शिक्षा की आयु ६ से १४ वर्ष रखी जाय।

३. विद्यार्थियों को बुनियादी स्कूलों से अन्य स्कूलों में जाने की अनुमति कक्षा पाँचवीं अथवा ग्यारह वर्ष की आयु के बाद दी जावे।

४. सांस्कृतिक विषयों के वे अंश स्वतन्त्र रूप से सिखाये जावें, जो केन्द्रीय दस्तकारी द्वारा न सिखाये जा सकें ।

५. बुनियादी शिक्षा के अन्त में किसी बाह्य परीक्षा की ज़रूरत नहीं है। आन्तरिक परीक्षा के आधार पर एक प्रमाण-पत्र दे दिया जाय।

द्वितीय समिति ने निम्न-लिखित रिपोर्ट दी :

१. बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम आठवर्षीय अर्थात् ६ से १४ वर्ष तक के बच्चों के लिए रखा जावे, पर पाठ्यक्रम की एकता को बनाये रखते हुए इस अवधि को दो हिस्सों में बाँट दिया जाय : (१) अवर (जूनियर) बुनियादी, जो ६ से ११ वर्ष के बच्चों के लिए हो और (२) प्रवर (सीनियर) बुनियादी, जो ११ से १४ वर्ष के बच्चों के लिए हो।

२. अवर शिक्षा के समाप्त होने पर ही, विद्यार्थी अन्य उच्चस्तर की संस्थाओं में प्रवेश के लिए जाने पावें।

सारजेण्ट योजना (सन् १९४४)—'केसशिम' ने खेर समितियों की अधिकांश सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया। इसी समय अर्थात् सन् १९४४ के आरम्भ में 'केसशिम'ने अपनी 'युद्धोत्तर-शिक्षा-पुनर्निमाण योजना' प्रकाशित की। इस योजना का चालू नाम 'सारजेण्ट योजना' है; क्योंकि सर जान सारजेण्ट ने, जो कि उस समय भारत सरकार के शिक्षा-सलाहकार थे, इस योजना के तैयार करने में महत्वपूर्ण भाग लिया था। इस योजना ने खेर समितियों की रिपोर्टों पर पूर्णतः विचार किया और घोषित किया कि इस देश की राष्ट्रीय शिक्षा नयी तालीम होनी चाहिए। यह शिक्षा आठ वर्ष की अवधि की हो; पर खेर समिति की सिफ़ारिशों के अनुसार दो भागों में हो—अवर और प्रवर। पर नयी तालीम के 'क्रिया के द्वारा ज्ञान' के सिद्धान्त का सम्पूर्ण समर्थन करते हुए रिपोर्ट ने यह स्पष्ट कर दिया :

> उसकी सम्मति में विशेषतः प्राथमिक चरण में शिक्षा कभी भी स्वाश्रयी न हो ही सकती है और न होनी चाहिए। विद्यार्थियों के उत्पादन से, अधिक से अधिक, दस्तकारी के सामान ही खरीदे जा सकते हैं।†

हाल की समितियाँ—'केसशिम' के बाईसवें अधिवेशन की सिफ़ारिशों के कारण, एक केन्द्रीय बुनियादी समिति स्थापित हुई है। इस समिति का मुख्य कार्य है,

†*Sargent Report*. p. 8.

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को बुनियादी शिक्षा के लिए सलाह देना। सन् १९५५ में केन्द्रीय सरकार ने अनुमान-निर्धारण समिति (एसेसमेण्ट कमिटी) मुकर्रर की। इसे निर्देश दिया गया कि वह चुने हुए स्थानों में स्वतः जाकर बुनियादी शिक्षा की जाँच करे। समिति ने सिफ़ारिश की है:

१. प्रत्येक राज्य में विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत उत्तर-स्नातक प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित किये जावें।

२. बुनियादि शिक्षा पर गवेषणा करने के लिए, एक केन्द्रीय अन्वेषण संस्था की आवश्यकता है।

३. ग्राम-पुनर्गठन से सम्बन्धित विभिन्न सरकारी और गैरसरकारी समितियाँ शिक्षा-विभाग से मिलकर बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए कार्य करें।

४. प्रत्येक राज्य-सरकार अपनी शिक्षा-नीति स्पष्ट घोषित करें कि थोड़े ही अरसे में राज्य के सब प्राथमिक स्कूल तथा प्रशिक्षण विद्यालय बुनियादी रूप में बदल दी जावें।

५. उच्च विद्यालयों में भरती होने के समय बुनियादी तथा माध्यमिक स्कूलों के समान वर्गों को एक-सी मान्यता दी जावे।

६. दस्तकारी सिखाने के लिए, बुनियादी स्कूलों में पुराने कुशल अशिक्षित कारीगर नियुक्त किये जावें, जो बुनियादी शिक्षकों से मिलकर काम करें।

वर्तमान स्थिति—आज हमारे देशमें नयी तालीम का जो भी काम चल रहा है, वह अधिकतर सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से या सरकारी मान्यता और आर्थिक सहायता के बल पर चल रहा है। केन्द्रीय तथा राज्यीय सरकारों ने स्वीकार कर लिया है कि पूरे देशमें ६ से १४ वर्षवाले बच्चों की शिक्षा बुनियादी होगी। देश में बुनियादी स्कूल खुलते जा रहे हैं, पुरानी प्राथमिक शालाओं को बुनियादी रूप दिया जा रहा है, प्रशिक्षण स्कूलों के विद्यार्थी-शिक्षकगण इस नयी शिक्षा में प्रशिक्षित किये जा रहे हैं तथा नयी तालीम के साहित्य की उन्नति होती जा रही है। इतना होते हुए भी बुनियादी शिक्षा की प्रगति आशानुकूल नहीं हो रही है।

इसी प्रश्न के साथ राष्ट्रीय माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है। सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा को मान्यता प्रदान की है; पर

माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में नहीं। फल-स्वरूप उत्तर बुनियादी शिक्षा एक टिमटिमाते हुए दीप के समान है। पूरे देश में सिर्फ २६ उत्तर बुनियादी विद्यालय हैं (१९५६-५७)।† हाल में ही केन्द्रीय सरकार ने ग्यारह ग्राम-प्रतिष्ठान स्थापित किये हैं, जिनका बुनियादी शिक्षा से निकटतम सम्बन्ध है। इस समय पूरे देश में ५८१ प्रशिक्षण स्कूल तथा ३१ प्रशिक्षण महाविद्यालय हैं।‡

अनुमान-निर्धारण—समिति की सिफ़ारिश के कारण, राष्ट्रीय बुनियादी प्रतिष्ठान की स्थापना हाल में ही हुई है। इस संस्था का उद्देश्य नयी तालीम में खोज या अन्वेषण, तथा बुनियादी शासकों एव निरीक्षकों को बुनियादी शैली में प्रशिक्षित करना है। प्रतिष्ठान अन्य बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों से मिलकर काम करता है, वह बुनियादी शिक्षा के विविध समाचारों का लेखा रखता है तथा नयी तालीम की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करता है।

समालोचना

कुछ आक्षेप—इस योजना के प्रस्तुत होने के साथ ही साथ, भारतीय शिक्षा-जगत् में इसकी बड़ी आलोचना हुई तथा शिक्षा-विशारदों ने इसके विरुद्ध अनेक आक्षेप प्रस्तुत किये। इनमें से कुछ आक्षेपों को समझना बहुत ही आवश्यक है। प्रथम आक्षेप शिक्षा की स्वाश्रयता है। बहुतों का कहना है कि बुनियादी शिक्षा के द्वारा स्कूलें शिल्प-कुटीर केन्द्र बन जावेंगे, जिनमें बालकों का शोषण होगा। कारण, शिक्षकों का वेतन विद्यार्थियों के परिश्रम पर निर्भर रहेगा। इसके अतिरिक्त बच्चों के द्वारा प्रस्तुत माल सब समय भद्दा रहेगा। वह कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित माल के समक्ष न टिक सकने योग्य रहेगा। ऐसे में उसकी खपत भी न होगी। यह प्रायः देखा गया है कि हस्त कौशल-शिक्षा सदैव खर्चीली ही हुआ करती है। इसमें आमदनी की अपेक्षा खर्च सदैव अधिक ही रहता है।

यह आक्षेप बहुत कुछ युक्ति-संगत तथा तथ्यपूर्ण है। बुनियादी तालीम का प्रचार अनेक स्थानों में हुआ है। सबका अनुभव है कि वहाँ स्वाश्रयता नहीं पनप पायी। शायद कहीं वह सध भी सकी होगी। सारजेण्ट रिपोर्ट ने तो स्पष्ट ही कह दिया था कि शिक्षा — विशेषकर प्राथमिक शिक्षा — कभी भी स्वाश्रयी नहीं हो सकती है।*

---

† *Education in The States*, 1956-57. pp. 2-3.

‡ *L. c. cit.*

* *Sargent Report*. p. 8.

जाकिर हुसैन समिति ने भी बाद को इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा, "यद्यपि यह शिक्षा स्वावलम्बी नहीं हो सकती है, तथापि इसकी आवश्यकता है। कारण, ऐसी ही शिक्षा से राष्ट्रीय संगठन हो सकता है।"†

स्वावलम्बन की चर्चा करते हुए गान्धीजी ने कहा था कि पहली-दूसरी कक्षाओं में नुकसान होगा, इसलिए घाटा रहेगा। लेकिन कुल सात कक्षाएँ होंगी; अतएव कुल मिलाकर सब ठीक हो जायगा। बिहार सरकार का कहना है, "यदि आठ कक्षाओंवाले प्रवर बेसिक स्कूल हों — १५० विद्यार्थी प्रथम पाँच वर्गों में तथा १०० विद्यार्थी अन्तिम तीन वर्गों में — तो स्कूल का ६७ प्रतिशत खर्च, विद्यार्थी – निर्मित माल की कीमत से निकल सकता है।"‡ लेकिन आज सभी जगह आठ कक्षाएँ नहीं हैं, और सभी जगह प्रत्येक कक्षा में ३० विद्यार्थी मिलना शक्य नहीं है। उत्तर-बुनियादी भवन सेवाग्राम में देखा गया है कि विद्यार्थीगण अपने परिश्रम-द्वारा अपना ६५ प्रतिशत खर्च निकाल सकते हैं, पूरा नहीं।* सार अर्थ यह है कि स्वाश्रयता केवल आर्थिक क्षेत्र में नहीं स्वीकार करना चाहिए। हाल में ही अखिल भारतीय नयी तालीम के द्वादशवें सम्मेलन के उद्‌बोधन भाषण में डा० जाकिर हुसैन ने उत्पादक कार्य (प्रोडेक्टिव वर्क) का यथार्थ रूप समझाते हुए कहा :

> मेरी समझ में एज्यूकेशन प्रोडेक्टिव वर्क का नाम ही 'शिक्षा' है। यह काम असल में मस्तिष्क का काम है, कभी हाथ के काम के साथ, और कभी हाथ के काम से अलग। यह हाथ का काम भी हो सकता है, और मस्तिष्क का काम भी।§

द्वितीय आक्षेप यह है कि एक केन्द्रीय दस्तकारी के द्वारा पूर्ण शिक्षा देना। इस विषय में अनेक प्रश्न किये जाते हैं : क्या केन्द्रीय उद्योग-द्वारा विद्यार्थी के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है? और क्या इससे साहित्यिक शिक्षा नीरस नहीं हो जाती है? क्या इस शिक्षा के द्वारा बौद्धिक एवं व्यावहारिक माध्यम से प्रत्येक विषय का कोना-कोना पढ़ाया जा सकता है? इत्यादि। अब पहला प्रश्न लीजिए और बुनियादी पाठ्यक्रम

---

† Hindustani Talimi Sangh, *Educational Reconstruction*, 1950. p. 96.

‡ *Education in India*, 1950-51., Vol. I. p. 77.

* Ram Kishore, *op. cit.*, p. 229.

§ **द्वादश बुनियादी शिक्षा सम्मेलन,** नवम्बर, १९५०।

पर दृष्टि-निक्षेप कीजिए। इस दृष्टिपात से ज्ञात होगा कि पाठ्यक्रम में साहित्यिक विषयों का यथेष्ट समावेश है, और इसका उद्देश्य एक समन्वित एवं सर्वाङ्गीण शिक्षा देना है। पुस्तकों के पढ़ने के साथ-साथ बच्चों को अपने हाथ तथा अपनी बुद्धि को उपयोगी कामों में लगाने की क्षमता प्राप्त होती है। अपनी मातृभाषा, राष्ट्र-भाषा, स्वदेश का इतिहास, साधारण विज्ञान, इत्यादि साहित्यिक विषयों के सीखने के सिवा वह इस देश का एक उपयुक्त नागरिक तैयार होता है। सारांश यह है कि प्रचलित पाठ्यक्रम की अपेक्षा बुनियादी पाठ्यक्रम कहीं अधिक स्वाभाविक, प्रेरणादायक तथा मनोवैज्ञानिक है।

दूसरी शंका के उठने का मुख्य कारण है योजना की भ्रामक समय-सारिणी, जिसके ५½ घण्टे के दैनिक कार्यक्रम में ३ घण्टे २० मिनट केन्द्रीय दस्तकारी के लिए और केवल दो घण्टे साहित्यिक विषयों के लिए निर्धारित किये गये हैं। इस भ्रम को मिटाने के लिए जाकिर हुसैन समिति की द्वितीय रिपोर्ट का निम्नांकित अंश पढ़ना आवश्यक है :

> आधारभूत कौशल के लिए निर्धारित समय की खूब टीका-टिप्पणी हुआ करती है और कहा जाता है कि इसके कारण साहित्यिक विषयों की उपेक्षा होती है। ... ... इस विषय में हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि केन्द्रीय दस्तकारी के लिए बँधा हुआ पूरा समय केवल शिल्प-सम्बन्धी अभ्यास में नहीं व्यय हो जाता, वरन निर्धारित समय का यथेष्ट भाग दस्तकारी से सम्बन्धित मौखिक कार्य, भाषा-अभिव्यञ्जन तथा रेखाचित्र पर खर्च होता है। इसके सिवा, विद्यार्थियों को उद्योग प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक रूप अर्थात् हर क्रिया का क्या और कहाँ का परिज्ञान दिया जाता है। †

यहाँ तक सभी सहमत होते हैं, पर बुनियादी योजना में हस्त-कौशल के साथ पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों का अन्तर्योग कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है। समवाय सहज तथा स्वाभाविक होना चाहिए। यदि इस पद्धति में अधिक खींचतान की जाय, तो ज्ञान अधूरा तथा खोखला रह जाता है। सब विषयों का प्रत्येक भाग समवाय-द्वारा कभी भी नहीं सिखाया जा सकता है। बुनियादी शिक्षा के दिग्गजों ने इस कमी को शीघ्र ही समझ लिया और उन्होंने इसे हटाने की कोशिश भी की। सन् १९३९ के अक्टूबर में नयी तालीम के सम्मेलन ने निर्णय किया :

---

† Hindustani Talimi Sangh, *Educational Reconstruction*. p. 132.

> बुनियादी शिक्षण में समवाय का प्रयोग जबर्दस्ती न किया जाय। समवाय की स्थापना केवल केन्द्रस्थ दस्तकारी के साथ ही तक सीमित न रहे। यह समवाय बच्चों के भौतिक तथा सामाजिक वातावरण से भी सम्बद्ध किया जाय।†

असल में इसका अर्थ यह है कि विद्यार्थीगण जो उद्योग करते हैं, उस उद्योग के आसपास जो ज्ञान सहज-प्राप्य हो, वह उन्हें देना चाहिए।

हाल में ही केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने अंग्रेजी भाषा में 'बुनियादी शिक्षकों की पुस्तिका' (The Hand-book for Teachers of Basic Schools) प्रकाशित की है। इस पुस्तिका ने बुनियादी शिक्षण-पद्धति तथा विशेषतः समवाय के यथार्थ रूप पर नवीन प्रकाश डाला है। पुस्तिका में ठीक ही समझाया गया है कि बुनियादी पाठ्य-क्रम कार्य-कलाप पर निर्भर है। इसका उद्देश्य है विविध विषयों के पृथकत्व को दूर करना तथा उन अंशों को समन्वित करना जो सहज में ही जोड़े जा सकें। इसके सिवा बुनियादी शिक्षा जोर देती है कि तमाम तालीम जीवन के जीते-जागते साकार तथा जहाँ तक हो सके उत्पादक अनुभवों के मार्फत दी जाय। इसी प्रकार प्रत्येक बुनियादी दस्तकारी शिक्षणीय अवश्य हो; पर इसके साथ-साथ वह स्वाभाविक वातावरण के अनुकूल हो। चित्र ५ में एक कार्य-कलाप-केन्द्रित कार्य-क्रम का रूप समझाया गया है। इस आकृति से यह भी स्पष्ट होगा कि आशय-पूर्ण कार्यों-द्वारा विद्यार्थीगण किस प्रकार अपने स्थानिक वातावरण का अपने अध्ययन में उपयोग कर सकते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि समवाय केवल केन्द्रीय दस्तकारी तक ही मर्यादित नहीं है। इसकी सीमा और भी विस्तृत है।

इन आक्षेपों के सिवा, बुनियादी शिक्षा की और भी बहुत कुछ नुकताचीनी होती रहती है, जैसे: इस शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं दिया गया, विद्यार्थी की रुचि का ध्यान किये बिना ही हम उस पर एक दस्तकारी लाद देते हैं, एक ही प्रकार के या कुछ इने-गिने हस्त-कौशल के साथ माथा-पच्ची करते-करते क्रमशः उससे उपरामता हो जाती है, योजना में केवल गाँवों की आवश्यकता का ध्यान रखा गया है, अध्यापक के व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं रह गया, इत्यादि। जहाँ तक हो सका है, बुनियादी शिक्षा के कार्य-कर्त्ताओं ने इन त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा हाल में ही की है।

---

† Hindustani Talimi Sangh, *One Step Forward*, 1940. p. 219.

बुनियादी शिक्षा में समवाय
कार्यकलाप: ग्राम पर्यालोचन
ग्राम पर्यालोचन
(१) ग्राम का इतिहास
(२) कोई स्मारक चिन्ह
निवासी, धर्म तथा जाति, उद्योग तथा धन्धें, नदी तथा पहाड़, जल-प्रदाय
ग्राम की स्थिति
भाषा
फल
फसल
सब्जी
भूगोल
आयात और निर्यात
रास्ते तथा सड़क
अन्य उपज
गणित
आरोग्य शास्त्र
(१) स्वास्थ्य तथा सफाई का ज्ञान
(२) रोग तथा आकस्मिक घटनाओं से बचाव
(३) गाँव की सफाई
समाज शास्त्र
ग्राम का क्षेत्रफल
ग्राम पंचायत
स्कूल में जानेवाले बच्चों की संख्या
स्कूल में न जानेवाले बच्चों की संख्या
किसान की खेतीबाड़ी
प्रति एकड़ का खाद्य उत्पादन

चित्र ५
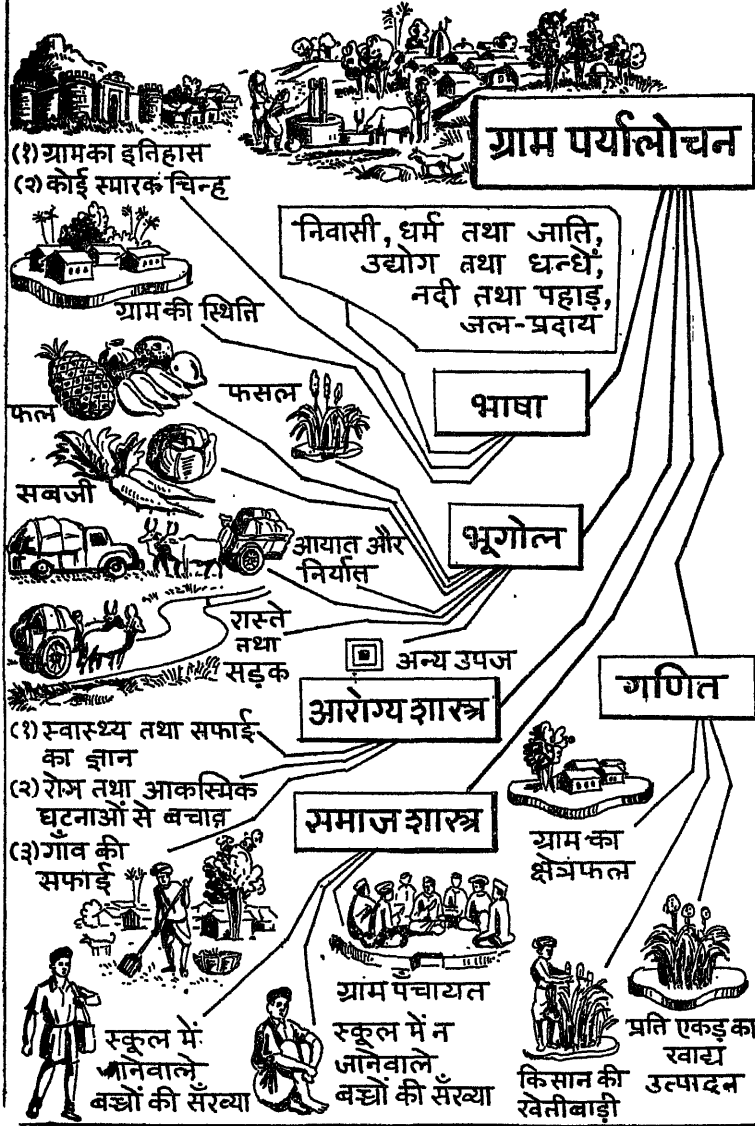
कुछ गुण.—यह निर्विवाद है कि इस शिक्षा-योजना ने भारत के शिक्षा-जगत में एक हलचल-सी मचा दी है। इसका जन्म नये समाज और नये मनुष्य की रचना के विचार से हुआ था। देश में सदियों से गुलामी की बेड़ियाँ पड़ी थीं। अपनी दूर दृष्टि से गान्धीजी ने यह देख लिया था कि भारत की उन्नति के लिए बिलकुल नयी वृत्ति, बुद्धि, भावना और शक्तियुक्त समाज की आवश्यकता है। पर देश की ग़रीबी तथा निरक्षरता इस दिशा में पद-पद पर बाधा डाल रही थी।

यही कारण है कि गान्धीजी ने एक ऐसी योजना हमारे सामने रखी, जिसके द्वारा तमाम लड़के और लड़कियों को सात साल तक मुफ्त और लाज़िमी तालीम मिल सके। चूँकि अनिवार्य शिक्षा-योजना बिना पैसे के नहीं चल सकती है, इस कारण उन्होंने एक स्वाश्रयी योजना की परिकल्पना की। पर स्वाश्रयता तो इस शिक्षा की प्रासंगिक बात थी। इस विचार ने देश में एक लहर-सी लहरा दी और प्रत्येक भारतवासी अनुभव करने लगा कि उसकी मातृ-भूमि की उन्नति अनिवार्य शिक्षा पर निर्भर है। इस तरंग के आगे अंग्रेज सरकार न टिक सकी।

गान्धीजी की बनवायी हुई योजना में बहुत महत्व की दूसरी बात यह थी कि बुनियादी शिक्षा केवल शब्दों और किताबों की शिक्षा नहीं है, बल्कि जीवन की शिक्षा है। आदमी के जीवन के तीन बड़े-बड़े क्षेत्र (मरकज़) हैं: एक, उसका प्राकृतिक वातावरण; दूसरा, उसका सामाजिक वातावरण; और तीसरा, उसका काम। इस योजना में अहिंसा के अनुसार, इन्हीं तीन को शिक्षा का मरकज़ भी माना गया है। जैसा कि डाक्टर जाकिर हुसैन कहते हैं, "इसमें बच्चों के लिए एक काम होगा। ऐसा काम जिससे कुछ काम की चीज़ बने, जो उसके अपने काम आ सके या उसके साथियों और पड़ोसियों के काम आ सके।" †

पर इस योजना में खाली काम शिक्षा का मरकज़ नहीं है, बच्चे का प्राकृतिक वातावरण भी है। मौखिक रटन्त के बदले यह शिक्षा बच्चों को सृजनात्मक कार्य के लिए तैयार करती है। इसके कारण शिक्षा में एक नयी जान आ गयी है, कक्षाओं की पुरानी नीरसता समाप्त हो गयी है, रटन्त विद्या के बदले विविध प्रकार के रचनात्मक शारीरिक कार्य होने लगे हैं। अब कक्षाएँ मानों हँसने लगी हैं और छात्रों में परिश्रम के प्रति आदर उत्पन्न हुआ है। पर सबसे उल्लेखनीय परिणाम यह है कि हमें हमारे देश के प्रचलित शिक्षा के अंग-प्रत्यंग के दोष दृष्टि में आने लगे। हम अनुभव करने लगे कि देश की शिक्षा-नीति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

† **द्वादश अखिल भारतीय नयी तालीम सम्मेलन** — उद्बोधन भाषण।

इस शिक्षा का 'बुनियादी' नामकरण क्यों हुआ? इसके मुख्य तीन कारण हैं:

१. यह शिक्षा इस राष्ट्र की सम्पूर्ण सभ्यता, संस्कृति तथा शिक्षा संघटन की नींव पर खड़ी है।

२. यह शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी को वह ज्ञान देती है जो उसके लिए अपने वातावरण को बुद्धिमत्तापूर्वक समझने तथा प्रयोग करने के लिए आवश्यक है।

३. यह शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी को अपने भविष्य जीवन के निर्वाह की क्षमता देती है।

नयी तालीम के कट्टर विरोधियों को भी मानना पड़ेगा कि इस शिक्षा ने स्वाधीन भारत के बच्चों के सामने नया आदर्श उपस्थित किया है। प्रत्येक योजना में कुछ-न-कुछ त्रुटियाँ हो ही सकती हैं। समय और अनुभव उन त्रुटियों को दूर करने का सामर्थ्य देता है।

उपसंहार.—इतना होते हुए भी नयी तालीम की सन्तोषप्रद प्रगति नहीं हुई। सन् १९५६–५७ में, अवर बुनियादी स्कूलों और पुराने प्रायमरी स्कूलों की संख्या क्रमशः ४६,८८१ तथा २,४०,४१७ थी। इसी प्रकार उस वर्ष प्रवर बुनियादी स्कूलों तथा पुराने मिडिल स्कूलों की तादाद क्रमशः ६,८९७ तथा १७,५८९ थी;† अर्थात् पुरानी संस्थाओं की संख्या प्रायः चौगुनी थी। यह स्थिति उस समय की है, जब सरकार ने ६ से १४ वर्ष के बच्चों की अनिवार्य शिक्षा के लिए नयी तालीम को अपनाना स्वीकार किया। इस मन्थर गति के अनेक कारण हैं। एक सरकारी रिपोर्ट ने स्वीकार भी किया है, "बुनियादी शिक्षा एक नवीन प्रयोग है। इसे पद-पद पर बाधाओं का सामना करना पड़ता है: उपयुक्त प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव, अर्थाभाव तथा शिक्षा-साधनों की स्वल्पता।"‡

असन्तोषप्रद प्रगति के और भी अनेक कारण हैं। नयी तालीम को चले हुए बाईस वर्ष बीत गये, पर लोग इस शिक्षा के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान सके। जैसा कि अनुमान-निर्धारण समिति ने महसूस किया है कि "बुनियादी शिक्षा के विषय में सही धारणा का अभाव है, और अभी भी अधिकतर लोगों को इस सम्बन्ध में ठीक

† *Education in the States*, 1956–57. p. 2.

‡ *Ten Years of Freedom*. p. 3.

ज्ञान नहीं है। जहाँ भी कहीं समिति के सदस्य गये, वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि बुनियादी शिक्षा की अलग-अलग रीति से व्याख्या की जाती है — ऊँचे पद के लोगों के द्वारा भी।" †

मुख्य प्रश्न यह है कि बुनियादी शिक्षा की स्पष्ट धारणा क्यों नहीं हो पायी है? इसका एक प्रधान कारण यह है कि प्रत्येक राज्य में बुनियादी शिक्षा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। कहीं प्राथमिक चरण में चार वर्ष की पढ़ाई हो रही है, कहीं पाँच वर्ष की और कहीं छः वर्ष की। कुछ स्कूलों में एक केन्द्रीय दस्तकारी के द्वारा शिक्षा दी जा रही है और कहीं दूसरे विषयों के साथ एक उद्योग सिखाया जाता है। जब सम्पूर्ण देश के प्राथमिक क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा ही अपनायी जायगी तब अत्यावश्यक होगा कि बुनियादी शिक्षा के रूप में शिक्षा का एक ही स्वरूप सारे देश में चालू किया जावे। राज्य सरकारों से मिलकर, केन्द्रीय सरकार इस नीति को स्पष्ट करे।

बुनियादी शिक्षा के समर्थकों में हम दो मत देखते हैं: कट्टरपन्थी और उदारपन्थी। कट्टरपन्थी गान्धीजी के आदर्श पर चलना चाहते हैं। वे नयी तालीम के मूल रूप में विशेष परिवर्तन नहीं चाहते हैं। वे समग्र नयी तालीम पर आस्था रखते हैं तथा उसे अक्षत रूप में रखना चाहते हैं। उदारपन्थी खेर समितियों तथा सारजेण्ट योजना द्वारा निरूपित मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं। वे नयी तालीम की महत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं, पर स्वाश्रयता का समर्थन वे नहीं करते हैं।

उदारपन्थी अनुयायियों में भी दो भेद हैं। प्रथम दल बुनियादी शिक्षा की अवधि (६-१४ वर्ष) को दो हिस्सों (अवर और प्रवर) में बाँटने का पक्षपाती है। द्वितीय दल इस बाँट का विरोध करता है। उसका कथन है कि यह बाँट बुनियादी शिक्षा में दोष लायगा। कारण, इस शिक्षा में दस्तकारी का महत्वपूर्ण स्थान है। आठ वर्ष के अविच्छिन्न — सतत — अभ्यास के बिना, उद्योग-द्वारा शिक्षा ठीक ठीक प्रतिफलित नहीं होती है। इन सब मत-भेदों के कारण, नयी तालीम की धारणा स्पष्ट नहीं हो सकती।

इसके सिवा बुनियादी शिक्षा में वैसी ही नियम-निष्ठा आ गयी है, जैसी कि हमारी पूजा-पाठ विधि में वर्तमान है। नयी तालीम की भिन्न-भिन्न क्रियाओं के लिए नियम निर्धारित किये गये हैं। यदि किसी भी कार्य-क्रम के तामील करने में थोड़ीसी

† अनुमान-निर्धारण समिति रिपोर्ट, पृष्ठ ६।

भी चूक हुई तो शिक्षक-समाज तथा निरीक्षकों को हाथ मलना पड़ता है। एक सरकारी प्रस्ताव का यह उद्धरण पढ़िए, जो कि बुनियादी स्कूलों से सम्बन्धित है :

> १. निवास की सुविधा ...... दस्तकारी के अभ्यास के लिए, सस्ते बरामदे बाँधे जावें तथा शिक्षा-साधनों और कच्चे माल के लिए स्वतन्त्र कमरे हों।
>
> २. खेती के लिए उचित तथा पर्याप्त भूमि हो।
>
> ३. शिक्षा-साधन ठीक समय में बराबर तैयार रखे जावें। ये छात्रों की संख्या के अनुसार यथेष्ट हों।
>
> ४. नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार दस्तकारी की शिक्षा के लिए प्रतिदिन साठ मिनट के दो घण्टे लगाये जावें।†

ऐसे निर्देशों का उद्देश्य कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर इसका फल विपरीत होता है। शिक्षकगण अपनी प्रेरणा-शक्ति खो बैठते हैं तथा लकीर के फकीर होकर प्रत्येक निर्देश का पालन करते हैं। यह स्मरणीय है कि नयी तालीम के साथ ग्राम-पुनर्निमाण का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। गान्धीजी का उद्देश्य था कि प्रत्येक बुनियादी स्कूल अपने गाँव का समाज-केन्द्र बनकर उसकी हालत सुधारे। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि स्कूल का पाठ्यक्रम अपने वातावरण की आवश्यकताओं पर अवलम्बित हो तथा स्थानीय समाज उसे ठीक करे। सरकारी अधिकारियों की ओर तथा एक बाहरी शक्ति के प्रभाव से यह सम्पादित नहीं हो सकता है। श्री सैयदैन का कथन है :

> ग्राम्य पाठशाला कभी भी लोक-प्रिय न हो सकेगी, जब तक कि वह स्थानीय ग्रामवासियों की रुचि, धन्धों एवं आवश्यकताओं का ख्याल नहीं करेगी। प्रत्येक स्कूल का वातावरण ऐसा हो कि बच्चे तथा उनके माता-पिता अनुभव करें कि विद्यालय एक ऐसी, सुव्यवस्थित कार्यशाला तथा गृह है जहाँ कि वे अपने घर के कार्य-क्रम को सुचारु रूप से चालू रख सकते हैं।‡

---

† Government of Bombay. *A Report of the Progress of Basic Education in the State of Bombay*, 1938–52. Bombay, Government Central Press, 1954. pp. 29–32.

‡ K. G. Saiyidain. 'Educating the Village', *Developing Village India*. Delhi, Indian Council of Agricultural Research, 1951.

हर्ष की बात है कि अनुमान निर्धारण-समिति ने यह प्रस्ताव किया है कि ग्राम-पुनर्रचना तथा बुनियादी शिक्षा साथ-साथ चले समिति ने यह सुझाव दिया है कि ग्राम-पुनर्रचना से सम्बन्धित विभिन्न अधिकारीगण बुनियादी शिक्षा के विकास में सहयोग देंगे।

बुनियादी शिक्षा की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि यह योजना वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से बिलकुल मेल नहीं खाती। चूँकि सरकार ने प्राथमिक क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा को अपना लिया है, इस कारण अवर और प्रवर बुनियादी स्कूल काफी खुल गये हैं और खुलते जा रहे हैं। पर इसके बाद के चरणों का कुछ विशेष पता नहीं चलता। ग्यारह उच्च शिक्षाग्राम-प्रतिष्ठान अवश्य खुल गये हैं, पर उत्तर-बुनियादी स्कूलों की संख्या तीस से भी कम है। इसके विपरीत पूरे देश में बारह हज़ार से अधिक माध्यमिक स्कूल तथा एक हजार कालेज हैं, और इनकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है। इस तरह स्पष्ट है कि उत्तर एवं उत्तम बुनियादी शिक्षा की स्थिति शोचनीय है और पुराने ढर्रे की शिक्षा-संस्थाओं की माँग दिनों दिन बढ़ती ही जा रही है।

बिहार के उत्तर-बुनियादी स्कूलों पर विचार करते हुए, एक सरकारी रिपोर्ट ने कहा है, "पुराने माध्यमिक स्कूल अधिक लोकप्रिय हैं, क्योंकि लोगों में मैट्रिक सर्टीफिकेट की चाह अधिक है।" † अनुमान-निर्धारण समिति ने भी बुनियादी शिक्षा की कठिनाइयों को अनुभव किया। इसी कारण समिति ने सुझाव दिया है कि उत्तर-बुनियादी शालाओं की स्थापना और बुनियादी संस्थाओं का अन्य संस्थाओं के साथ उचित सम्बन्ध स्थिर करना आवश्यक है। ‡

यह मानना ही पड़ेगा कि इस देश की शिक्षा-पद्धति में अनेक दोष आ गये थे, और इनके सुधार की ज़रूरत थी। बुनियादी विचारधारा ने भारतीय शिक्षा-संसार में एक नवीन जीवन का सञ्चार किया है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि शिक्षा-क्षेत्र में दो विभिन्न धाराएँ प्रवाहित होने लगें, और जिनके गन्तव्य मार्ग एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल हों। पर खेद की बात है कि आज हमारे देश के शिक्षा-शास्त्रियों में दो दल हैं — बुनियादी और गैरबुनियादी। इन दोनों दलों में प्रतिस्पर्धा चल रही है। यह होड़ देश के लिए हितावह एवं श्रेयस्कर नहीं है। सबसे अच्छा तो यह हो कि ये

† *Education in India*, 1951–52, Vol. I, p. 75.

‡ देखिए, पृष्ठ ५०।

दो विभिन्न धाराएँ विरुद्ध दिशाओं में न जाकर एक साथ मिल जावें। इस सम्मिलित धारा-प्रवाह में हमारी शिक्षा में व्याप्त समस्त दोषों का प्रक्षालन हो जायगा।

बुनियादी शिक्षा 'नूतन' शिक्षा है। इसने हमारे सामने नवीन विचार उपस्थित किये हैं—सृजनात्मक शिक्षा, रचनात्मक कार्य, कलात्मक कृतियाँ, परिश्रम के प्रति आदर एवं विश्वास, मातृ-भाषा के प्रति श्रद्धा, बाह्य परीक्षाओं की परिसमाप्ति, भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का सम्मान, समाजसेवा, शिक्षा का विद्यार्थी के भावी जीवन से सम्बन्ध, देश की आवश्यकताओं का ध्यान, इत्यादि। हमें इस नवीन रस में अपनी पुरानी शिक्षा-संस्थाओं को परिप्लावित कर देना चाहिए ताकि वे इस नूतन शिक्षा के नवीन दृष्टिकोण को आत्मसात कर लें। कुछ लड़खड़ाते हुए उत्तर-बुनियादी स्कूलों तथा उच्च शिक्षा ग्राम-प्रतिष्ठानों द्वारा ही इस देश का काम नहीं चल सकता है। हमारे देश में एक सुदृढ़ तथा विशाल शिक्षा-अट्टालिका की ज़रूरत है, न कि दो विभिन्न तथा कमजोर इमारतों की। शिक्षा की उन्नति विकासवाद द्वारा हो सकती है, न कि पूर्ण परिवर्तन के द्वारा।

चौथा अध्याय

प्राथमिक शिक्षा

पूर्व-पृष्ठिका

देशी शिक्षा.—जिस समय यह देश ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में आया, उस समय यहाँ देशी शिक्षा का यथेष्ट विस्तार था। समूचे देश में प्राथमिक स्कूल तथा उच्च विद्यालय पर्याप्त विद्यमान थे। प्राथमिक स्कूलों में जन-साधारण के बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा के केन्द्र थे: मदरसा, टोल या पाठशाला।† देशी शिक्षा की यह प्रथा भारत में परम्परा से चली आ रही थी। यह हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन से गुँथ गयी थी। पूर्व-अंग्रेज युग में हमारे गाँव स्वावलम्बी थे। लगभग सभी गाँवों में प्राथमिक स्कूल स्थित थे।

इस देशी शिक्षा की तहकीकात उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में की गयी। 'विलियम एडम' नामक एक पादरी की रिपोर्ट के अनुसार बङ्गाल और बिहार में प्राथमिक स्कूलों की संख्या एक लाख थी (सन् १८३८ ई०)। औसत में प्रत्येक तीन गाँव पीछे दो स्कूल थे, और प्रत्येक ४०० जन-संख्या पर एक स्कूल अवस्थित था।‡ मद्रास के गवर्नर 'मनरो' की जाँच के अनुसार मद्रास में प्राथमिक (बालकों की) शिक्षा लगभग ३३·३ प्रति शत थी (सन् १८२६ ई०)। १६ अक्टूबर, सन् १८२९ ई० की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार बम्बई प्रान्त में छात्र और जन-संख्या का पारस्परिक अनुपात का औसत १ : १३३ था। बङ्गाल में साक्षरता का प्रतिशत ६·१ था। सम्भवतः यही स्थिति भारत के अन्य प्रदेशों की भी थी।*

---

† देखिए पृष्ठ १५।

‡ A. N. Basu. *Adam's Reports.* Calcutta University, 1941. pp. 6–7.

* K. G. Saiyidain, *et. al. Compulsory Education in India.* Paris, UNESCO, 1952. pp. 12–13.

बच्चे पाँच वर्ष की अवस्था से लेकर पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा पाते थे। पाठ्य-क्रम बहुत ही साधारण तथा सरल होता था। विद्यार्थियों को लिखने-पढ़ने तथा हिसाब का साधारण ज्ञान प्राप्त होता था। स्कूल अधिकतर एक-शिक्षकीय संस्था के रूप में थे, अनेक शिक्षक अयोग्य थे, शिक्षा-पद्धति पुरानी हो चली थी, नियमित कक्षा-प्रथा का अभाव था, शिक्षा-साधनों का प्रचलन न था, पुस्तकें छपी हुई नहीं होती थीं तथा दण्ड-विधान कठोर था। सामान्यतः स्कूलों के लिए स्वतन्त्र मकान न होते थे। ये गाँव के मन्दिर, धनी व्यक्तियों के बरामदों अथवा शिक्षक के मकान में लगा करते थे। शिक्षकों की आय अधिक न थी, तथापि उनकी स्थिति वर्तमान शिक्षकों से गयी गुजरी न थी।

ईसाई पादरियों की चेष्टाएँ.—भारत में वर्तमान प्राथमिक शिक्षा के प्रारम्भ करने का श्रेय ईसाई मण्डलों तथा पादरियों को मिलना चाहिए। योरोपीय जातियों के बसने पर, ईसाई पादरी भारत में आने लगे थे, और शिक्षा-प्रसार के नाम पर धर्म-प्रचार करना चाहते थे। आरम्भ में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा को आगे बढ़ाया। जहाँ तक बन सका, ईसाई मण्डलों ने अपने प्रत्येक केन्द्र में प्राथमिक स्कूल खोले। ये केन्द्र समूचे देश में फैले हुए थे।

ईसाइयों की शिक्षा-नीति की बहुत कुछ नुकताचीनी की गयी है, पर हमारा उससे कुछ सम्बन्ध नहीं है। कुछ भी हो, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ईसाइयों ने भारत की शिक्षा-प्रणाली में एक नवीन जान डाल दी। ईसाई स्कूलों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी गयी हैं :

१. ईसाई मत के अनुसार, प्रत्येक स्कूल में धर्म शिक्षा दी जाती थी, और बाइबिल भी वहाँ एक पाठ्यपुस्तक थी।

२. पाठ्य-क्रम विस्तृत था। उसमें व्याकरण, भूगोल तथा इतिहास का समावेश था। छपी हुई पाठ्य-पुस्तकों का प्रचलन आरम्भ हुआ था।

३. स्कूल लगने का समय निश्चित था। प्रत्येक विषय के लिए समय निर्धारित था। रविवार के दिन छुट्टी मिलती थी।

४. कक्षा-प्रथा का प्रचलन आरम्भ हुआ, क्योंकि प्रत्येक स्कूल में एक से अधिक शिक्षक नियुक्त थे।

५. शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा दी जाती थी।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में एक नवीन प्रकार की शिक्षा का सूत्रपात हुआ। इसका प्रभाव देश की समूची प्राथमिक शिक्षा-पद्धति पर पड़ा।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की नीति.—अपने कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए कम्पनी ने अंग्रेजी बस्तियों में कुछ प्राथमिक स्कूल खोले। कम्पनी ने इस देश में भी अपने ही देश की शिक्षा-नीति अपनायी तथा सार्वजनिक शिक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णतः स्वयं न उठाना चाहा। न उसके पास पैसा था, और न अवकाश। वुड के घोषणा-पत्र के बाद सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की ओर कुछ ध्यान दिया। इस पत्र ने सिफारिश की कि देशी विद्यालयों को मान्यता दी जावे तथा अधिक संख्या में प्राथमिक स्कूल खोले जावें। इसके फ़ल-स्वरूप कुछ सरकारी स्कूल खोले गये, और गैरसरकारी स्कूलों को ग्राण्ट (अनुदान) मिलने लगा। पर अर्थाभाव के कारण प्राथमिक शिक्षा की दशा ज्यों की त्यों रही।

इंग्लैण्ड के नरेशों का शासन (१८५७–१९०२).— सन् १८५९ ई० में स्टेनले का आज्ञा-पत्र निकला। इस पत्र ने यह अंगीकार किया कि अर्थाभाव तथा ग्राण्ट-इन-एड की अक्षमता के कारण प्राथमिक शिक्षा गिरती हुई दशा में है। पत्र ने यह भी स्वीकार किया कि जन-साधारण की शिक्षा सरकार का मुख्य कर्तव्य है। उसे इसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेना चाहिए, और यदि आवश्यक हो तो इसके लिए स्थानीय कर भी लगाना चाहिए। इन सिफ़ारिशों का परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय सरकारें अपने स्कूल खोलने लगीं तथा बङ्गाल को छोड़कर सभी प्रान्तों में स्थानीय कर के कानून पास हुए। इस्तमरारी बन्दोबस्त (स्थायी भू-व्यवस्था) होने के कारण यह कर बंगाल में नहीं लगाया गया। सन् १८७१ ई० में लार्ड मेयो ने प्रान्तीय सरकारों को शिक्षा-विषयक अनेक अधिकार दिये और साथ ही साथ प्राथमिक शिक्षा के व्यय के विषय में कुछ निश्चित आदेश भी दिये। इन प्रयत्नों के फल-स्वरूप १८७०–७१ से १८८१–८२ तक प्राथमिक शिक्षा का यथेष्ट विस्तार हुआ। सन् १८८३–८४ ई० में लार्ड रिपन ने 'लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट एक्ट' पास किया। इसके अनुसार भारत के शहरों, क़स्बों और ज़िलों का प्रबन्ध करने के लिए नगरपालिका समितियाँ और ज़िला मण्डल स्थापित हुए। उन्हें प्राथमिक शिक्षा के प्रबन्ध का विशेष अधिकार दिया गया, और सरकार इसके प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से मुक्त हो गयी। परन्तु स्थानीय बोर्डों के अर्थाभाव के कारण प्राथमिक शालाओं की प्रगति भलीभाँति नहीं हो पायी। सन् १९०४ ई० की शिक्षा-नीति को कहना ही पड़ा :

> साधारणतः यह गणना की जाती है कि किसी भी देश की कुल जनसंख्या का १५ प्रति शत स्कूल में पढ़नेवाले बच्चे होते हैं, पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस वर्ग के एक-षष्ठांश बच्चों को भी भारत में शिक्षा नहीं मिलतीं है। सम्प्रति शिक्षा की प्रगति रुकी हुई है। स्पष्ट है कि इस शिक्षा की ओर न विशेष ध्यान ही दिया जाता है, और न यथेष्ट पैसा ही ख़र्च हुआ है।†

असन्तोषजनक स्थिति के कारण.—इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में प्राथमिक शिक्षा की विशेष उन्नति नहीं हुई। शिक्षा-नीति में अनेक भूलों के कारण, इस शिक्षा की दशा गिरती हुई रही। प्रथमतः, सरकार ने देशी शिक्षा को विशेष मान्यता न दी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है हमारे सभी गाँवों में प्रायः देशी प्रायमरी स्कूल अवस्थित थे, पर वे धीरे धीरे लुप्त हो गये। यह बात अवश्य थी कि इनमें अनेक दोष आ गये थे। इन्हें सुधारने का प्रयत्न तत्कालीन अंग्रेजी शासन को करना चाहिए था, पर देशी स्कूल निकम्मे ठहरा दिये गये। उनकी प्रतिद्वन्द्विता में आधुनिक स्कूल और कालिजों की स्थापना हो गयी। हमारी पुरानी संस्थाएँ भला इन नवागन्तुकों का कहाँ तक सामना कर सकती थीं? फलतः, अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के साथ देशी स्कूल विलीन हो गये। भारत में जहाँ कोने-कोने में देशी स्कूलों का जाल-सा फैला हुआ था, वहाँ उँगलियों पर गिने जाने वाले ये आधुनिक प्रायमरी स्कूल स्थापित हुए, सो भी इने-गिने शहरों और बड़े-बड़े क़स्बों में।

द्वितीयतः, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक नवीन शिक्षा-नीति अपनायी, जिसे हम 'शिक्षा छनने का सिद्धान्त' कहते हैं।‡ इस सिद्धान्त द्वारा निबद्ध होने के कारण, बृटिश सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उसने सोचा कि विशिष्ट समाज को उच्च शिक्षा दी जावे, और इसी शिक्षित समाज से जन-समुदाय की ओर शिक्षा-प्रवाह बढ़ाया जावे। प्रसिद्ध लेखक मेह्यू कहते हैं:

> सरकार सोचती थी कि शून्य से शिक्षा जनता की ओर प्रसारित होगी। भारतीय समाज के लिए, हिमाद्रि से विद्या बूँद-बूँद नीचे टपकने लगेगी। थोड़े ही समय में ये टपकती हुई बूँदें निर्झर और नदी के रूप में परिणत होकर धधकते हुए मैदानों की तृष्णा को बुझावेंगी।*

---

† Government of India. *Indian Educational Policy.* Calcutta, March 11, 1904. paras 15–18.

‡ देखिए पृष्ठ १८।

* A. Mayhew. *The Education of India.* Faber & Gwyer, 1928. p. 92.

पर ऐसा न हुआ। सरकार ख्याली पुलाव ही पकाती रही। उसने जो कुछ सोचा था, वह मृग-तृष्णा मात्र रहा। शिक्षित समाज ने जनता की ओर अग्रसर होने के बदले, उधर से मुँह मोड़ लिया। जो धारा नदी के रूप में विस्तृत होनेवाली थी, वह एक प्रवाह-विहीन उथली तलैया बनकर रह गयी!!

तृतीयतः, अंग्रेजों ने यह कभी अङ्गीकार नहीं किया कि प्राथमिक शिक्षा दी जावे। हण्टर कमीशन की ६०० पन्नोंवाली रिपोर्ट में, अनिवार्य शिक्षा का उल्लेख कहीं भी नहीं है। अंग्रेजों का हर समय यही कहना रहा कि अनिवार्य शिक्षा भारत के लिए दिवा-स्वप्न है। पर सबसे अचम्भे की बात यह है कि अनिवार्य शिक्षा का आन्दोलन विश्व में सबसे पहले इंग्लैण्ड से ही आरम्भ हुआ था।

उपर्युक्त तीन मूल शिक्षा-नीति के सिवा, उन्नीसवीं शताब्दी में प्राथमिक शिक्षा के असन्तोषप्रद प्रसार के अन्य कारण भी हैं:

१. **केन्द्रीकरण राजनीति.**—जिसके कारण देहाती भारत की उपेक्षा की गयी थी। स्मरण रहे कि ८० प्रति शत भारतवासी देहात में रहते हैं।

२. **भारतीय उद्योगों के प्रति उदासीनता.**—जनता के जीवन को समुन्नत बनाने के लिए कोई भी विशेष चेष्टा नहीं की गयी।

३. **शिक्षा का तिरस्कार.**—सन् १९०१-०२ में समूचे देश का शिक्षा-व्यय सिर्फ़ १,०२,७८,६५९ रुपये था। यह रक़म देश की आय का ०·८८ प्रतिशत भाग था।

अनिवार्य शिक्षा-आन्दोलन

प्रारम्भिक प्रस्ताव.—अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए सब से प्रथम सुझाव एडम साहिब ने सन् १८३८ में दिया था। उनका कहना था कि एक ऐसे कानून की आवश्यकता है, जिससे प्रत्येक गाँव कम-से-कम एक प्राथमिक स्कूल चलावे। सन् १८५२ में, बम्बई प्रान्त के लिए रेवन्यु सर्वे कमिश्नर कप्तान विन्गेट ने प्रस्ताव किया कि जमीन की आय का पाँच प्रति शत कर शिक्षा के लिए लगाया जाय और इस रक़म से किसानों के बच्चों को अनिवार्य शिक्षा दी जावे। इसके छः वर्ष पश्चात् गुजरात के स्कूलों के इन्स्पेक्टर श्री टी. सी. होप ने सिफ़ारिश की कि एक ऐसा कायदा अमल में लाया जाय, जिसके अनुसार किसी भी जगह के निवासियों को स्कूल खोलने के लिए

एक स्थानिक कर लगाने का अधिकार मिले। सन् १८८४ ई० में भड़ोच ज़िले के डिपुटी इन्स्पेक्टर ऑफ् स्कूल्स श्री शास्त्री ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आरम्भ करने का सुझाव दिया।

वाद-विवाद (१८९०-१९१८)

राष्ट्रीय जागृति.—उपर्युक्त सुझावों की ओर सरकार ने एकदम ध्यान न दिया। ये प्रस्ताव असामयिक ठहराये गये। पर इतने में समूचे देश में राष्ट्रीय भावना की जागृति का आरम्भ हो गया। अंग्रेजी शासन की बहुत कुछ त्रुटियाँ थीं, तथापि इस शासन से देश को अनेक लाभ भी हुए। उसने भारत के बिखरे भागों को एक में मिला दिया, और एकता की सृष्टि की। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से देश में पाश्चात्य विचारों का प्रसार होने लगा। सोता हुआ भारत जाग उठा। देश में चारों ओर सुधार की पुकार मच गयी। इस प्रकार नवीन भारत का प्रादुर्भाव हुआ। पर हमारे नेताओं ने देखा कि शिक्षा की उन्नति के बिना राष्ट्रीय संगठन कठिन है। देखिए, स्वामी विवेकानन्द ने क्या भविष्यद्वाणी की :

> राष्ट्र अग्रसर क्यों नहीं हो रहा है ? हमारी प्रथम आवश्यकता है शिक्षा का प्रचार। ... ... राजाओं की सत्ता कहाँ लुप्त हो गयी है ? जनता के पास। इस जनता के सुधार की आवश्यकता है। समाज-सुधार का प्रथम सोपान शिक्षा है।

बम्बई में चेष्टाएँ.—सन् १८८० ई० से हमारे कई जन-नायक अनिवार्य शिक्षा के प्रसार के लिए प्रयत्नशील थे। सन् १८८५ ईस्वी में 'इंडियन नेशनल काँग्रेस' का जन्म हुआ, और परिणाम स्वरूप शिक्षा की माँग बढ़ी। अंग्रेजी भारत में अनिवार्य शिक्षा के लिए प्रथम सुव्यवस्थित प्रयत्न बम्बई के सर इब्राहीम रेहमतुल्ला तथा सर चिमनलाल सीतलवाड ने किया। इन्हींके यत्न के कारण, बम्बई सरकार ने एक समिति नियुक्त की (सन् १९०६)। जाँच पड़ताल द्वारा इसे यह निर्णय करना था कि बम्बई नगर में अनिवार्य शिक्षा लागू की जा सकती है या नहीं। समिति ने फैसला दिया कि इस विचार को कार्यान्वित करने का अनुकूल समय अभी नहीं आया है, अतएव अभी ठहरने की आवश्यकता है।

मार्गदर्शक बड़ौदा.—तत्कालीन ब्रिटिश शासन जो गुरुतर कार्य न कर सका, उसे एक भारतीय नरेश ने क्रियान्वित किया। ये थे बड़ौदा-नरेश महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़। सन् १८९३ ई० में उन्होंने अनुभव प्राप्त करने के लिए

अपने राज्य के अमरेली ताल्लुके में निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा जारी की। तत्पश्चात् सन् १९०६ ई० में, इसका विस्तार अपने पूरे राज्य में कर दिया।

स्वर्गीय गोखले के प्रयास.—अंग्रेजी राज्य में जन-प्रमुखों ने अनुभव किया कि स्वयं अपने पाँवों पर खड़े हुए बिना भारत में शिक्षा की उन्नति असम्भव है। इस आन्दोलन के कर्णधार प्रसिद्ध तत्कालीन नेता स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले थे। सन् १९१० में उन्होंने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काऊन्सिल में प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का आशय यह था कि भारत के उन भागों में छः से दस वर्ष के बालकों को अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा दी जावे, जहाँ पर ३३ प्रति शत साक्षरता है। किन्तु सरकार के आश्वासन देने पर गोखलेजी ने अपना यह प्रस्ताव वापस ले लिया।

पर जब सरकार ने आश्वासन के बावजूद कुछ न किया, तब दूसरे वर्ष श्री गोखले ने अपना दूसरा विधेयक काऊन्सिल में उपस्थित किया। विधेयक की शर्तें बहुत ही सावधानी से रखी गयी थीं। मुख्य शर्तें ये थीं : (१) यह योजना केवल उन स्थानों में प्रयुक्त की जावे, जहाँ पर ६ से १० वयोवर्ग वाले बच्चों (बालक-बालिकाओं) के एक निर्धारित प्रतिशत को शिक्षा मिल रही हो। (२) अनिवार्य शिक्षा पहले बालकों के लिए लागू की जावे, और बाद में क्रमशः लड़कियों के लिए व्यवहृत की जाय। (३ इस योजना को अपने सम्पूर्ण अधिकार-क्षेत्र या उसके कुछ भाग विशेष में एकदम लागू न करने का अधिकार स्थानीय बोर्डों पर छोड़ दिया जाय। (४) अनिवार्य शिक्षा का खर्च चलाने के लिए प्रत्येक स्थानीय मण्डल को कर लगाने का अधिकार दिया जावे। (५) योजना को अमल में लाने के लिए प्रान्तीय सरकार की अनुमति अपेक्षित है।

विधेयक पर दो दिनों तक गरमागरम बहस हुई। पर ५१ सदस्यों में से केवल १३ सदस्यों ने श्री गोखले का समर्थन किया। सरकारी एवं जमींदार सदस्यों ने घोर विरोध किया, किन्तु गोखले हतोत्साह न हुए। उन्होंने अपनी बहस को समाप्त करते हुए कहा था :

> मैं जानता था कि सन्ध्या तक मेरा विधेयक उखाड़कर फेंक दिया जायगा। इस पर मुझे न कोई शिकायत है और निराशा ही है। ... ... मैं सदैव सोचता हूँ और कहता हूँ कि इस पीढ़ी के भारतवासी अपनी मातृ-भूमि की सेवा अपनी असफलताओं के द्वारा ही कर सकते हैं। ... ... कर्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए असफलता अकर्मण्यता से श्रेयस्कर है।†

† G. K. Gokhale. *Speeches*, Madras, Natesan, 1917. p. 650.

उपसंहार.—पर गोखले के प्रयास सर्वथा निष्फल न हुए। सन् १९१०-१९१७ के बीच, प्राथमिक शिक्षा का गैरसरकारी प्रसार हुआ। तब सरकार भी चुप न रह सकी। सन् १९११ में बृटिश पार्लमेण्ट ने भारतीय अण्डर-सेक्रेटरी को प्राथमिक शिक्षा के प्रति यथेष्ट ध्यान देने का निर्देश दिया। सन् १९११-१२ में इस देश में सम्राट् पञ्चम जार्ज का शुभागमन हुआ। उन्होंने दिल्ली दरबार में पचास लाख रुपयों का आवर्तक वार्षिक अनुदान प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए स्वीकृत किया। सन् १९१३ ई० में भारत सरकार ने अपनी शिक्षा-नीति में प्राथमिक,शिक्षा के सम्बन्ध से यह आदेश प्रसारित किया :

१. प्राथमिक शिक्षा में निम्न-प्राथमिक विद्यालयों का विकास और विस्तार किया जाय।

२. केन्द्रीय ग्रामों में उच्च-प्राथमिक स्कूल अधिक संख्या में खोले जावें।

३. साधारणतः प्राथमिक शिक्षा का प्रसार बोर्ड स्कूलों के द्वारा हो। जहाँ यह न हो सके, वहाँ स्वीकृत स्कूल 'ग्राण्ट-इन-एड' पद्धति पर चलाये जायँ।

इसी अवसर पर प्रथम विश्व-युद्ध शुरू हुआ। इस कारण ऊपर के प्रस्ताव कार्यान्वित न किये जा सके। युद्धकाल में भारत को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। पर अन्त में सन् १९१९ ई. में इंग्लैण्ड की सरकार ने भारतवासियों को माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार प्रदान किये। भारत-सरकार की शिक्षा-नीति पर इस सुधार का अनुकूल प्रभाव पड़ा।

अनिवार्य शिक्षा का प्रसार (१९१८–४७)

एक नवीन दृष्टिकोण.—सन् १९२१ ई० से माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों पर कार्य आरम्भ हुआ। इसके अनुसार शिक्षा हस्तान्तरित होकर भारतीय मन्त्रियों के हाथ आ गयी। तत्पश्चात् गवर्नमेण्ट ऑफ् इण्डिया एक्ट (१९३५) ने प्रान्तीय शासन में पूर्ण स्वशासन प्रतिष्ठित किया। इनके फल-स्वरूप भारतीय मन्त्रियों ने बड़े परिश्रम और उत्साह से काम किया, और जनता में शिक्षा का चाव उत्पन्न किया। इसी समय (१९१६–१९२०) भारतीय राष्ट्रीय-जगत में गान्धीजी का उदय हुआ। उन्होंने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन को एक नया रूप दिया। उनकी प्रेरणा से यह आन्दोलन देश के गाँव-गाँव और घर-घर में फैला। सम्पूर्ण देश में एक नया जोश जागृत हुआ, और सभी ने

यह अनुभव किया कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का काम शिक्षा के बिना कदापि न चल सकेगा; अतएव शिक्षा परम आवश्यक है।

अनिवार्य शिक्षा के कानून.—अगस्त, १९१७ की घोषणा† के बाद सभी अंग्रेजी प्रान्तों की विधायिका सभाओं के सदस्यगण निरक्षरता दूर करने के लिए प्रयत्न करने लगे। उन्होंने अनिवार्य शिक्षा की ओर ध्यान दिया। पृष्ठ-भूमि तो स्वर्गीय गोखले ने पहले ही तैयार कर रखी थी। उन्होंने जो बात समूचे देश के लिए चाही थी, उसे श्री विट्ठलभाई पटेल ने बम्बई के लिए कर दिखाया। सन् १९१७ ई० में उन्होंने बम्बई प्रान्त के, बम्बई नगर को छोड़कर, नगरपालिका क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा जारी करने के उद्देश्य से प्रान्तीय धारा-सभा में एक विधेयक उपस्थित किया। दो छूटों को छोड़कर यह बिल गोखलेजी के विधेयक से मिलता-जुलता था : (१) यह बिल केवल नगरपालिका के क्षेत्रों के लिए लागू होता था, पर गोखलेजी के विधेयक में गाँव भी शामिल थे। (२) सरकार पर आर्थिक जवाबदेही नहीं रखी गयी थी। पर यदि सरकार चाहे तो अनिवार्य शिक्षा के कुल खर्च का एक भाग, जिसे वह स्वयं निश्चित करे, दे सकती थी। श्री गोखले के विधेयक की शर्तों के अनुसार अनिवार्य शिक्षा के दो-तिहाई खर्च की जिम्मेवारी सरकार पर रखी गयी थी।

श्री विट्ठलभाई का विधेयक पारित होकर "बम्बई प्रायमरी एजुकेशन एक्ट, १९१८" के रूप में प्रसारित हुआ। प्राथमिक शिक्षा का यह सबसे प्रथम कानून है। इस एक्ट ने प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य बनाने की सार्वजनिक माँग को वैधानिक स्वीकृति दी। इस कानून से भारत के दूसरे प्रान्त भी प्रभावित हुए बिना न रहे। सभी प्रान्तों में धड़ाधड़ अनिवार्य शिक्षा के कायदे बनाये गये। सामान्यतः ये कानून एक दूसरे से मिलते-जुलते-से हैं, और वे गोखले-बिल या पटेल-एक्ट के आधार पर बनाये गये हैं। जो स्थानीय मण्डल अनिवार्य शिक्षा की इच्छा करते हैं, वे पहले स्थानिक आवश्यकताओं का अध्ययन करते हैं। इसके बाद वे अनिवार्य शिक्षा की एक योजना तैयार करते हैं। वह योजना मण्डल के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से उनकी विशिष्ट बैठक में पारित की जाती है। इसके पश्चात् प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति प्राप्त की जाती है, जो अत्यावश्यक होती है। यह आवश्यक नहीं होता कि अनिवार्य शिक्षा मण्डल-क्षेत्र के सम्पूर्ण भाग में लागू की जावे। यह धीरे-धीरे एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में लागू की जा सकती है। शिक्षा के व्यय के लिए स्थानीय मण्डल शिक्षा-कर लगा सकते हैं।

---

† देखिए पृष्ठ २१।

अनिवार्य शिक्षा प्रायः ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों लिए जारी की गयी है। उन क्षेत्रों में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है, जहाँ पर विशिष्ट शिक्षा-कर लगाया जाता है।

अनिवार्य शिक्षा की प्रगति.—सन् १९२१-३७ के बीच, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की प्रगति के आँकड़े नीचे दिये गये हैं :

तालिका ४

अंग्रेजी भारत में अनिवार्य शिक्षा, १९२१-३७†

वर्ष	नगर-पालिका तथा शहरी क्षेत्र	देहाती इलाके
१९२१-२२	८	——
१९२६-२७	११४	१,५७१
१९३१-३२	१५३	३,३९२
१९३६-३७	१६७	३,०३४

ऊपर के अंकों से यह स्पष्ट ही होगा कि अनिवार्य शिक्षा की प्रगति सन्तोषप्रद नहीं हुई। इसके मुख्य दो कारण थे। प्रथमतः, सन् १९३१-३७ के बीच सम्पूर्ण जगत् में एक विश्वव्यापी मन्दी छा गयी, इस कारण किसी भी शिक्षा-योजना को ठीक-ठीक चलाना असम्भव था। द्वितीयतः, हार्टग-समिति की सिफ़ारिशों के अनुसार सरकार ने ठोस नीति अपनायी। इसके अनुसार कमज़ोर स्कूलों का खात्मा कर दिया गया। सन् १९३७ ई० के पश्चात् छः प्रदेशों में कांग्रेस के शिक्षा-मन्त्री नियुक्त हुए। साथ ही, आर्थिक स्थिति में भी कुछ सुधार हुआ। इस कारण अनिवार्य शिक्षा की थोड़ी बहुत प्रगति हुई। सन् १९४६-४७ में, अनिवार्य शिक्षा २२९ शहरों और १०,०१७ गाँवों में, केवल बालकों के लिए, तथा १० शहरों और १,४०४ गाँवों में, बालक-बालिकाओं के लिए, चालू थी।

† K. G. Saiyidain, *et. al. Compulsory Education in India. op. cit.* pp. 147-148.

वर्तमान स्थिति

प्रशासन

प्रबन्ध.—प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध तीन विभिन्न कार्य-कर्त्ताओं के हाथ में है : (१) राज्य सरकार, (२) स्थानीय बोर्ड और (३) स्वसंचालित संस्थाएँ (प्रायः सभी को ग्राण्ट मिलता है)। इस दृष्टि से प्राथमिक स्कूलों का विभाजन निम्नांकित तालिका में प्रदर्शित किया गया है :

तालिका ५

प्राथमिक स्कूलों का विभाजन, १९५५-५६†

अनुशासन	स्कूलों की संख्या	कुल स्कूलों [illegible] प्रतिशत
राजकीय	६४,८२७	के विधेयक में गयी थी। पर
जिला-मण्डल	१,३३,२९६	जैसे वह स्वयं सार अनिवार्य
नगर-पालिका-मण्डल ...	८,९२७	[illegible]
स्वसंचालित संस्थाएँ :		
सहायता-प्राप्त ...	६७,२६३	२४·२
सहायता-रहित ..	३,८२२	१·४
योग ...	२,७८,१३५	१००·००

अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा-परिषद.—भारतीय संविधान के ४५ वें अनुच्छेद के निर्देश को क्रियान्वित करने के लिए पहली जुलाई, १९५७ को एक 'अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा-परिषद' की स्थापना की गयी है। इस परिषद के मुख्य उद्देश्य ये हैं : केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को सलाह देना, प्रारम्भिक शिक्षा की प्रगति का सिंहावलोकन, प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार तथा सुधार के लिए योजना तैयार करना, शोध तथा अनुसन्धान, शिक्षकोचित साहित्य तैयार करना, प्रारम्भिक शिक्षा का आदर्श सर्वेक्षण, पाठ्यक्रम पर विचार, इत्यादि। इस परिषद के २३ सदस्य

† *Education in India.* 1955–56, Vol I. p. 55.

हैं : चौदह राज्य सरकारों के प्रतिनिधि, 'केसशिम' का एक प्रतिनिधि, अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद् का एक प्रतिनिधि, एक प्रशिक्षण विद्यालय का अध्यक्ष, बुनियादी शिक्षा, स्त्री-शिक्षा तथा अनुसूचित जातियों की शिक्षा के दो-दो विशेषज्ञ। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के शिक्षा-परामर्शदाता, इस परिषद् के 'अध्यक्ष' तथा उसी मन्त्रालय के बुनियादी और समाज-शिक्षा विभाग के प्रमुख 'मन्त्री' हैं। गैरसरकारी सदस्यों का कार्य-काल दो साल निश्चित है।

वित्त

स्रोतवार खर्च.—प्राथमिक शिक्षा का खर्च पाँच स्रोतों से निकलता है : सरकारी (केन्द्रीय तथा राजकीय) निधि, स्थानीय मण्डल-निधि, फीस और दूसरे स्रोत ([illegible] इत्यादि)। सन् १९५५-५६ ई० में प्राथमिक शिक्षा के स्रोतवार [illegible] लिखित तालिका में दिखाया गया है :

१९२१–२२

१९२६–२७

१९३१–३

तालिका ६

[illegible]क्षा पर स्रोतवार कुल प्रत्यक्ष व्यय, १९५५-५६†

	रक़म (रुपयों में)	कुल व्यय का प्रति शत
राजकीय निधि	३९,५५,१०,६७१	७३·६
जिला मंडल-निधि	६,२४,७४,२६६	११·६
नगरपालिका-निधि	४,४९,८३,०७९	८·४
फीस	१,७५,२७,१२७	३·३
दान	६२,८२,१६४	१·२
दूसरे स्रोत	१,०४,९४,७५९	१·९
योग ...	५३,७२,७२,०६६	१००·००

† *Education in India*, 1955–56, Vol 1. p. 75.

इस प्रकार सन् १९५५-५६ ई० में जो कुल खर्च हुआ, सरकार ने उसके प्रायः तीन-चौथाई का खर्च उठाया। समय-समय पर केन्द्रीय सरकार राज्य-सरकारों को काफी रक़म अनुदान के रूप में देती है। लेकिन यह रक़म निश्चित नहीं रहती है। स्थानीय मण्डलों, दान तथा दूसरे स्रोतों का अंश-दान विशेष सराहनीय नहीं है। जिन क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है, वहाँ शिक्षा निःशुल्क है। दूसरे क्षेत्रों में भी सरकार तथा स्थानीय मण्डल मुफ्त शिक्षा देते हैं। गैरसरकारी स्कूलों में फीस लगती है। सन् १९५५-५६ में समूचे देश के प्रत्येक प्राथमिक छात्र का औसत वार्षिक खर्च २३·४ रुपये था।

ग्राण्ट-इन-एड पद्धतियाँ.—इसकी चर्चा तीन स्तरों में की जा सकती है — केन्द्रीय-राज्यीय अनुदान, राज्यीय-स्थानीय अनुदान और स्वसंचालित संस्थाओं को राज्यीय या स्थानीय अनुदान। प्रथम अनुदान सदैव अनिश्चित रहता है। यह रक़म केन्द्रीय योजनाओं तथा आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहती है। द्वितीय अनुदान-नीति पूरे देश में एक-सी नहीं है। प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी नीति है। वर्तमान तरीकों का सार नीचे दिया गया है:

१. खण्ड अनुदान-नीति — मध्यप्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में ग्रामीण क्षेत्रों की प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेवारी स्थानीय मण्डलों पर है। इस कार्य के लिए राज्य-सरकार उन्हें एक निश्चित रक़म द्वारा मदद करती है।

२. कुल खर्च का एक निर्दिष्ट प्रति शत अनुदान (बिहार, बम्बई, पंजाब) — राज्यीय सरकार स्थानीय मण्डलों को कुल खर्च का एक बँधा हुआ हिस्सा अनुदान स्वरूप देती है। यह रक़म ज़िला-मण्डल तथा नगरपालिका-मण्डल के लिए भिन्न होती है।

३. स्थानीय मण्डल अपने राजस्व का एक विशिष्ट अंश प्राथमिक शिक्षा पर खर्च करता है। इन क्षेत्रों में स्थानीय बोर्डों की जिम्मेवारी अति सामान्य रहती है। राज्य-सरकार खर्च का अधिक भार स्वयं उठाती है। बंबई राज्य के ज़िला तथा अनधिकृत नगर-पालिका-मण्डलों के लिए यह प्रथा लागू है।

वर्तमान समय में पहली प्रथा उठती जा रही है। सरकार अनुभव कर रही है कि प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेवारी स्थानीय मण्डलों पर पूर्णतः नहीं छोड़ी जा सकती है। कई राज्य-सरकारें स्वतः स्कूल खोल रही हैं, और कई स्थानीय बोर्डों के अंशदान को

बाद देकर शेष खर्च खुद देती हैं। स्वसंचालित संस्थाओं को स्थानीय मण्डलों के द्वारा ग्राण्ट दिया जाता हैं। सरकार कभी-कभी स्थानीय बोर्डों को खण्ड-अनुदान भी देती है। इसका उद्देश्य यह रहता है कि इस आर्थिक सहायता-द्वारा बोर्ड अत्यावश्यक सुधारों को कार्य-रूप में परिणत कर सकें।

अन्य प्रश्न

स्कूल तथा छात्र-संख्या.—सन् १९४७ के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा की काफी प्रगति हुई है। सन् १९४७-४८ में देश भर में १,४०,१२१ प्राथमिक स्कूल थे। इनकी छात्र-संख्या १,१०,००,९६४ थी। आठ साल बाद प्रायमरी स्कूलों की संख्या २,१५,३२० तथा उनकी छात्र-संख्या १,७९,८५,०७४ पहुँची। पिछले अध्याय में यह बतलाया गया है कि आज भारत की स्वीकृत शिक्षा-प्रणाली बुनियादी शिक्षा है। इस दृष्टिकोण से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में बदलने की चेष्टा कर रही हैं। नये बुनियादी स्कूल भी खोले जा रहे हैं। तिस पर भी अधिकतर प्रारम्भिक स्कूल प्राथमिक हैं। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट होगा:

तालिका ७

प्राथमिक तथा बुनियादी शिक्षा, १९५१-५२ से १९५६-५७†

वर्ष	स्कूल		छात्र-संख्या (हजारों में)	
	प्राथमिक	बुनियादी	प्राथमिक	बुनियादी
१९५१-५२	२,१५,३६६	३३,७५१	१,९०,२३	२९,८५
१९५२-५३	२,२२,४१०	३४,२२३	१,९५,५१	२९,६०
१९५३-५४	२,३९,८०८	३४,९४०	२,०८,४३	३०,३१
१९५४-५५	२,६४,१३९	३७,३९५	२,२२,४३	३१,५५
१९५५-५६	२,७८,७६८	४२,९७१	२,२९,६६	३७,३०
१९५६-५७	२,८८,०९१	४६,८५५	२,३९,०७	४१,०३

† *India*, 1959. p. 113.

अनिवार्य शिक्षा.—सन् १९४७-४८ ई० में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा २२४ शहरों तथा १०,०१० गाँवों में चालू थी, तथा १९५५-५६ में १,०९३ शहरों तथा ३७,२७६ गाँवों में थी। सन् १९५१ की जन-संख्या के अनुसार भारत में शहरों तथा ग्रामों की संख्या क्रमशः ३,०१८ तथा २,८५,०८९ थी। अर्थात् आज (१९५५-५६) भारत के एक-तिहाई शहर तथा एक-दशांश गाँव अनिवार्य शिक्षा का लाभ उठा रहे हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि अनेक शहरों तथा गाँवों में अनिवार्य शिक्षा सम्पूर्ण क्षेत्र में नहीं, वरन् कुछ अंशों में ही जारी है।

शिक्षक.—सन् १९५५-५६ में समूचे देश के प्राथमिक शिक्षकों की संख्या ६,९१,२९५ थी। औसतन प्रत्येक शिक्षक के अधीन ३३ विद्यार्थी पढ़ते थे। पर सब से खेद की बात यह है कि एक-शिक्षकवाले स्कूलों की संख्या दिन-प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है। इसका अन्दाज निम्नांकित तालिका से चलेगा:

तालिका ८

एक-शिक्षकवाले प्राथमिक स्कूल

वर्ष	स्कूल
१९४९-५०	६७,७६२
१९५०-५१	६८,८४१
१९५१-५२	७१,७६२
१९५२-५३	८६,०३१
१९५४-५५	१०१,३४२
१९५५-५६	१११,२२०

पाठ्यक्रम.—पाठ्यक्रम में अधिकतर मातृभाषा, गणित, भूगोल, भारत का इतिहास एवं सृष्टि-विज्ञान का समावेश रहता है। पर पढ़ाई का लक्ष्य विद्यार्थियों के वातावरण की ओर नहीं रहता है। गाँव तथा शहर के पाठ्यक्रम में कोई अन्तर नहीं

है। रटन्त विद्या का प्रचार अधिक है। साथ ही रचनात्मक कार्य का अभाव है। पिछले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि सरकार का ध्येय है कि प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में परिवर्तित किया जाय। इसी उद्देश्य का पहला क़दम है, गैरबुनियादी स्कूलों में उद्योग की शिक्षा देना।

शाला-गृह.—स्कूलों की इमारतें सन्तोषजनक नहीं हैं। केवल सरकार तथा स्थानीय बोर्डों ने खास शाला-गृह निर्मित कराये हैं, पर कुल छात्र-संख्या का ३० प्रति शत ही ऐसी इमारतों में शिक्षा पा रहा है। अधिकतर स्कूल किराये के मकानों, सरायों तथा मन्दिरों में लगते हैं। ऐसी जगहों में हवा तथा प्रकाश का नामोनिशान नहीं रहता है। वहाँ बच्चे बन्द कमरों में ठूँस दिये जाते हैं।

व्यर्थता.—आज साधारण जनता शिक्षा में दिलचस्पी दिखा रही है। तिस पर भी प्राथमिक शिक्षा में व्यर्थता की मात्रा इतनी अधिक है कि शिक्षा के विस्तार से वास्तविक लाभ नहीं हो रहा है। १९५२–५३ में स्कूलों में पहली कक्षा में भरती हुए प्रति १०० बच्चों में से ६४ दूसरी कक्षा में (१९५३–५४), ५१ तीसरी कक्षा में (१९५४–५५) और सिर्फ़ ४३ चौथी कक्षा (१९५५–५६) में शिक्षा पाते रहे।† इस प्रकार ५७ बच्चे स्थायी साक्षरता के लिए न्यूनतम माने जानेवाले चार वर्षों के पाठ्यक्रम को पूरा करने के पहले ही पढ़ना छोड़ बैठे। व्यर्थता के अनेक कारण हैं, जैसे: (१) अनिवार्य शिक्षा-विषयक एक्टों का भली भाँति पालन न करना; (२) लोगों की गरीबी; (३) माता-पिता की शिक्षा के प्रति उदासीनता; (४) पाठ्यक्रम की अनुपयुक्तता; (५) शिक्षण की प्रभाव-हीनता; (६) एक-शिक्षकवाले स्कूलों का बाहुल्य; (७) बहुत से स्कूलों का नाम मात्र के लिए अस्तित्व, इत्यादि।

अवरोधन.—व्यर्थता (अपव्यय) से संलग्न दूसरा दोष अवरोधन (स्थिरता) का है जो प्राथमिक शिक्षा में पाया जाता है। अवरोधन का अर्थ है बालक का एक ही कक्षा में एक वर्ष से अधिक रुक जाना। प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक कक्षा में प्रति वर्ष २० से ३० फी सदी विद्यार्थी रोक लिये जाते हैं। सर्वाधिक निराशाजनक स्थिति पहली कक्षा की रहती है। यह कक्षा एक गँदले कुण्ड के समान बनी रहती है।

इस अवरोधन का विषाक्त परिणाम विद्यार्थी, माता-पिता तथा पूरे राष्ट्र पर पड़ता है। असफलता के फल-स्वरूप ऊंची कक्षा में न जा सकने के कारण विद्यार्थी

---

† *Education in India*, 1955–56, Vol. I, p. 64.

भारत में प्राथमिक शिक्षा
१९५५-५६
प्राथमिक स्कूलो में ६-११ वयोवर्ग के बच्चे
५३
स्कूल के भीतर
४७
स्कूल के बाहर
स्कूलों का बन्दोबस्त
प्रति ३ गाँवोमें १ स्कूल
व्यर्थता
प्रत्येक पूर्ण प्रतिरूप=२०
४३
५१
६४
१००
कक्षा १
कक्षा २
कक्षा ३
कक्षा ४
अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध
प्रति ३ शहरों में १
प्रति १४ गाँवो में १
एक-शिक्षक स्कूल
प्रति ३ स्कूलो में १ एक शिक्षक स्कूल
शिक्षा-खर्च
रूपये ५३·७२ करोड़
सरकारी निधि ७३·६ प्रतिशत
स्थानीय बोर्ड निधि १२·१ प्रतिशत
नगरपालिका मण्डल निधि ९·० प्रतिशत
फ़ीस ३·० प्रतिशत
दान १·३ प्रतिशत
दूसरे स्रोत २·० प्रतिशत
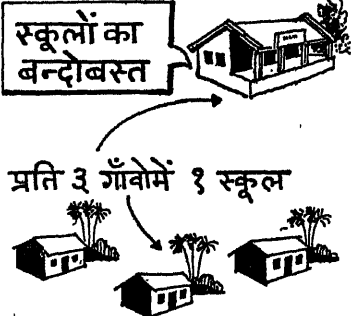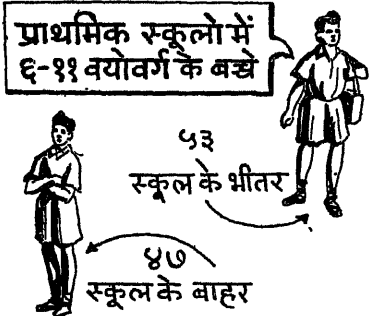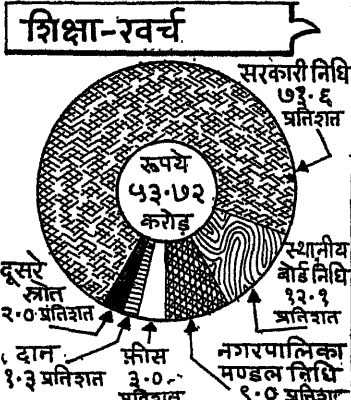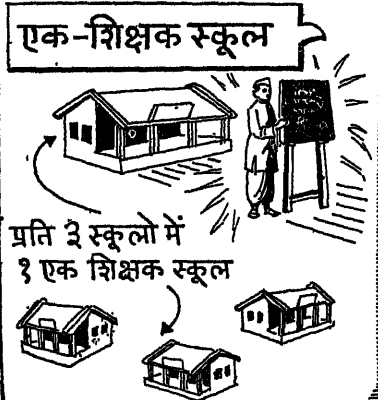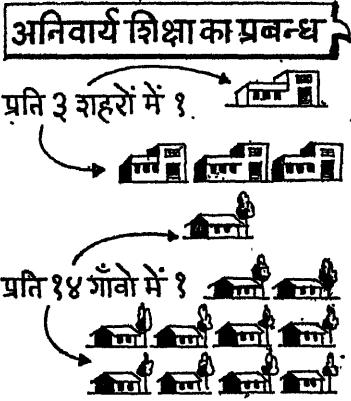
चित्र ६

निरुत्साह हो जाते हैं, उन्हें उनके माता-पिता स्कूल से खींच लेते हैं, देश की सम्पत्ति का अपव्यय होता है तथा राष्ट्र की भावी निधि — बालकों — का विकास पूर्णरूपेण होना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार शिक्षा की व्यर्थता की वृद्धि होती है। हमें यह नहीं भुलाना चाहिए कि विद्यार्थी स्कूल में विद्याध्ययन के लिए आते हैं, न कि वार्षिक परीक्षा में ठोकर खाकर पश्चात्पद होने के लिए।

प्राथमिक शिक्षा की कतिपय समस्याएँ

भूमिका.—स्वतन्त्रता अर्जन करने के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा की उन्नति अवश्य हुई है; पर वैसी नहीं हुई, जैसी देश की कल्पना थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य ६–११ वर्ष के वयोवर्ग के ६० प्रति शत बच्चों की शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध करना था। पर आयोजना के अन्त में यह संख्या ५१·० प्रति शत ही पहुँची। इस निराशा-जनक स्थिति के अनेक कारण हैं। संक्षेप में कुछ कारणों पर विचार कर लेना यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

दोष-युक्त सरकारी नीति.—पिछले पृष्ठों में अंग्रेजी शिक्षा-नीति के दोषों पर पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। वहाँ अंग्रेज सरकार की शिक्षा के प्रति उदासीनता पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। प्रथमतः, उसने 'शिक्षा छनने के सिद्धान्त' का प्रचार किया, और तत्पश्चात् ठोस नीति का। आज उस पर दोषारोपण करने से कुछ भी लाभ नहीं। वर्तमान समय में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार एवं विकास के लिए काफी प्रयत्न किया जा रहा है। अभी तक शिक्षा की उन्नति के लिए कोई सुसंगठित योजना नहीं थी। दो वर्ष पूर्व लोकसभा में अनुमान-समिति ने खेद के साथ घोषित किया था कि "शिक्षा-मन्त्रालय ने अभी तक ऐसी कोई सुसंगठित योजना प्रस्तुत नहीं की, जिसके द्वारा संविधान का ४५ वाँ अनुच्छेद कार्यरूप में परिणत हो सके।"† विभिन्न राज्य भी अनिवार्य शिक्षा को सफल बनाने की चेष्टा कर रहे हैं, पर सभी 'अपनी अपनी डफली, अपना अपना राग' वाली कहावत के लक्ष्य बन रहे हैं। सारांश यह है कि सम्पूर्ण देश के लिए सुसंगठित योजना की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त हमारी सरकार आदर्शवादी है। वह यथार्थवादी नहीं है। उसने स्वीकृत शिक्षा-प्रणाली के रूप में बुनियादी शिक्षा को स्वीकार किया है, और प्राथमिक शिक्षा को इसके अनुरूप बनाना चाहती है। पर यह तभी संभव हो सकता है, जब कि

---

† Estimates Committee. *Elementary Education, 1957-58.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. p. 60.

पर्याप्त द्रव्य हो और यथेष्ट शिक्षक उपलब्ध हों। आज तो हमारे देश के एक-तृतीयांश प्रारम्भिक स्कूल एक-शिक्षकवाले स्कूल हैं।

दुर्बल शासन.—प्राथमिक शिक्षा का भार मुख्यतः स्थानीय मण्डलों पर है, और राज्य-सरकार शिक्षा-नीति निर्धारित करती तथा शिक्षा की देखरेख करती है। इस दोहरे नियंत्रण के कारण अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं। इसके सिवा, स्थानीय मण्डलों के पास न काफी पैसा है और न उन्हें सरकारी अनुदान ही इतना मिलता है कि वे अनिवार्य शिक्षा की जिम्मेवारी को उठा सकें। शिक्षा कर लगाने के लिए वे सदैव हिचकते हैं। कारण, इससे स्थानीय विरोध बढ़ता है। अनिवार्य शिक्षा के कायदे देश के पुराने ढर्रे पर बनते चले आ रहे हैं। इनमें बहुत कुछ सुधार की ज़रूरत है।

कुछ वर्षों से, सरकार अनिवार्य कार्यों को यथाविधि अमल में लाने की चेष्टा कर रही है। सन् १९५५–५६ में ६,८७,४२१ नोटिसें बच्चों को स्कूल में दाखिल न करने के लिए और २,४०,४५० नोटिसें बच्चों की गैरहाजिरी के कारण जारी हुई। गैरहाजिरी तथा भरती न कराने के कारण क्रमशः ५७,१४६ तथा ३९,५१४ मुकद्दमे चलाये गये। पर पूरे देश से २३,२३९ रुपये ही जुर्माने में वसूल हुए।† फिर, इस योजना की सार्थकता ही कहाँ रही?

इसके साथ-साथ निरीक्षकों की अपर्याप्तता भी जुड़ी हुई है। सन् १९५५–५६ में अनिवार्य शिक्षा अमल में लाने के लिए केवल ९८१ अफ़सर थे। निरीक्षकों की संख्या भी कुछ अधिक नहीं है। औसतन एक निरीक्षक को प्रतिवर्ष सौ से अधिक स्कूलों का पर्यवेक्षण करना पड़ता है। ऐसी दशा में स्कूल की शिक्षा में कोई उन्नति की कैसे आशा करे?

स्कूल के विकास की भी कोई निर्धारित नीति नहीं है। सर्वेक्षण किये बिना ही स्कूल स्थापित होते हैं। स्कूल मनमाने ही खोले जाते हैं तथा स्थानिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका विषमय परिणाम यह होता है कि कहीं तो एक भी स्कूल नहीं होता है, और कहीं इतने स्कूल खुल जाते हैं कि वे आपस में खींचातानी करते हैं।

अर्थाभाव.—प्राथमिक शिक्षा के सामने सबसे बड़ा प्रश्न खर्च का है। अर्थाभाव के कारण, शिक्षा का प्रसार ठीक नहीं हो सक रहा है। अगले पन्ने की तालिका से ब्रिटिश युग में प्राथमिक शिक्षा पर हुए व्यय का पता चलेगा :

---

† *Education in India*, 1955–56, Vol. I, p. 86.

तालिका ९

शिक्षा एवं प्राथमिक शिक्षा पर किया हुआ एकत्रित प्रत्यक्ष व्यय १९०१–०२ से १९४७–४८ (करोड़ रुपये)

विवरण	१९०१-०२	१९२१-२२	१९३६-३७	१९४७-४८
एकत्रित शिक्षा व्यय ...	४·०१	१३·३७	२८·०५	५९·१८
प्राथमिक शिक्षा पर व्यय...	१·१८	३·०९	८·३७	१८·९०
प्रति शत...	२९·६	२७·३	२९·८	२९·२

इस प्रकार ब्रिटिश युग में प्राथमिक शिक्षा पर कुल शिक्षा-व्यय का ३० प्रति शत से अधिक कभी भी खर्च नहीं हुआ। वर्तमान समय में प्राथमिक शिक्षा-व्यय अवश्य बढ़ गया है, पर प्रति शत खर्च ज्यों-का-त्यों बना है। उदाहरण स्वरूप सन् १९५६-५७ ई० में शिक्षा पर हुए २०६·३ करोड़ रुपये के कुल प्रत्यक्ष व्यय तथा प्रारम्भिक शिक्षा पर हुए ५८·४ करोड़ रुपये का व्यय द्रष्टव्य है, यह प्रारंभिक शिक्षा-व्यय का २९ प्रति शत है।† इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए पर्याप्त रूप में पैसा नहीं मिलता। हमारे देश के नेताओं को ध्यान रखना चाहिए कि उन्नत देश प्राथमिक शिक्षा के लिए कुल शिक्षा-व्यय का दो-तृतीयांश और कहीं-कहीं तीन-चतुर्थांश तक खर्च करते हैं।

प्राकृतिक बाधाएँ.—भारत की ८२·७ प्रति शत जन-संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में वास करती है। गाँवों में प्राथमिक शिक्षा के संगठन, निरीक्षण आदि में अनेक बाधाएँ हैं, जैसे : गाँवों का दूर-दूर बसा होना, जन-संख्या के घनत्व की कमी, यातायात के साधनों का अभाव तथा प्राकृतिक कठिनाइयाँ। गाँवों में शिक्षकगण जाना ही नहीं चाहते हैं, और यदि जाते भी हैं तो वे शीघ्र भाग आते हैं।

सम्पूर्ण देश का २२·११ प्रति शत भाग, अर्थात् २,८०,१५९ वर्ग मील स्थल, जङ्गलों से भरा पड़ा है। इसके सिवा देश की सीमा पर्वत-श्रेणियों से घिरी हुई है।

† *Education in the States*, 1956–57. p. 5.

ऐसी जगहों में स्कूल खोलना कठिन है। उदाहरणार्थ, सन् १९४७ ई० के पहले ईशान देश के सीमान्त क्षेत्र में तीस हज़ार वर्ग मील का एक ऐसा भाग था, जहाँ कि एक भी स्कूल न था।

सामाजिक, धार्मिक तथा भाषा-जन्य बाधाएँ.—अनेक स्थानों में लड़कियों के लिए स्वतन्त्र स्कूलों की माँग है। कारण, कई अपढ़ माता-पिता अपनी कन्याओं को लड़कों के साथ पढ़ाना नहीं चाहते। इसी प्रकार विविध धर्मावलम्बी विभिन्न स्कूल खोलना चाहते हैं। इसके सिवा, प्रत्येक मनुष्य अपने बच्चों को मातृ-भाषा-द्वारा शिक्षा देना चाहता है। यह ठीक है, पर यदि किसी स्थान में किन्हीं अन्य भाषा-भाषियों की संख्या कम हुई तो उनके लिए स्वतन्त्र स्कूल खोलना असम्भव हो जाता है।

सन् १९५६ की संशोधित सूचि के अनुसार इस देश में इस समय अनुसूचित जातियों के ५,५३,२७,०२१ तथा अनुसूचित आदिम जातियों के २,२५,११,८५४ व्यक्तियों के होने का अनुमान लगाया गया है।† इन जातियों में शिक्षा की अधिकाधिक सुविधा देने के लिए उपाय प्रयुक्त किये जा रहे हैं, पर इनमें शिक्षा का प्रसार करना एक समस्या का विषय है।

शिक्षा-सम्बन्धी तथा आर्थिक बाधाएँ.—वर्तमान पाठ्यक्रम संतोषजनक नहीं है। पाठ्यक्रम पुस्तकीय है, तथा दैनिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस शिक्षा को पाकर, विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम से घबराते हैं तथा अपने बाप-दादों का धन्धा छोड़ बैठते हैं। यही कारण है कि साधारण जनता का विश्वास इस शिक्षा से उठ गया है। इस कमी के निराकरण के लिए ही, बुनियादी शिक्षा का प्रचार आरम्भ हुआ है। पर इस शिक्षा के सिद्धान्तों को लोग पूर्णतः समझ नहीं पाये हैं। स्कूलों में भी शिक्षा ठीक नहीं दी जा रही है। कारण खोजने की अधिक आवश्यकता नहीं है। हमारे देश के एक-तृतीयांश स्कूल एक-शिक्षकवाले हैं। शिक्षकों की पढ़ाई का स्तर विशेष ऊँचा नहीं है। चालीस प्रति शत शिक्षक अप्रशिक्षित हैं तथा अनेक शिक्षक अल्पकालिक प्रशिक्षण-प्राप्त ही हैं। इतना होते हुए भी प्राथमिक शिक्षा के लिए पर्याप्त-रूप में शिक्षक नहीं मिलते हैं।

अनेक माता-पिता स्वयं अपढ़ हैं। इस कारण, वे शिक्षा के प्रति उदासीन हैं। फिर, भला वे अपने बच्चों को स्कूल कैसे भेजना चाहेंगे? इसके साथ-साथ है दरिद्रता।

---

† भारत, १९५९, पृष्ठ १५८–५९।

अनेक बच्चे एसे हैं, जो यदि स्वयं मेहनत न करें तो उन्हें सूखी रोटी भी नसीब न हो। ग़रीब मजदूर तथा किसान चाहते हैं कि वे उनके कार्य में सहायता दें। तब उनके बच्चों को शिक्षा किस प्रकार मिल सकती है? इस प्रकार कितनी ही कठिनाइयाँ शिक्षा-प्रसार में बाधक हैं।

सुधार की ओर

भूमिका—इंग्लैण्ड का सन् १९४४ ई० का शिक्षा-कानून निम्न-लिखित शब्दों से आरम्भ होता है :

इस देश का भाग्य जनता की शिक्षा पर निर्भर है।

उपर्युक्त विचार का सम्मान सम्पूर्ण विश्व में होना चाहिए। बीसवीं शताब्दी अनिवार्य शिक्षा का युग है। इस शिक्षा का महत्व सभी देशों ने स्वीकार किया है। लोग चाहें, या न चाहें, आजाद देश में किसीको अपढ़ नहीं रहना चाहिए। आजादी का सब से कट्टर दुश्मन है निरक्षरता। इसी कारण स्वाधीन भारत में यह आवश्यक हो गया है कि देश के सभी बच्चों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कम-से-कम अवधि में उपलब्ध करा दी जाय। इस उद्देश्य को सामने रखते हुए, भारतीय संविधान के ४५ वें अनुच्छेद ने राज्यों को यह निर्देश दिया है :

> राज्य इस संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालक-बालिकाओं को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए साधन उपलब्ध करने का प्रयास करेगा।

इस अवधि के बीतने का समय आ गया है। लेकिन हम देखते हैं कि यह निर्देश कागजी आदर्श होकर ही रह गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के पहले ६-११ वयोवर्ग के ४२·० प्रति शत (१,८६·८० लाख) बच्चों को प्राथमिक स्तर की शिक्षा की सुविधाएँ थीं। आयोजना के अंत में ५१·० प्रति शत (२,४८·१२ लाख) बच्चों को ये सुविधाएँ मिलने लगेंगी। जहाँ तक माध्यमिक शिक्षा का सम्बन्ध है, प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान में ११-१४ वयोवर्ग के बच्चों की संख्या १३·९ प्रति शत (३३·७० लाख) से बढ़कर १९·२ प्रति शत (५०·९५ लाख) हो गयी है, और द्वितीय आयोजना में २२·५ प्रति शत (६३,८७ लाख) बच्चों की सुविधाएँ देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।†

† **भारत में शिक्षा** (लेखा-चित्रों में), पृष्ठ १।

प्रारम्भिक शिक्षा की प्रगति तथा निर्धारित लक्ष्य
१००
६२·७
५१·०
४२·०
0
१९५०-५१ १९५५-५६ १९६०-६१ १९६५-६६
६-११ वयोवर्ग
१००
६५·०
४०·०
२२·५
१९·२
१३·१
0
१९५०-५१ १९५५-५६ १९६०-६१ १९६५-६६ १९७०-७१ १९७५-७६
११-१४ वयोवर्ग
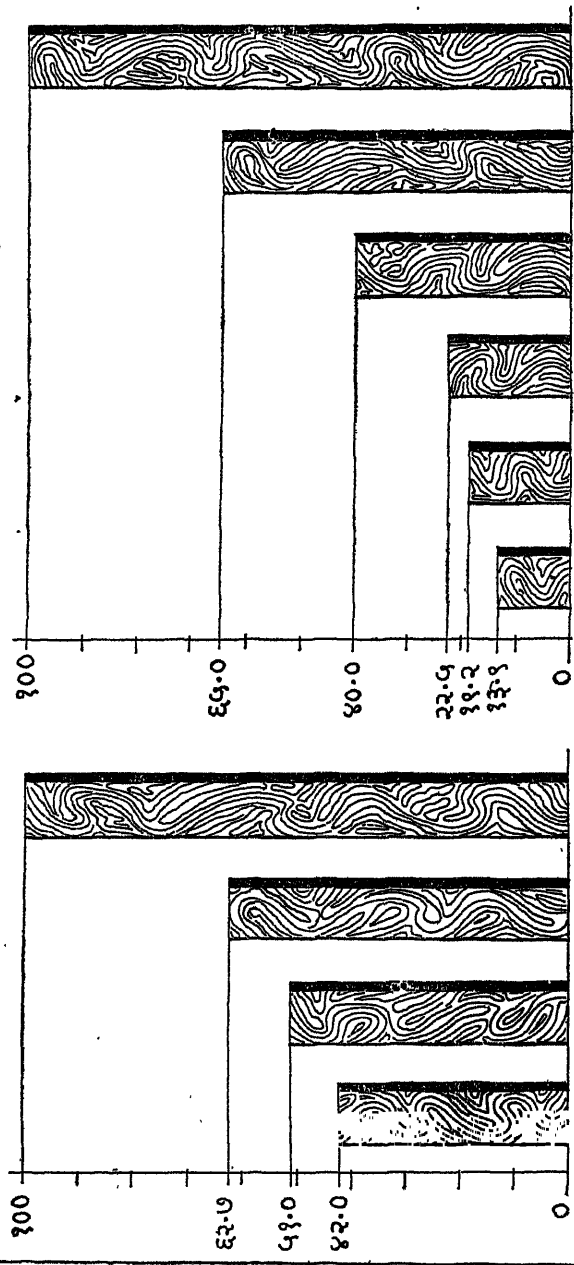
चित्र ७

आज पूरे देश के सामने यही प्रश्न हैं कि संविधान के निर्देश को कैसे कार्य-रूप में परिणत किया जाय। हाल में ही योजना-आयोग ने स्वीकार किया है कि ६–१४ वयोवर्ग की अनिवार्य शिक्षा असम्भव है। इस कारण ६–११ वयोवर्ग की शिक्षा के प्रति ध्यान दिया जावे। अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा-परिषद् ने भी सुझाव दिया है कि तृतीय आयोजना के अन्त तक ६–११ वयोवर्ग के सभी बच्चे अनिवार्य शिक्षा के अन्तर्गत आ जाना चाहिए। नयी दिल्ली में २८–३० जून, १९५९ को राज्यों के शिक्षा-मंत्रियों और शिक्षा सम्बन्धी कार्यकारी दल की जो संयुक्त बैठक हुई थी उसने भी इस सिफारिश का अनुमोदन किया है। तृतीय पञ्चवर्षीय सूत्रीय योजना का लक्ष्य है कि योजना-काल के दौरान में ६–११ वर्ष की आयु के सभी बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा मिले।

११–१४ वयोवर्ग के बच्चों की शिक्षा के विषय में, उपर्युक्त सूत्र-योजना ने अभिस्ताव किया है कि आयोजना की अवधि में स्कूल में नियमित रूप से शिक्षा पाने वालों की संख्या ३० प्रति शत पहुँचेगी। इसके अतिरिक्त १० प्रति शत बच्चों को सातत्य (कन्टिन्यूशन) शिक्षा मिलेगी।† इस प्रकार तृतीय आयोजना के अन्त तक इस वर्ग के शिक्षित बच्चों की संख्या ४० प्रति शत पहुँचेगी। आशा की जाती है कि यह संख्या चतुर्थ एवं पञ्चम योजना के अन्त तक क्रमशः ६५ तथा १०० पहुँचेगी। इस प्रकार सन् १९७५ के अन्त तक संविधान के लक्ष्य के सफल होने की सम्भावना है।

यह हुई हमारे देश में ६–१४ वयोवर्ग के बच्चों के लिए अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की योजना की रूपरेखा। पर इसे सफलीभूत करने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। मुख्य समस्याएँ हैं: (१) प्रशासन, (२) वित्त, (३) अनिवार्य शिक्षा का आरम्भ तथा प्रसार, (४) स्कूलों का प्रबन्ध, (५) पाठ्यक्रम, (६) शिक्षक, (७) निवास-व्यवस्था और (८) अनुसन्धान।

प्रशासन.—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संपूर्ण देश के लिए एक सुनियोजित योजना की आवश्यकता है। पिछले शीर्षक में इस योजना की रूपरेखा दी गयी है। राज्यों के शिक्षा-मंत्रियों ने स्वीकार किया कि प्राथमिक शिक्षा ६–११ वयोवर्ग के बच्चों के लिए हो, तथा १९६६ के अन्त तक इस वर्ग के सभी बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा मिले। पर इसके साथ साथ अनेक प्रश्न खड़े होते हैं: (१) केन्द्रीय सरकार की नीति, (२) अनिवार्य शिक्षा प्रशासन-नीति, (३) राज्यों की

---

† देखिए, अध्याय १०।

वित्त-नीति, (४) पाठ्यक्रम, इत्यादि। ये ऐसे प्रश्न हैं, जो समूचे देश से सम्बन्ध रखते हैं। इस कारण इन मामलों में एक समान नीति की आवश्यकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि देश के विभिन्न राज्य एक ही अनुशासन की शृंखला से जकड़ दिये जावें। स्थानीय तथा विशेष आवश्यकताओं का सदा ध्यान रखना होगा। ऐसी नीति की अनुपस्थिति में अर्थ तथा श्रम के अपव्यय होने की आशंका है।

सब से बड़ी आवश्यकता है केन्द्रीय सरकारों की राज्य-सरकारों से सहकारिता की। राज्य-सरकारों में आजकल यह धारणा है कि भारत-सरकार अधिकार केन्द्रीभूत करना चाहती है, तथा ऐसे क्षेत्रों पर हस्तक्षेप करती है, जिनका संबंध राज्य-सरकारों से है। केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह इस धारणा का निर्मूलीकरण करे। इसके साथ ही यह आवश्यक है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बीच आर्थिक तथा अन्य बातों में अधिकाधिक सहयोग स्थापित हो। अनुदान देते समय, उन राज्यों पर विशेष ध्यान रहे, जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक न हो और जिनकी शिक्षा पिछड़ी हुई हो।

प्राथमिक शिक्षा के पिछड़े रहने का विशेष कारण हमारे स्थानीय मण्डलों की असमर्थता हैं। सारजेण्ट योजना ने तो स्पष्ट सुझाव दिया था कि प्रान्तीय सरकारें प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेवारी स्थानीय मण्डलों के हाथ से ले लेवें। इस प्रश्न पर तब से बहस हो रही है, लेकिन अभी तक सभी यह अनुभव कर रहे हैं कि प्राथमिक शिक्षा का स्थानीय निकायों से निकटतम सम्बन्ध है। कारण, वे ही अपनी ज़रूरतों को ठीक समझ सकते हैं। इसके सिवा जनतन्त्र की इमारत स्थानीय निकायों की बुनियाद पर खड़ी होती है। इस कारण इन्हें अपनी जिम्मेवारी खुद सँभालनी चाहिए।

लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राज्य-सरकारों पर कुछ भी उत्तर-दायित्व न रहे। इस प्रश्न पर कुछ सुझाव नीचे दिये हैं:

१. सरकार पूरे राज्य के लिए, एक शिक्षा-नीति तथा न्यूनतम मान-दण्ड स्थिर करे।

२. क्षेत्रीय आवश्यकताओं को देखते हुए उपर्युक्त नीति तथा मानदण्ड परिवर्तन किया जावे, क्योंकि कोई क्षेत्र पिछड़ा हुआ और कोई क्षेत्र उन्नत भी हो सकता है।

३. अनिवार्य शिक्षा के प्रशासन के लिए प्रत्येक राज्य में एक शक्तिशाली राजकीय विभाग होवे। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है

कि शिक्षा-विभाग स्थानीय मण्डलों के कार्यों का निरीक्षण तथा नियन्त्रण करे।

४. राज्य-सरकार स्थानीय निकायों को यथेष्ट आर्थिक अनुदान दे।

वित्त.—निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा के लिए काफी पैसे की आवश्यकता है। १७ मार्च, १९५७ को लोक-सभा में बजट पर भाषण देते हुए केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डाक्टर श्रीमाली ने कहा कि देश में ६-११ वयोवर्ग के सभी बच्चों को तृतीय योजना के अन्त तक मुफ्त प्राथमिक शिक्षा देने के निमित्त ३०० करोड़ रुपये की ज़रूरत है। यथार्थ में यह उक्ति लोक-सभा को चुनौती थी। आशा है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में, अनिवार्य शिक्षा के लिए इस रक़म का प्रबन्ध रहेगा। इसके साथ-साथ, राज्य सरकारों को कमर कसना चाहिए। यह आवश्यक है कि वे अपनी योजनाओं में इस महत्वपूर्ण तथा ज़रूरी कार्य के लिए यथेष्ट अर्थ का प्रबन्ध करें। इसके बिना वे केन्द्रीय आर्थिक अनुदान का यथोचित लाभ न उठा सकेंगे।

अनिवार्य शिक्षा का आरम्भ तथा प्रसार.—अनिवार्य शिक्षा का आरम्भ सोच कर करना चाहिए तथा समझ-बूझकर आगे कदम बढ़ाना चाहिए। कुछ सुझाव नीचे दिये गये हैं।

प्रारम्भिक सर्वेक्षण की आवश्यकता.—अनिवार्य शिक्षा चालू करने के पहिले एक प्रारम्भिक सर्वेक्षण की आवश्यकता है, जिसे राज्य सरकार ठीक समय पर करें। सर्वेक्षण में निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान दिया जावे : राज्य की विशेष जरूरतें, वे केन्द्र जहाँ स्कूल खोलना चाहिए, उन बच्चों की संख्या, जिन्हें अनिवार्य शिक्षा देनी है, स्कूलों की वर्तमान स्थिति, शिक्षा-साधनों, शिक्षकों तथा शाला-गृहों की आवश्यकता, और सम्पूर्ण योजना पर खर्च। अनिवार्य शिक्षा आरम्भ होने के पश्चात्, सामयिक सर्वेक्षण की भी आवश्यकता है। इसके द्वारा अनुमान किया जा सकता है कि योजना कैसी चल रही है, उसमें कौनसे परिवर्तन की आवश्यकता है, मुख्य बाधाएँ क्या हैं, ये कैसे हटायी जा सकती हैं, आदि।

हर्ष की बात है कि केन्द्रीय सरकार के सुझाव के कारण प्रत्येक राज्य-सरकार ने हाल ही में ऐसे प्रारम्भिक सर्वेक्षण किये हैं। आशा की जाती है कि इस जाँच का लाभ प्रत्येक राज्य अपनी अनिवार्य शिक्षा-परिकल्पना में उठावेगा।

राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता.—अनिवार्य शिक्षा का आन्दोलन इने-गिने क्षेत्रों या राज्यों में ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण देश में जोर-शोर से चलना चाहिए। अनिवार्य शिक्षा बूँद बूँद टपकना नहीं चाहिए, वरन् जोर से बरसना चाहिए। शुरू-शुरू में इसकी बहुत आवश्यकता है। अनेक देशों ने इस नीति का अनुसरण किया था; और केवल दस ही वर्षों के भीतर इन देशों के प्रारम्भिक स्कूलों की छात्र-संख्या दुगुनी हो गयी। इस तालिका की छात्र-संख्या पर दृष्टि डालिए :

तालिका १०

कुछ देशों में प्राथमिक शिक्षा की प्रारम्भिक उन्नति†

देश	छात्र-संख्या (वर्ष)	छात्र-संख्या (वर्ष)
इंग्लैण्ड ...	१८,००,००० (१८७१)	४०,००,००० (१८८१)
जापान ...	१७,४६,००० (१८७३)	२३,००,००० (१८७९)
इजिप्ट ...	३,०३,००० (१९२८)	१०,००,००० (१९३८)
चीन ...	२८,००,००० (१९२१)	१,१७,००,००० (१९३१)

इस प्रकार, आरम्भ में सम्पूर्ण देश में एक आन्दोलन तथा राष्ट्रीय जागृति की ज़रूरत है; पर प्रगति सुचारु रूप से, समझ-बुझकर तथा नियमित हो। प्रत्येक क्षेत्र को अपने सामर्थ्य के अनुसार चलने देना चाहिए। उसीके अनुरूप उसका प्रोग्राम भी हो। पर यह सदा ध्यान में रहे कि पूरे देश का लक्ष्य क्या है, अर्थात् सम्पूर्ण देश में निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा कब तक हासिल करना है।

अनिवार्य शिक्षा एक्टों का संशोधन.—इस देश की अनिवार्य-शिक्षा विषयक कानून लगभग चालीस वर्ष पुराने हैं। ये गोखलेजी के विधेयक या पटेल एक्ट के ढर्रे पर ढाले गये हैं। इनकी कमज़ोरियों पर ख़्याल करना बहुत ज़रूरी है। केन्द्रीय सरकार को उचित है कि राज्य सरकारों के विभिन्न प्राथमिक शिक्षा-कानूनों पर

† R. V. Parulekar. *Literacy in India*. Bombay, Macmillan, 1939. Ch. XII.

पर विचार करे तथा सम्पूर्ण देश के लिए अनिवार्य शिक्षा-कानून का एक समान तथा आदर्श ढाँचा निर्मित करे। यह कार्य राज्य-सरकारों के परामर्श से किया जाना आवश्यक है। हाल में अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद् ने भी यह सुझाव दिया है।

मानवीय वैयक्तिक सम्बन्ध.—बहुधा देखा गया है कि उपस्थित-अधिकारी-गण साधारण जनता के प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार करते हैं। उनकी व्यावहारिक रुक्षता का परिणाम यह होता है कि अपढ़ व्यक्तियों के हृदय में शिक्षा के प्रति वितृष्ण उत्पन्न होती है। वे उपस्थित अधिकारियों को आरक्षी विभाग के कर्मचारियों के तुल्य गिनते हैं। स्वाधीन भारत के उपस्थित अधिकारियों को समाज-कल्याण की ओर ध्यान देना चाहिए। जनता के साथ उनके किये गये व्यावहारिक आचरण पर ही शिक्षा का भविष्य निर्भर है। यह जनता अनुकम्पा, भ्रातृ-भाव तथा सहानुभूति की ही अपेक्षा रखती है, यह बात सर्वथा स्मरणीय है।

स्थानीय सहयोग तथा नेतृत्व.—यह प्रकट सत्य है कि स्थानीय सहयोग के बिना अनिवार्य शिक्षा-योजना सफल नहीं हो सकती है। स्कूल तथा स्थानीय समाज का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्कूल का कर्तव्य है कि वह सदा स्थानीय आवश्यकताओं का ध्यान रखे तथा समाज की उन्नति की चेष्टा करे। यदि समाज ने एकबार ताड़ लिया कि स्कूल उसके कल्याण के लिए है तो वह स्कूल की उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न करेगा। भारत के अनेक स्थानों में, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, यह बात देखी गयी है कि जनता स्कूल के कार्यों में यथेष्ट दिलचस्पी ले रही है। एक सरकारी रिपोर्ट से उद्धृत निम्नाङ्कित विवरण पढ़िए:

> देश के अनेक भागों में, जनता ने अपने गाँव के स्कूल के लिए अर्थ, भूमि तथा श्रम का दान किया है। एक ज़िले में ६०० शाला-गृहों का स्थानीय जनता ने स्वयमेव निर्माण किया था। इसी उत्साह के फलस्वरूप अनेक दुर्गम स्थानों में भी आज स्कूल खोलना संभव हो गया है। उदाहरण-स्वरूप सन् १९४७ के पहले भारत की ईशान दिशा में स्थित आदिम जातीय क्षेत्रों में एक भी स्कूल न था। वहाँ सन् १९५३ में १,९०० स्कूल थे।†

इस प्रकार हम 'जहाँ चाह है, वहाँ राह है' वाली लोकोक्ति को प्रत्यक्ष चरितार्थ होते देखते हैं। यदि स्थानीय जनता चाहेगी, तो वह स्वतः स्कूल खोलेगी। उनकी इस इच्छा को प्राकृतिक रुकावटें भी न रोक सकेंगी। सरकार का कर्तव्य है कि वह

† *Seven Years of Freedom.* pp. 2-3.

जनता की इस इच्छा को पूर्णरूपेण जाग्रत करे। इस जागृति के साथ-साथ सम्पूर्ण देश में स्कूल खोलना आसान हो जायगा।

स्कूलों का प्रबन्ध.—इसके बाद आता है स्कूलों का प्रबन्ध। कारण, समूचे भारत के कोने-कोने में प्राथमिक शालाओं की ज़रूरत हैं — शहरों में तथा गाँवों में। इसके अतिरिक्त देश में कई जगह विशेष स्कूलों की माँग है। विभिन्न धर्मावलम्बी तथा भाषा-भाषी पृथक् निजी स्कूल चाहते हैं, तथा आदिम जातियों के लिए भी विशेष स्कूलों की ज़रूरत है।

शहरों में स्कूल.—शहरों में स्कूल खोलने और चलाने की विशेष असुविधाएँ नहीं हैं। वहाँ शाला-गृह शीघ्रता-पूर्वक निर्मित किये जा सकते है, शिक्षकगण शहरों में रहना चाहते हैं, जनता में शिक्षा की चाह है। वहाँ केवल उपयुक्त उपस्थित-अधिकारियों की आवश्यकता होती है। इन्हें यथेष्ट प्रशासनिक क्षमता दी जावे। इसके सिवा, जनता के सुभीते की ओर ध्यान रखते हुए, स्कूल अनुकूल समय में लगें।

सन् १९५४ ई० में 'भारतीय उद्योग-गणना' के अनुसर, भारत में ७,०६७ पंजीकृत कारख़ाने थे। इन कारखानो में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या १७,१४,७७० थी।† इन व्यक्तियों के बच्चों की प्राथमिक शिक्षा का ठीक प्रबंध होना चाहिए, उनका विशेषकर, जो कि कारखाने के आसपास रहते हों। हमारे देश में एक ऐसे कानून की ज़रूरत है जिसके अनुसार औद्योगिक संस्थाओं को अपने कर्मचारियों तथा मजदूरों के बच्चों के लिए प्रारम्भिक स्कूल चलाना पड़े। मेक्सिको में सन् १९४२ ई० के शिक्षा-कानून के ६७-७१ अनुच्छेदों के अनुसार कल-कारखानों के स्वामियों पर कुछ प्रतिबन्ध रखे गये हैं। उन्हें स्कूल चलाना पड़ता है, स्वास्थ्यकर शाला-गृहों का निर्माण करना पड़ता है तथा विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकें मुफ्त देना पड़ता हैं।

गाँवों में स्कूल.—गाँवों में सोच-विचार कर स्कूल खोलना चाहिए। सन् १९५१ ई० की जन-संख्या के अनुसार सम्पूर्ण देश में कुल ५,५८,०८८ गाँव थे। उनमें से ३,८०,०१९ गाँवों की मनुष्य-संख्या ५०० से कम थी। आर्थिक दृष्टि-कोण से ऐसे छोटे गाँवों में स्वतन्त्र स्कूल खोलना हितकर नहीं है। ऐसे क्षेत्रों में किसी केन्द्रीय गाँव में स्कूल स्थापित करना चाहिए। ऐसा गाँव विशेष विचार के साथ चुनना चाहिए, ताकि अन्य गाँव उससे दूर न हों। इस कारण स्कूल खोलने के पहले एक सर्वेक्षण की आवश्यकता है, ताकि स्कूल मनमाने जहाँ-तहाँ न खोले जावें।

† **भारत,** १९५९, पृष्ठ २११।

गाँव में स्कूल खोलना कुछ सहज नहीं है, उसमें अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ता है।† वहाँ पर अनेक माता-पिता गरीब हैं तथा शिक्षा के विरुद्ध विचार रखते हैं। उन्हें अपने बच्चों से मजदूरी करानी पड़ती है। मजदूरी किये बिना उनके कुटुम्ब का पालन-पोषण होना कठिन हो जाता है। इन कठिनाइयों के बावजूद उन्हें भी अनिवार्य शिक्षा की आवश्यकता है, तथा इसीलिए उनके बच्चों को स्कूल में खींचना पड़ता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम उन बच्चों के माता-पिताओं की ज़रूरतों की ओर बिलकुल ध्यान न देवें। हमें स्कूलों के लगने का समय बदलना पड़ेगा। यदि स्कूल सुबह तथा शाम को लगाये जावें, तो बच्चों को अपने माता-पिता की सहायता करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिलने लगेगा। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि भारत कृषि-प्रधान देश है। इस कारण किसानों की ज़रूरतों का ध्यान रखते हुए स्कूलों के लगने का समय स्थिर करना चाहिए। हमें ऐसे समय नियम-निष्ठुर — लकीर के फकीर — नहीं रहना चाहिए। उदाहरणार्थ, चीन में ग्रामीण पाठशालाओं का खेती से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वहाँ साधारण सिद्धान्त यह है : "जब तुम्हारे पास अधिक समय है, तब अधिक पढ़ो। जब अल्प अवकाश हो, तब कम पढ़ो। जब तुम बहुत ही व्यस्त हो, तब कुछ समय तक पढ़ना बन्द करो।"‡

सार अर्थ यह है कि स्कूल समाज के कल्याणार्थ है। स्कूलों के प्रति ग्रामवासियों की उदासीनता बहुत कुछ दूर हो जायगी, यदि पाठ्यक्रम में गाँवों की ज़रूरतों की ओर ध्यान रखकर विषयों का चयन किया जावे। समाज-शिक्षा भी इस उदासीनता-रूपी व्याधि की अमोघ औषधि है। बहुधा अपढ़ व्यक्ति ही शिक्षा के विरोधी होते हैं। इसके सिवा ग्राम्य स्कूल की जिम्मेवारी बच्चों की पढ़ाई तक ही सीमित नहीं रहती है। स्थानिक समाज की उन्नति भी उसी पर निर्भर है। उसे आज ग्रामवासियों को किसान नहीं बनाना है, वरन् स्वतंत्र भारत का नागरिक निर्मित करना है। इस प्रकार प्राथमिक स्कूल ग्रामोत्थान के केन्द्र हैं। इस कार्य में स्कूल को सम्पूर्ण ग्राम के साथ हाथ बँटाना चाहिए, ताकि ग्रामवासियों को गरूर हो कि स्कूल हमारा है। आज मेक्सिको में यही प्रयत्न किया जा रहा है। वहाँ स्कूल तथा गाँव परस्पर एक सूत्र में गुँथ गये हैं। स्कूल समाज की उन्नति के प्रयत्न करता है तथा समाज स्कूल की प्रत्येक कमी को दूर करने के लिए भरसक कोशिश करता है। मेक्सिको के शिक्षा-उपमन्त्री श्री मोयसेज़ सेएंज का कथन है :

---

† देखिए पृष्ठ ८१।

‡ *Peking Review*, April 15, 1958, p. 12.

> यह ठीक नहीं कहा जा सकता है कि ग्रामीण स्कूल का काम कहाँ आरम्भ या समाप्त होता है। उसी प्रकार ग्राम्य जीवन के आरम्भ और समाप्ति के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। कारण, गाँव और स्कूल एक ही संस्था हैं, तथा स्कूल ने ग्राम-सुधार का उत्तरदायित्व अपने सिर पर ले लिया है।†

विशेष स्कूल.—कभी-कभी धर्म एवं भाषा-भेद के कारण, विभिन्न स्कूलों की माँग रहती है। इसके सिवा, कन्या-शालाओं की भी चाह है। वस्तुतः मजहबी स्कूलों की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भारत एक असांप्रदायिक राष्ट्र है। यथेष्ट छात्र-संख्या के बिना न स्वतन्त्र भाषा-भाषी स्कूल चल सकते हैं और न कन्या-शालाएँ। यदि विशेष भाषा-भाषी स्वतन्त्ररूप से अपना स्कूल अलग से अपने व्यय के द्वारा चलाना चाहें तो वह दूसरी बात है। इसी प्रकार स्वतन्त्र कन्या-शालाओं की विशेष आवश्यकता नहीं है। कारण, प्राथमिक स्कूलों में बालक-बालिकाएँ बिना रोक टोक साथ-साथ पढ़ सकती हैं। इनकी सह-शिक्षा में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए।

असली समस्या आदिवासियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए स्कूल खोले जाने की है। ये बस्तियों से दूर जंगल-पहाड़ों में रहते हैं तथा शिक्षा के महत्व को भी नहीं जानते हैं। हर्ष की बात है कि सम्प्रति इन लोगों में शिक्षा प्रसार के कार्य का श्रीगणेश हुआ है। इन लोगों में शिक्षा का प्रचार करने के लिए, कई स्वेच्छिक संगठन तथा धर्म-संस्थाएँ पर्याप्त प्रयत्न-शील हैं। सरकार भी अब सजग हो उठी है। सब कुछ होते हुए भी, आदिवासियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति अभी भी अनुन्नतप्राय है।

पाठ्यक्रम.—प्रचलित पाठ्यक्रम की त्रुटियों एवं कमियों की आलोचना पूर्व पृष्ठों में पर्याप्त कर दी गयी है। इसीके प्रतिकार-स्वरूप बुनियादी शिक्षा का आविर्भाव हुआ है। यह शिक्षा आज हमारे देश की स्वीकृत शिक्षा-प्रणाली है। अब इसकी सफलता के लिए यथेष्ट कुशल शिक्षकों एवं पर्याप्त अर्थ-राशि की आवश्यकता है।

सम्प्रति, केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डाक्टर श्रीमाली ने घोषणा की है कि आगामी दो या तीन वर्षों में देश के वर्तमान प्रायमरी स्कूल बुनियादी स्कूल में बदल दिये जावेंगे। ग्रामीण तथा शहरी स्कूलों के लिए न्यूनतम बुनियादी पाठ्यक्रम आयोजित किया जायगा, तथा तहसील और तालुका केन्द्रों में अल्प-कालिक प्रशिक्षण का बन्दोबस्त

---

† M. B. L. Filho, et. al. *The Training of Rural School Teachers.* Paris, UNESCO, 1952. p. 135.

होगा। राज्य-सरकारों को केन्द्रीय सरकार से कुल खर्च का साठ प्रति शत ग्राण्ट भी मिलेगा।† हम इस योजना की सफलता के लिए शुभाकांक्षाएँ रखते हैं। पर यदि बुनियादी शिक्षा बुनियादी ही रखना है, तो उसका सूक्ष्म आकार हो ही नहीं सकता है।

हमें आदर्शवादी के बदले यथार्थवादी होना चाहिए। प्राथमिक स्कूलों के लिए एक कार्य-योग्य पाठ्यक्रम की ज़रूरत है। इसमें समाविष्ट हो: मातृ-भाषा, गणित, सरल सृष्टि-विज्ञान, समाज शास्त्र की रूप-रेखा तथा एक उद्योग। पर इसका उद्देश्य है एक उद्योग का साधारण ज्ञान, न कि उद्योग-द्वारा शिक्षा। गाँवों में कृषि या बागवानी सिखलायी जा सकती है। विद्यार्थीगण खेतों तथा बगीचों में काम कर सकते हैं। शहरों में स्थानीय कारीगर उद्योग सिखा सकते हैं। मूल उद्देश्य यह है कि शिक्षा रचनात्मक हो तथा स्थानीय वातावरण पर पाठ्यक्रम आधारित हो। विद्यार्थियों में नागरिकता की भावना को जगाना उचित है तथा उन्हें स्वच्छ एवं स्वस्थ रहना सिखाना चाहिए।

शिक्षकगण.—हिसाब लगाया गया है कि निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा योजना के लिए अट्ठाईस लाख शिक्षकों की आवश्यकता है। पर आज प्राथमिक स्कूलों की शिक्षक-संख्या प्रायः सात लाख ही है। शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं को बढ़ाने के लिए तथा शिक्षित बेकारों को रोजगार देने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५३ ई० में शिक्षित बेकारों की सहायता-योजना शुरू की है। इसके अनुसार ३१ जनवरी १९५६ तक राज्यों के लिए कुल मिलाकर ८०,००० शिक्षक और २,००० सामाजिक कार्य-कर्त्ता नियुक्त कर दिये गये।‡ इसी योजना के अन्तर्गत आयोजना-आयोग और भी ४०,००० शिक्षक नियुक्त करना चाहता है। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री की घोषणा के अनुसार आज इस देश में ६,३५,५६७ मैट्रिक पास विद्यार्थी बेकार बैठे हुए हैं।* यदि वे व्यक्ति शिक्षक बन जायँ, तो शिक्षक-समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है।

पर केवल इन्हीं चेष्टाओं से काम न चलेगा। शुरू-शुरू में आकांक्षाएँ अधिक ऊँची नहीं होनी चाहिए। हमें मैट्रिक से कम पढ़े-लिखे अर्थात् वर्नाक्युलर फाइनल या मिडिल पास शिक्षकों से काम चलाना पड़ेगा। हमें सदैव सचेत रहना चाहिए कि ये शिक्षक गाँवों में टिकेंगे या नहीं। देखिए, मेक्सिको ने शिक्षक-समस्या का समाधान कैसे किया, जब कि उस देश में प्रति वर्ष एक हज़ार से अधिक ग्रामीण स्कूल खुल

---

† *Times of India*. March 17, 1959.

‡ **भारत में शिक्षा** — लेखा - चित्रों में, पृष्ठ ६।

* *Times of India*, August 10, 1959.

रहे थे। उच्च-शिक्षित व्यक्ति शिक्षक बनना पसन्द नहीं करते थे; अतएव अध्यापन कार्य के लिए सच्चरित्र, उत्साही तथा सेवा-प्रेमी स्त्री-पुरुष नियुक्त हुए। युवक तथा युवतियाँ शिक्षकीय कार्य के लिए अधिक पसन्द की गयीं, तथा स्थानीय उम्मेदवारों के प्रति रियायत या उदारता दिखायी गयी। उच्च-शिक्षा प्राप्त न होते हुए भी ऐसे व्यक्ति अध्यापन कार्य के लिए नियुक्त हुए। बाद में मध्य-अध्यापन प्रशिक्षण-द्वारा उनकी साहित्यिक तथा व्यावसायिक कमियाँ दूर की गयीं। भारत में ऐसी योजना की विशेष आवश्यकता है।

इसके साथ-साथ हमें वर्तमान शिक्षकों का व्यवस्थित रूप से उपयोग करना चाहिए, जैसे : शिक्षकों का उचित बँटवारा, परिवर्तन-प्रथा का अधिक उपयोग, प्रत्येक कक्षा की छात्र-संख्या-वृद्धि, इत्यादि। यह देखा गया है कि शहरी स्कूलों के लिए पर्याप्त रूप से शिक्षक मिलते हैं, पर ग्रामीण स्कूल बहुधा एक-शिक्षक-वाली संस्था होते हैं। यह दूषित प्रणाली आज नहीं चल सकती। स्थानिक मण्डलों को शिक्षकों का बँटवारा इस प्रकार करना उचित है कि प्रत्येक प्राथमिक स्कूल में, चाहे वह शहर में स्थित हो या एक छोटे-से गाँव में, कम-से-कम तीन शिक्षक अवश्य हों। इसी नीति का अवलम्बन करने पर अनेक शिक्षकों का शहरों से गाँवों में तबादला अवश्य होगा। पर न्याय तथा शैक्षणिक दृष्टिकोण से, यह बहुत ही ज़रूरी है।

उपर्युक्त प्रस्ताव कार्यान्वित होने पर हम देखेंगे कि किसी भी शिक्षक को कभी भी दो से अधिक कक्षाएँ एक साथ नहीं पढ़ाना पड़ेगी। यदि ये शिक्षणगण द्वैत-शिक्षा में यथोचित प्रशिक्षित किये जायँ तो उनका अध्यापन-कार्य बहुत कुछ सुधर सकता है। इसके साथ-साथ भारत में परिवर्तन-प्रथा की अधिक ज़रूरत है। इसके अनुसार स्कूल की कक्षाएँ भिन्न-भिन्न समय में लग सकती हैं। शिक्षकों का काम अवश्य बढ़ जायगा, पर उन्हें एक से अधिक वर्ग एक साथ तो न पढ़ाना पड़ेंगे। यह मानना ही पड़ेगा कि यह प्रथा आदर्श नहीं है, पर शिक्षकों की कमी दूर करने की यह एक अचूक दवा है। यह प्रथा कुछ नयी नहीं है। सभी उन्नत देशों ने अनिवार्य शिक्षा के आरंभ में इस प्रथा को अपनाया था, जैसे : जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, जापान, पोर्तुगाल। आज भी यह प्रथा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, टर्की, इजिप्ट, चीन, सीलोन तथा डेनमार्क में प्रचलित है।

हम प्रत्येक कक्षा की छात्रसंख्या भी बढ़ा सकते हैं। यह प्रथा बड़े स्कूलों में अपनायी जा सकती है जहाँ एक ही कक्षा के कई वर्ग होते हैं। हम देखते हैं कि किसी-न-किसी समय सभी देशों के प्रत्येक प्राथमिक कक्षा की छात्रसंख्या अत्यधिक थी :

इंग्लैण्ड में ६० (१८९४), जर्मनी में ८० (१८९६), इटली में ६० (१९२२), इत्यादि। यहाँ तक कि सन् १९२२ ई० में इंग्लैण्ड में २८,००० और ५,००० कक्षाएँ ऐसी थीं, जिनमें प्रत्येक की छात्रसंख्या क्रमशः ५० से ६० और ६० से अधिक थी। आज हमारे शिक्षा-विभागों के अनुसार एक कक्षा में ४० से अधिक विद्यार्थी भरती नहीं किये जा सकते हैं। हम इस सीमा को ५० तक आसानी से बढ़ा सकते हैं।

निवास-व्यवस्था.—यह बतलाया जा चुका है कि हमारे अधिकांश शाला-गृह अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं हैं, पर इस कारण हमें हताश न होना चाहिए। लगभग पचास वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड के कुछ स्कूल रेल-पथ के मेहराबों के नीचे लगते थे तथा जर्मन शाला-गृह अँधेरे तथा गन्दे थे। यहाँ तक कि सन् १९२५ में रूस के ग्रामीण प्राथमिक शाला-गृह भद्दे तथा पुराने ढङ्ग पर बने हुए थे।

कहा जाता है कि हमारे देश के अनेक स्कूल धर्मशालाओं, सरायों, मन्दिरों तथा मस्जिदों में लग रहे हैं। इसके लिए हमें कुछ लज्जा नहीं आनी चाहिए। यह प्रथा इस देश में परम्परा से चली आ रही है। हमारे देश की उन्नति के लिए अनिवार्य शिक्षा की ज़रूरत है। जबतक उपयुक्त शालागृह न बनें, तब तक क्या हम हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रह सकते हैं? हमें जहाँ भी कोई खाली जगह मिले, वहाँ ही स्कूल खोलना चाहिए। नीले आकाश के नीचे मुक्त वायु (ओपन-एयर) में हम स्कूल खोल सकते हैं। शैक्षणिक दृष्टि से ऐसी संस्थाएँ आदर्श गिनी जाती हैं। भारत पर निसर्ग देवी का वरद हस्त है। तब हमें ऐसे स्कूल खोलने में क्यों हिचकना चाहिए?

अनुसंधान.—हमारे देश की प्राथमिक शिक्षा-समस्याएँ अति गम्भीर तथा पेंचीदी हैं। इन पर बहुत कुछ सोचविचार की ज़रूरत है। हमारे शिक्षा-विभागों तथा प्रशिक्षण महाविद्यालयों को चाहिए कि वे इन प्रश्नों की जाँच तथा उपयुक्त शोध करें। कुछ समस्याओं के शीर्षक नीचे दिये गये हैं:

१. प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी रूप देना,
२. अनिवार्य शिक्षा-प्रतिपादन की समस्याएँ,
३. अपढ़ माता-पिताओं की अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति प्रवृत्ति,
४. द्वैत शिक्षा-पद्धति,

---

† Dinkar Desai. *Education in India* Bombay, Servants of India Society, 1935. Ch. VI.

५. परिवर्तित शिक्षा-विधि,
६. व्यर्थता तथा अवरोधन,
७. शाला-गृह,
८. भिन्न-भिन्न देशों की शिक्षा-प्रणाली, इत्यादि ।

उपसंहार

इस अध्याय में प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति तथा कुछ उल्लेखनीय समस्याओं पर विचार किया गया है। ब्रिटिश सरकार प्राथमिक शिक्षा के प्रति उदासीन रही। आज यह बात पुरानी हो गयी है। इस पर आलोचना करना व्यर्थ है। आज हमें अपने देश के भविष्य की ओर ध्यान देना है। भारत की उन्नति जनता की साक्षरता पर निर्भर है। ८० प्रति शत से अधिक भारतवासी अभी निरक्षर हैं। भले ही वे न चाहें, किन्तु हमें उन्हें शिक्षित करना है। यह हमारा परम कर्तव्य है।

पर जब हम अनिवार्य शिक्षा की समस्याओं पर विचार करते हैं, तब हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, चेहरा मुरझा जाता है और हमारा जोश ठण्डा पड़ जाता है। पर ऐसा करने से काम न चलेगा। निरक्षरता का उन्मूलन करने के लिए समुचित अर्थ एवं सर्वाङ्गपूर्ण योजना अपेक्षित होती है, पर इससे भी अधिक मन में शक्ति और दृढ़ता की अवश्यकता है। —ऐसी दृढ़ता, जो हमें कठिन-से-कठिन मुश्किलों का सामना करना सिखाये, जो हमें हताश न होने दे और जो हमें नीचे न गिरने दे। परमेश्वर से हमारी यही प्रार्थना है कि वह हमें ऐसा बल प्रदान करें।

प्रत्येक उन्नत देश की अनिवार्य शिक्षा का प्रसार करने के लिए अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा। वे आगे ही बढ़ते गये। पीछे नहीं हटे। चालीस साल के अरसे में अमेरिका ने फिलिपाइन द्वीप-पुञ्ज की साक्षरता २ से ५५ प्रति शत बढ़ायी। पच्चीस वर्ष की अवधि में रूस की साक्षरता ८ से ८८ पहुँची। अनेक कठिनायों का सामना करते हुए, चीन तथा टर्की ने अपनी निरक्षरता दूर की। फिर हम क्यों हताश हों?

पाँचवाँ अध्याय

माध्यमिक शिक्षा

पूर्व-पृष्ठिका

प्रारम्भ.—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से आज, इस देश के अधिकांश माध्यमिक स्कूल अंग्रेजी संस्थाएँ हैं। अंग्रेजी स्कूल इस देश में जब प्रथम-प्रथम खुले, तब इनका उद्देश्य धनी भारतवासियों को राज-भाषा (अंग्रेजी) सिखाना था। सन् १८३० में ई० इं० कम्पनी के डाइरेक्टरों ने तय कर लिया था कि "भारतवासियों को अंग्रेजी-शिक्षा दी जाय, ताकि इस प्रकार का एक वर्ग तैयार किया जा सके, जो अपनी बुद्धि और नैतिकता के कारण, उच्च प्रशासकीय पदों पर नियुक्त किया जा सके।" †

इसी बीच लार्ड मैकाले ने शिक्षा-नीति पर अपनी सम्मति एक प्रसिद्ध लेख-पत्र-द्वारा घोषित की, और लार्ड विलियम बैंटिङ्क ने इस सम्मति को एक सरकारी ऐलान द्वारा स्वीकार किया (७ मार्च, १८३५)। इस ऐलान ने घोषणा करते हुए कहा, "सरकार का मुख्य उद्देश्य इस देश में अंग्रेजी भाषा-द्वारा युरोपीय साहित्य एवं विज्ञान का प्रचार करना है।" इसके पश्चात् तुरन्त दो और भी कायदे निकले, जिनके अनुसार अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार होने लगा। सन् १८३७ ई० में 'अंग्रेजी' भारत की राज-भाषा बना दी गयी और लार्ड हार्डिंग्ज के सन् १८४४ की घोषणा के अनुसार उच्च सरकारी नौकरियाँ शिक्षित भारतीयों के लिए खुल गयीं। अब तो पाश्चात्य ज्ञान का आदर और भी बढ़ा, और अंग्रेजी स्कूल धड़ाधड़ खुलने लगे।

वुड की घोषणा (१८५४) से भारतीय विश्वविद्यालय कानून (१९०४) तक.—वुड के घोषणा-पत्र की सिफ़ारिशों के कारण माध्यमिक शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस पत्र ने जोरदार शब्दों में कहा :

---

† A. N. Basu, ed. "Letters from the Court of Directors to the Governor of Fort St. George, September, 29, 1830." *Indian Education in Parliamentary Papers, Part I.* Bombay, Asia Publishing. 1952. p. 195,

> भारतीयों को पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं से पूर्णतः परिचित होना पड़ेगा, ताकि उन्हें युरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक शाखा की जानकारी हो सके। इस विद्या-परिचय का प्रसार भारतीय शिक्षा-पद्धति का भविष्य में मुख्य ध्येय हो।†

इस घोषणा के फल-स्वरूप अंग्रेजी शिक्षा और भी पल्लवित होने लगी। सन् १८५७ में, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इसका माध्यमिक शिक्षा पर अति गहरा प्रभाव पड़ा। मैट्रिक परीक्षा-द्वारा विश्वविद्यालय माध्यमिक स्कूलों का पाठ्य-क्रम, शिक्षण का माध्यम, अध्यापन-पद्धति, इत्यादि का नियन्त्रण करने लगे। इसके फल-स्वरूप शिक्षा का मुख्य उद्देश्य कालिजों तथा विश्वविद्यालयों के लिए विद्यार्थी तैयार करना हो गया।

वुड के घोषणा-पत्र ने स्वसंचालित स्कूलों के सहायतार्थ ग्राण्ट-इन-एड पद्धति के व्यापक व्यवहार का आदेश दिया था। इस सरकारी अनुदान-नीति के फल-स्वरूप निजी स्कूलों की संख्या बढ़ने लगी। सन् १८५४ तक केवल मिशन-संस्थाओं के ही स्वसंचालित स्कूल थे, पर बाद में भारतीय लोग भी माध्यमिक विद्यालय खोलने लगे। इस प्रकार माध्यमिक क्षेत्र में तीन प्रकार के हाई स्कूल प्रचलित हुए : (१) मिशन, (२) राजकीय और (३) भारतीयों द्वारा खोले हुए। सन् १८५४ में राजकीय स्कूलों की संख्या केवल १६९ थी, किन्तु सन् १८८२ में वह बढ़कर १,३६३ हो गयी। निजी स्कूलों का विस्तार भी द्रुतगति से हुआ। सन् १८८२ में, भारतीयों-द्वारा परिचालित माध्यमिक विद्यालयों की संख्या १,३४१ हो गयी। इसी वर्ष अन्य स्वसंचालित संस्थाओं के द्वारा ७५७ स्कूल क्रियाशील थे।

इस विकास के साथ-साथ माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक दोष आ गये, जो अब तक अपना असर फैलाये हुए हैं। प्रमुख दोष ये हैं : जीवन की दृष्टि से शिक्षा उद्देश्य-हीन हो गयी थी। मातृ-भाषा के बदले अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम हो गयी। भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की गयी। शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। परीक्षा का असर बढ़ने लगा। पाठ्यक्रम संकुचित हो गया। औद्योगिक शिक्षा का अभाव रहा।

सन् १८८२ ई० में हण्टर कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के विषय में एक महत्व-पूर्ण सुझाव दिया। आयोग ने कहा :

---

† *Wood's Despatch,* Para 10.

> माध्यमिक शिक्षा में दो प्रकार के पाठ्यक्रम रखे जावें : (१) अ-कोर्स जो साधारण रूप में साहित्यिक पाठ्यक्रम हो और जिसका उद्देश्य विश्व-विद्यालय में प्रवेश पानेवाले छात्रों को तैयार करना हो; और (२) आ-कोर्स —यह व्यावहारिक तथा औद्योगिक पाठ्यक्रम हो, जिसमें व्यापारिक, व्यावसायिक तथा साहित्येतर विषयों का समावेश हो।†

आज हम अपने इस देश में बहूद्देश्यीय स्कूलों की चर्चा सुनते हैं, पर इसकी परिकल्पना ८० वर्ष पूर्व हण्टर कमीशन ने की थी। खेद की बात है कि इस सुझाव की ओर न सरकार ने ध्यान दिया और न जनता ने ही।

सन् १८८२ से १९०२ तक माध्यमिक शिक्षा में एक बाढ़-सी आ गयी। सन् १८८२ में माध्यमिक स्कूलों की संख्या ३,९१६ थी। इनमें २,१४,६७७ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे। सन् १९०२ में स्कूलों की संख्या ५,१२४ तथा उनकी छात्र-संख्या ६,२२,८६८ हो गयी। इसी अवधि में, मैट्रिक परीक्षा में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की भी संख्या बढ़ी — १८८२ में ७,४२९ से १९०२ में २२,७६७ हुई। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा का विस्तार अवश्य हुआ, पर अधिकार एवं संगठन के अभाव में कमजोर स्कूलों की ही संख्या बढी। ये स्कूल अधिकतर बिना सहायता-प्राप्त स्कूल थे। वे शिक्षा विभाग के प्रशासन के बाहर थे; कारण, उन्हें सरकारी अनुदान नहीं मिलता था। वे फीस की आय पर चलते थे, तथा उनके संचालकों को छूट थी कि वे अपने स्कूल, जैसा भी चाहें, चलावें। वे अपने विद्यार्थियों को मैट्रिक परीक्षा में भेज सकते थे। विश्वविद्यालय उन्हें मान्यता अवश्य देता था पर उसे उनके निरीक्षण का अधिकार न था।

सन् १९०४ के सरकारी प्रस्ताव के अनुसार, सभी स्वसंचालित स्कूल—सहायता-प्राप्त और बिना सहायतावाले—सरकारी नियन्त्रण के अधीन आये। इस प्रस्ताव में, सरकार ने कुछ मामूली शर्तें निर्धारित की, जिनका पालन करना सभी स्कूलों के लिए अनिवार्य हो गया। इन शर्तों के माने बिना स्कूल स्वीकृत नहीं गिने जाते थे। इस तरह बिना सहायतावाले स्कूल सरकारी नियन्त्रण में लाये गये। इसी समय, भारतीय विश्वविद्यालय कानून (१९०४) पास हुआ। इसके अनुसार मैट्रिक परीक्षा में परीक्षार्थी भेजनेवाले माध्यमिक विद्यालयों को मान्यता देने का अधिकार विश्वविद्यालयों को सौंपा गया। परिणाम-स्वरूप प्रत्येक विश्वविद्यालय ने कुछ शर्तें निर्धारित कीं। समय समय पर विश्वविद्यालयों द्वारा इन विद्यालयों का निरीक्षण भी होने लगा। इससे

† *Hunter Commission's Report*, para 3.

स्कूलों की शिथिलता निश्चय ही दूर हुई; पर माध्यमिक क्षेत्र में, विश्वविद्यालय का प्रभुत्व बढ़ा तथा प्रशासन में द्वैध शासन शुरू हुआ।

स्वदेशी आन्दोलन से सेडलर कमीशन तक (१९०५-१७).—इस अवधि की मुख्य विशेषतायें हैं : १) राष्ट्रीय जागृति, (२) शिक्षा के माध्यम पर विचार और (३) माध्यमिक शिक्षा का प्रशासन।

राष्ट्रीय जागृति.—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से, भारतवासियों ने शिक्षा में दिलचस्पी लेना शुरू किया। पिछली शताब्दी में, इस देश के निवासी सरकार की शिक्षा-नीति के प्रति उदासीन रहे। पर लार्ड कर्जन के सुधारों को भारतवासी सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। देश भर में यह भावना लहरा गयी कि लार्ड कर्जन के शिक्षा-सुधारों का मुख्य उद्देश्य 'शिक्षा का विस्तार रोकना' है। हमारे नेताओं ने यह पूर्णतया समझ लिया कि देश का पुनर्जागरण शिक्षा के प्रसार से ही सम्भव है। यह जागरण केवल सरकार का मुँह ताकने से ही सम्भव न था, बल्कि उनके प्रयत्नों पर अवलम्बित था। इस प्रकार हमारे नेतागण शिक्षा-सुधार के लिए कटिबद्ध हुए।

सन् १९०५ में लार्ड कर्जन की बंग विच्छेद-चेष्टा के कारण, बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन शुरू हुआ। इसका शिक्षा पर व्यापक प्रभाव पड़ा। फलतः, बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् की स्थापना हुई। इसके कर्णधार थे सर गुरुदास बनर्जी, रासबिहारी घोष तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर। भारत में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार का यही सबसे प्रथम प्रयास था। परिषद् ने पूर्व-प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा के सुधार की एक विस्तृत योजना तैयार की। कलकत्ते में एक राष्ट्रीय कालेज तथा एक इजीनियरिंग कालेज (वर्तमान जादवपुर विश्वविद्यालय) स्थापित हुआ। राष्ट्रीय कालेज के अध्यक्ष थे श्री अरविन्द। कुछ राष्ट्रीय माध्यमिक स्कूल भी खोले गये। इनमें साधारण विषयों के अतिरिक्त, एक उद्योग भी सिखाया जाता था।

परिषद् ने सम्पूर्ण भारत में शिक्षा-सुधार की एक लहर सी फैला दी। किन्तु अल्पकाल में स्वदेशी आन्दोलन के शिथिल होने पर सभी राष्ट्रीय संस्थाएँ बन्द हो गयीं। केवल जादवपुर विश्वविद्यालय आज भी सिर ऊँचा किये खड़ा है। पर परिषद् की चेष्टा के कारण, माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में व्यावसायिक शिक्षा की माँग शुरू हुई।

शिक्षा का माध्यम.—इस अवधि में शिक्षा के माध्यम पर घोर तर्क-वितर्क आरम्भ हुए। कारण, यह सभी अनुभव करने लगे कि माध्यमिक शिक्षा का माध्यम

मातृ-भाषा होना चाहिए न कि अंग्रेजी। १७ मार्च, १९१५ में श्री एस० रायानिग्गार ने केन्द्रीय विधायिका में निम्न-लिखित प्रस्ताव उपस्थित किया :

> यह विधायिका गवर्नर-जनरल की कार्य-कारिणी समिति से सिफारिश करती है कि माध्यमिक स्कूलों का शिक्षा-माध्यम भारतीय भाषाएं हों; पर पाठ्यक्रम में अंग्रेजी एक द्वितीय अनिवार्य भाषा के रूप में रहे। इन प्रश्नों का विचार कार्य-कारिणी समिति प्रान्तीय सरकारों का परामर्श लेकर करे।

इस प्रस्ताव का घोर विरोध हुआ। विरोध के मुख्य कारण ये थे : (१) विद्यार्थियों के अंग्रेजी भाषा के ज्ञान में अवनति की आशङ्का, (२) भारतीय भाषाओं में उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों का अभाव, (३) बहुभाषा-भाषी प्रान्तों की कठिनाइयाँ और (४) अन्तर-प्रादेशिक आदान-प्रदान में अंग्रेजी की आवश्यकता। परिणाम-स्वरूप अंग्रेजी का प्राधान्य माध्यमिक क्षेत्र में बना रहा।

प्रशासन.—सन् १९०४ के सरकारी प्रस्ताव की नीति के अनुसार माध्यमिक शिक्षा की गुणात्मक उन्नति हुई। पर स्कूलों की वृद्धि रोकी न जा सकी। स्कूलों की संख्या क्रमशः बढ़ती हुई सन् १९१७ में ७,६९३ हो गयी। पर इस अवधि में हाईस्कूल के प्रशासन में द्वैध शासन आरम्भ हुआ। कारण, हाईस्कूलों को दो अधिकारियों के सामने झुकना पड़ता था। एक ओर उन्हें अनुदान-सहायता के लिए सरकारी शिक्षा-विभागों से स्वीकृति लेनी पड़ती थी और दूसरी ओर मैट्रिक परीक्षा में विद्यार्थियों को भेजने के लिए विश्वविद्यालयों के समक्ष प्रार्थी होना पड़ता था। इस दोहरे नियन्त्रण के कारण, शिक्षा-विभागों तथा विश्वविद्यालयों में तनातनी चलती थी। शिक्षा-विभाग का कथन था कि विश्वविद्यालय की स्वीकृति केवल मैट्रिक वर्ग तक ही सीमित रहे, पर विश्वविद्यालय टस-से-मस होना नहीं चाहता था।

सैडलर कमीशन से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक (१९१९–४७).—इस अवधि में कई विख्यात रिपोर्टों ने माध्यमिक शिक्षा पर अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। इनमें से मुख्य थे : सैडलर कमीशन-रिपोर्ट (१९१९), हार्टग-रिपोर्ट (१९२९), एबट-वुड-रिपोर्ट (१९३७) तथा सार्जेण्ट रिपोर्ट (१९४४)।

सैडलर कमीशन रिपोर्ट.—सन् १९१७ ई० में भारत सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की जाँच के लिए लीड्स विश्वविद्यालय के उपकुलपति, सर माईकेल सैडलर की अध्यक्षता में 'कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन' की नियुक्ति की। इस आयोग ने माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय के कुछ सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार किया। कमीशन की

राय थी कि माध्यमिक शिक्षा में सुधार के बिना विश्वविद्यालय की उन्नति असम्भव है।† इस कारण, आयोग ने माध्यमिक शिक्षा का पूर्ण विश्लेषण किया और इस क्षेत्र में निम्नलिखित सुझाव रखे :

१. माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय की शिक्षाओं का विभाजन, मैट्रिक परीक्षा की अपेक्षा इण्टरमीडिएट परीक्षा द्वारा हो।

२. माध्यमिक शिक्षा के उपरान्त दो परीक्षाएँ ली जावें : (१) हाईस्कूल परीक्षा, जो वर्तमान मैट्रिक परीक्षा के समान हो। इसे परीक्षार्थी सोलह वर्ष की आयु में दे सकें। (२) इण्टरमीडिएट परीक्षा, जिसे विद्यार्थी १८ वर्ष की आयु में दे सकें। यह प्रचलित इण्टरमीडिएट परीक्षा के समान अवश्य हो, पर इसके पाठ्य-क्रम में विविध विषयों का समावेश हो।

३. इण्टरमीडिएट शिक्षा का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों से हस्तान्तरित होकर एक नये प्रकार के विद्यालय अर्थात् इण्टरमीडिएट कालेजों के हाथ में आवे। इनमें कला तथा विज्ञान के अतिरिक्त चिकित्सा, प्रशिक्षण, इंजियनियरिंग, कृषि, वाणिज्य तथा व्यवसाय के शिक्षण की सुविधा हो। ये कालेज या तो स्वतन्त्र हों या हाईस्कूलों से संलग्न हों।

४. माध्यमिक शिक्षा के प्रबन्ध, प्रवेश एवं परीक्षण के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक माध्यमिक तथा इण्टरमीडिएट मण्डल की स्थापना की जावे। प्रत्येक परिषद् में सरकार, विश्वविद्यालय, हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट कालेजों के प्रतिनिधि हों।

भारतीय शिक्षा में यह पहला ही अवसर था कि एक शिक्षा-आयोग ने इण्टरमीडिएट शिक्षा का हस्तान्तरण हाईस्कूलों में करने का सुझाव दिया। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि विश्वविद्यालयों का मैट्रिक तथा इण्टरमीडिएट पाठ्यक्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका प्रबन्ध एक स्वतन्त्र शिक्षा-परिषद् करे।

हार्टग रिपोर्ट.—हार्टग कमिटी की दृष्टि में, माध्यमिक पाठ्यक्रम मैट्रिक परीक्षा की आवश्यकताओं से पूर्णतः प्रभावित था। कमिटी ने कहा कि "माध्यमिक शिक्षा की उन्नति सन्तोषजनक हुई है, किन्तु इसके संगठन में अनेक दोष हैं। इसका अन्दाज मैट्रिक परीक्षा में अत्यधिक असफल होने वाले छात्रों की संख्या से लगता है।" इस व्यर्थता को दूर करने के लिए, समिति ने यह परामर्श दिया कि :

† *Calcutta University Commission's Report*, Vol V, p. 297.

१. जो बालक ग्रामीण व्यवसायों में लग सकें, उनके लिए ग्रामीण शालाएँ खोलीं जावें। इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में विविधता लायी जाय।

२. मिडिल कक्षाओं में ही पाठ्यक्रम का विभाजन हो जाय, ताकि वहीं से विद्यार्थीगण औद्योगिक तथा व्यावसायिक कार्यों की ओर मुड़ सकें।

एबट-वुड रिपोर्ट.—सन् १९३६-३७ ई० में भारत सरकार ने दो अंग्रेज विशेषज्ञों को, व्यावसायिक शिक्षा के विषय में सलाह देने के लिए निमन्त्रण दिया। ये महानुभाव थे श्री एबट तथा श्री वुड। इन्होंने भारतीय शिक्षा का अध्ययन किया, तथा मार्च, सन् १९३७ में अपना प्रतिवेदन तैयार किया जो एबट-वुड रिपोर्ट के नाम से मशहूर है। रिपोर्ट में माध्यमिक शिक्षा पर प्रमुख सिफ़ारिशें ये थीं :

१. ग्रामीण मिडिल स्कूलों का पाठ्य-क्रम बालकों के वातावरण से सम्बन्धित हो।

२. हस्तकला, कला तथा कौशल के शिक्षण को प्रोत्साहित किया जावे। प्रत्येक स्कूल के पाठ्य-क्रम में इनका समावेश हो।

३. दो प्रकार के व्यावसायिक स्कूल खोले जावें; (१) अवर (३ वर्ष की शिक्षा) — इनमें आठवीं कक्षा के बाद विद्यार्थीगण भरती हों, और (२) प्रवर (२ वर्ष की शिक्षा) — इनमें ग्यारहवीं कक्षा के बाद छात्र भरती किये जावें।

४. चुने हुए स्थानों में भारत सरकार व्यावसायिक प्रशिक्षण कालिज तथा तकनिकी स्कूल स्थापित करे।†

सार्जेण्ट रिपोर्ट.—माध्यमिक शिक्षा के विषय में, इस रिपोर्ट ने निम्नलिखित सुझाव दिये :

१. वर्तमान इण्टरमीडिएट का प्रथम वर्ष हाईस्कूल में मिलाकर, हाई स्कूल की शिक्षा छः वर्षों की कर दी जावे। हाई स्कूल में भरती की अवस्था ११ वर्ष होनी चाहिए।

२. हाई स्कूल की शिक्षा उन्हीं छात्रों को दी जानी चाहिए, जिनकी क्षमताएँ औसत छात्रों से स्पष्टतः ऊँची हों। इस कारण, अवर बुनियादी पाठ्य-क्रम खतम करने के बाद चुनाव द्वारा छाँट कर केवल २० प्रति शत

† *Abbott-Wood Report*, p. 107.

छात्र हाई स्कूलों में प्रवेश पावें। पर बुनियादी शिक्षा में जो छात्र योग्यता दिखलावें, उनके प्रवेश के लिए भी हाई स्कूलों में स्थान रखे जावें।

३. हाई स्कूल दो प्रकार के हों — साहित्यिक तथा तकनिकी। दोनों का लक्ष्य विद्यार्थी को एक उत्तम ठोस शिक्षा देना हो, ताकि आखिरी कक्षाओं में उसे एक ऐसे उद्यम की शिक्षा मिले जो उसके स्कूल छोड़ने पर भावी जीवन में काम आवे।

४. प्रत्येक दशा में पाठ्य-क्रम विभिन्न हो। उस पर विश्वविद्यालय या सार्वजनिक परीक्षण संस्थाओं का अनावश्यक प्रभाव न हो।†

उपसंहार.—इस अवधि में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति उत्तरोत्तर होती ही रही। सन् १९४८ ई० में मुख्य प्रान्तों के माध्यमिक स्कूलों की संख्या १२,६९३ तक पहुँची। इनकी छात्रसंख्या की भी वृद्धि हुई। इस वर्ष मिडिल स्कूलों की तथा हाई और उच्चतर हाईस्कूलों की सम्मिलित छात्रसंख्या क्रमशः ११,६७,२८३ तथा १७,८६,७१२ थी। जनता में माध्यमिक शिक्षा की चाह बढ़ी। देहातों में अनेक माध्यमिक स्कूल खुले तथा कन्या-शिक्षा बढ़ी।

सन् १९४७ ई० में, ब्रिटिश राज्य का अन्त हुआ। अंग्रेजी शिक्षा-नीति के माध्यमिक शिक्षा पर प्रभाव की आलोचना करते हुए, श्री हैम्पटन ने कहा है :

> माध्यमिक शिक्षा का एक सिंहावलोकन करते समय, हमें मानना ही पड़ता है कि यह शिक्षा पूर्ण विकसित न हो सकी—न यह देश के राजनैतिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक वृद्धि के साथ कन्धे से कन्धा लगाकर बढ़ी, और न आधुनिकतम शैक्षणिक प्रगति के साथ अग्रसर हुई। स्कूलों पर मैट्रिक परीक्षा तथा शिक्षा-विभाग के शालीय स्वीकृत नियमों का अत्यधिक प्रभुत्व है। पाठ्यक्रम नितान्त पुस्तकीय तथा सैद्धान्तिक है, विद्यार्थियों की व्यावहारिक आवश्यकताओं की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता है, अंग्रेजी में घोंटते घोंटते वे अपनी प्रेरणाशक्ति खो बैठते हैं। स्कूलों की पढ़ाई शुष्क तथा नीरस है, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक विषयों का आयोजन नहीं किया गया है, शारीरिक शिक्षा, खेल-कूद तथा मनोरंजन-कार्यों का अभाव है। अनेक शिक्षा आयोग तथा समितियों ने शिक्षा-सुधार पर सुझाव दिये थे,

† *Sargent Report*, pp. 26–27.

पर उन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इने-गिने विद्यालयों को छोड़कर माध्यमिक स्कूल आज उसी दशा में हैं, जैसे कि वे सन् १८८४ या १९०४ में थे।†

स्वातन्त्र्योत्तर काल.—इस काल में तीन प्रसिद्ध निकायों ने माध्यमिक शिक्षा पर विचार किया : ताराचन्द समिति (१९४८), विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग (१९४९) तथा माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५३)।

ताराचन्द समिति.—इस समिति ने सुझाव दिया कि माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा का अवधि-काल १२ साल का हो : ५ वर्ष अवर-बुनियादी, ३ वर्ष प्रवर-बुनियादी तथा ४ वर्ष उच्चतर माध्यमिक। उच्चतर माध्यमिक स्कूल बहूद्देशीय हों। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि साधारण स्कूल बन्द कर दिये जायँ। माध्यमिक शिक्षा की जाँच करने के लिए समिति ने एक कमीशन की नियुक्ति की सिफ़ारिश की।

विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग.—इस आयोग का सम्बन्ध विश्वविद्यालयीन शिक्षा से था, पर इसने माध्यमिक शिक्षा का भी विश्लेषण किया और उस पर कुछ सुझाव भी दिये। कमीशन ने गौर किया कि हमारी माध्यमिक शिक्षा, शिक्षा-क्षेत्र की सबसे कमजोर कड़ी है और उसका सुधार अत्यावश्यक है। आयोग ने फिर मत दिया कि विश्वविद्यालयों में प्रवेश इण्टरमीडिएट पास करने के बाद होना चाहिए, अर्थात् बारह वर्ष स्कूल तथा इण्टरमीडिएट कालिज में शिक्षा के पश्चात्।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग.—ताराचन्द समिति तथा 'केसशिम' की सिफ़ारिशों के कारण भारत-सरकार ने २३ सितम्बर, १९५२ को यह कमीशन नियुक्त किया। मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति, डॉ० लक्ष्मनस्वामी मुदालियर, इसके अध्यक्ष थे। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट जून, १९५३ में भारत सरकार को दे दी। इसमें माध्यमिक शिक्षा के पेंचीदे प्रश्नों पर विचार किया गया है। मुख्य सिफ़ारिशों की चर्चा इस अध्याय में यथोचित स्थानों पर की जावेगी।

उपसंहार.—स्वातन्त्र्य लाभ के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा में उल्लेखयोग्य प्रगति हुई है। इसका पता अगले पन्ने के तालिका से लगेगा :

---

† H. V. Hampton. "Secondary Education", *The Educational System*. Bombay, O. U. P., 1943. pp. 30–31.

तालिका ११

माध्यमिक शिक्षा का विस्तार, १९४७–४८ से १९५६–५७

वर्ष	स्कूल-संख्या	छात्र-संख्या	खर्च (करोड़ रुपये)
१९४७–४८	१२,६९३	२९,५३,९९५	१४
१९५२–५३	२४,०५९	५९,०६,६६६	३७
१९५६–५७	३५,८३८	९३,३०,०००	५८

इस काल में माध्यमिक शिक्षा के ध्येय, पाठ्यक्रम, संगठन इत्यादि में अनेकानेक हेरफेर हुए। उल्लेखयोग्य सुधार ये हैं: (१) पाठ्यक्रम में विविधता तथा व्यावसायिक विषयों का समावेश, (२) विज्ञान आदि विषयों के अध्यापन में सुधार, (३) नये प्रकार के उत्तर-प्राथमिक स्कूलों का आविर्भाव, (४) क्षेत्रीय भाषाओं तथा राष्ट्र-भाषा की ओर अधिक झुकाव, (५) व्यायाम तथा खेल-कूद को प्रोत्साहन, इत्यादि। इतना होते हुए भी, भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में, माध्यमिक शिक्षा सबसे निकम्मी ठहरायी जाती है।

वर्तमान स्थिति

स्कूलों का वर्गीकरण.—साधारणतः माध्यमिक स्कूलों की शिक्षावधि सात वर्ष होती है। इस अवधि को हम दो भागों में बाँट सकते हैं: (१) मिडिल या प्रवर बुनियादी या अवर माध्यमिक प्रकरण — यहाँ ११–१३ वयोवर्ग के विद्यार्थीगण अध्ययन करते हैं, और (२) हाईस्कूल — जहाँ १३ से १६ वयोवर्ग के छात्रगण शिक्षा पाते हैं। यह अवश्य है कि यह व्यवस्था पूरे देश में एक-सी नहीं है। प्रत्येक राज्य की अपनी अपनी विशेषता है। बहुधा मिडिल स्कूल हाई-स्कूलों से संलग्न रहते हैं।

हाल ही में कुछ नये प्रकार के माध्यमिक स्कूल खुले गये हैं। वे ये हैं: उच्चतर माध्यमिक स्कूल तथा उत्तर-बुनियादी स्कूल। उच्चतर माध्यमिक स्कूल की अवधि किसी राज्य में तीन वर्ष और किसी में चार वर्ष है। इनके सिवा, अनेक स्कूलों को बहूद्देशीय स्कूलों में बदल दिया गया है।

माध्यमिक शिक्षा का विस्तार
खर्च (करोड़ रुपयों में)
विद्यार्थी (लाख)
स्कूल (हज़ार)
१००
८०
६०
४०
२०
०
विद्यार्थी
खर्च
स्कूल
१९४७
१९५२
१९५७

चित्र ८

माध्यमिक शिक्षा लेने योग्य बच्चों की दृष्टि से विभिन्न राज्यों में शिक्षा का प्रबन्ध १९५५-५६
७.७
जम्मु और काश्मीर
२१.८
पंजाब
७.०
राजस्थान
१२.२
उत्तरप्रदेश
१४.८
आसाम
८.३
बिहार
९.५
मध्य प्रदेश
१८.५
पश्चिमी बंगाल
१७.१
बम्बई
४.२
उड़ीसा
१२.३
आन्ध्र
१५.२
मैसूर
१५.५
मद्रास
३३.३
केरल
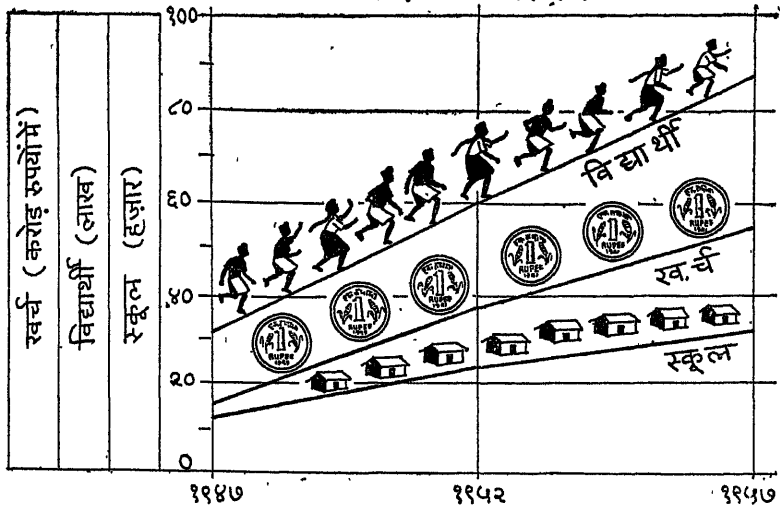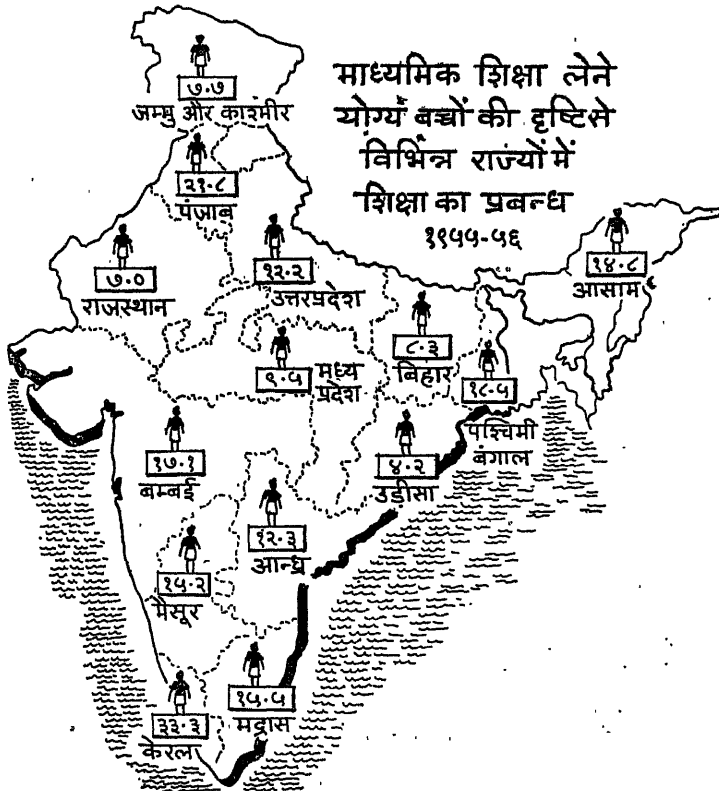
चित्र ९

स्कूल तथा छात्र-संख्या.—सन् १९५६-५७ में कुल स्वीकृत माध्यमिक स्कूलों की संख्या ३६,२९१ थी, जिनमें से २६ उत्तर-बुनियादी, २४,४८६ मिडिल तथा ११,७७९ उच्च एवं उच्चतर स्कूल थे। इनमें से ४,३७३ कन्या-शालाएँ थीं। देहातों की कुल स्कूल-संख्या २४,९३६ थी, जिनमें १९,७१३ मिडिल तथा ५,२२३ हाई स्कूल थे।

इसी वर्ष माध्यमिक स्कूलों की छात्र-संख्या थी : ७९,७१,५९५ (५४,३५,७९६ लड़के और २५,३५,७९९ लड़कियाँ)। इन विद्यार्थियों में से ४८,२३,३४४ (३८,३०,७८४ लड़के और ९,९२,५६० लड़कियाँ) मिडिल कक्षाओं में, तथा २०,३३,२६१ (१६,५५,७५० लड़के और ३,४७,५११ लड़कियाँ) उच्च वर्गों में अध्ययन कर रहे थे। माध्यमिक शिक्षा लेने योग्य सम्पूर्ण देश के बच्चों का १३·५ प्रति शत स्कूलों में शिक्षा पा रहा था। इस दृष्टि से विभिन्न राज्यों का शिक्षा-प्रबन्ध चित्र ९ से मिलेगा।

प्रबन्ध.—प्रबन्ध की दृष्टि से माध्यमिक स्कूलों का विभाजन निम्नांकित तालिका में प्रदर्शित किया गया है :

तालिका १२

माध्यमिक स्कूलों का विभाजन, १९५५-५६†

अनुशान	स्कूल-संख्या	कुल स्कूलों का प्रतिशत
राजकीय	६,५७३	२०·२
ज़िला-मण्डल	९,१५४	२८·१
नगर-पालिका-मण्डल ...	१,२३६	३·८
स्वसंचालित स्कूल :		
सहायता-प्राप्त ...	११,६३२	३५·७
स्वाश्रित ...	३,९७३	१२·२
योग...	३२,५६८	१००·००

† *Education in India*, 1955-56, Vol. I. p. 122.

इस प्रकार एक-पंचमांश संस्थाएँ राजकीय हैं तथा लगभग आधे स्कूल गैरसरकारी हैं। प्रायः एक-चतुर्थांश स्वसंचालित स्कूलों को सरकारी अनुदान नहीं मिलता तथा प्रायः एक-तृतीयांश स्कूल स्थानीय निकायों-द्वारा परिचालित हैं।

प्रशासन.—माध्यमिक शिक्षा की जिम्मेवारी राज्यों पर है तथा इसका प्रशासन शिक्षा-विभाग करता है। शिक्षा-विभाग शाला-स्वीकृति के नियम बनाता है, स्कूलों के प्रशासन के लिए कायदे-कानून ठीक करता है, पाठ्य-पुस्तकें तथा पाठ्यक्रम निर्धारित करता है तथा स्कूलों का निरीक्षण करता है। पर स्कूल-इन्स्पेक्टरों की संख्या पर्याप्त न होने के कारण, स्कूल-निरीक्षण ठीक नहीं हो पाता है। माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने कहा ही है :

> प्रचलित निरीक्षण-पद्धति की अनेक साक्षियों ने तीव्र समालोचना की है। उनका कहना है कि निरीक्षण-कार्य असावधानी से किया जाता है, तथा स्कूल का निरीक्षण अल्प-कालिक होता है।†

सैडलर कमीशन की सिफ़ारिशों के कारण आज प्रायः प्रत्येक राज्य में इण्टर-मीडिएट या। और माध्यमिक शिक्षा-मण्डल स्थापित हुए हैं। सन् १९५७ ई० में इनकी संख्या पन्द्रह थी। इनके नाम तथा प्रत्येक का संस्थापन वर्ष इस प्रकार हैं : (१) बिहार स्कूल परीक्षा-मण्डल, पटना, १९५२, (२) राज्य-परीक्षा-मण्डल, त्रिवेन्द्रम १९४९, (३) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, दिल्ली, १९२६, (४) आन्ध्र माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, ग्वालियर, १९५६, (६) उत्तर-प्रदेश माध्यमिक तथा इंटरमीडिएट शिक्षा-मण्डल, अलाहाबाद, १९२२, (७) माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, मद्रास, १९११, (८) उड़ीसा माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, कटक, १९५६, (९) राजस्थान माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, जयपुर, १९५०, (१०) पश्चिम बंगाल माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, १९५१, (११) केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, अजमेर, १९२९, (१२) महाकोशल माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, १९५६, (१३) मैसूर माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, बंगलोर, १९१३, (१४) माध्यमिक स्कूल सर्टीफिकेट मण्डल, पूना, १९४८ और (१५) विदर्भ माध्यमिक शिक्षा-मण्डल, नागपुर, १९२२। इनमें से अजमेर मण्डल को छोड़कर शेष अपने-अपने क्षेत्र या राज्य के इंटरमीडिएट या। और शालान्त परीक्षाओं का परिचालन करते हैं। अजमेर-मण्डल की परीक्षाओं में भारत के किसी भी भाग के विद्यार्थी बैठ सकते हैं। ये परीक्षाएँ उन छात्रों के लिए सुविधाजनक हैं, जिनके अभिभावकों की बदली भारत के विभिन्न भागों में बहुधा हुआ करती है।

---

† *Secondary Education Commission's Report*, p. 193.

वित्त.—माध्यमिक शिक्षा का स्रोतवार खर्च का विवरण निम्नांकित तालिका में मिलेगा :

तालिका १३

माध्यमिक शिक्षा पर स्रोतवार कुल प्रत्यक्ष खर्च, १९५५-५६†

स्रोत	रक़म (रुपये)	कुल खर्च का प्रति शत
राजकीय निधि	२४,६८,२६,९५२	४६·६
जिला मंडल निधि	२,४९,३०,७६५	४·७
नगर पालिका मंडल निधि ...	१,०७,६१,५४४	२·०
फीस	२०,०४,९२,२६७	३७·८
दान	१,५०,३९,४५५	२·८
दूसरे स्रोत	२,८६,७८,७३०	६·८
योग...	५३,०१,९८,६११	१००·००

ऊपर के अंकों से स्पष्ट है कि सरकार माध्यमिक शिक्षा का आधा खर्च स्वतः चलाती है, पर यह रक़म सब राज्यों में एक-सी नहीं है। सबसे अधिक यह मध्यप्रदेश (५७·३) में थी तथा सबसे कम आन्ध्र प्रदेश (२३·९) में। पश्चिम बंगाल तथा उत्तर प्रदेश का आधे से अधिक खर्च फीस द्वारा चला। दान और दूसरे स्रोत का भी हिसाब भिन्न-भिन्न था — कुल खर्च का १५·१ प्रति शत उड़ीसा में तथा ४·६ प्रति शत आन्ध्र प्रदेश में।

† *Education in India*, 1955-56, Vol 1. p. 144.

स्वसंचालित संस्थाओं को बहुधा राजकीय अनुदान मिलता है। पर इस प्रश्न पर प्रत्येक राज्य की स्वतन्त्र नीति होती है निम्न-लिखित विषयों में से किसी भी एक मद पर अनुदान प्राप्त हो सकता है :

१. शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए वृत्ति;

२. विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की परीक्षा का खर्च;

३. अनाथ बच्चों के छात्रावासों का सञ्चालन;

४. स्कूल तथा छात्रावास की इमारतों के निर्माण तथा प्रसार पर खर्च;

५. असबाब, शिक्षा-साधन, विज्ञान-शिक्षा तथा पुस्तकालय पर व्यय;

६. स्कूल की इमारतों, छात्रावासों तथा खेल-कूद के लिए जमीन खरीदने का खर्च;

७. हस्त-कला, कला तथा कौशल के शिक्षण पर व्यय; तथा

८. निर्वाह-अनुदान। †

केन्द्रीय सरकार राज्य-सरकारों तथा शिक्षा-संस्थाओं को कुछ अनुमोदित विषयों के लिए अनुदान देती है। प्रथम योजना-काल में केन्द्रीय सरकार की आर्थिक सहायता के कारण माध्यमिक शिक्षा में अनेक सुधार किये गये। ४७० स्कूल बहूद्देश्यीय स्कूलों में बदल दिये गये। १,०७२ स्कूलों को समाज-शास्त्र तथा २१४ स्कूलों को विज्ञान-अध्यापन की उन्नति के लिए, १,४७९ स्कूल-पुस्तकालयों तथा १,११९ मिडिल स्कूलों को हस्तकला आरम्भ करने के उद्देश्य से केन्द्रीय अनुदान की व्यवस्था की गयी। १० प्रशिक्षण केन्द्रों और १३ प्रशिक्षण महाविद्यालयों को ग्राण्ट मिला तथा २१ संस्थाओं को माध्यमिक शिक्षा के ३१ विषयों पर शोध करने के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। केन्द्रीय सरकार ने प्रत्येक मद में अनावर्ती खर्च का ६६ प्रति शत तथा आवर्तक खर्च का २५ प्रति शत स्वयं अनुदान के रूप में दिया।

अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद—माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफ़ारिशों के कारण, भारत सरकार ने इस परिषद की स्थापना २२ मार्च, १९५५ में की। परिषद एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में काम करती है, तथा केन्द्रीय और राज्य-सरकारों को माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में सलाह देती है। सितम्बर, १९५८ को परिषद की कार्यवाही की जाँच केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय-द्वारा नियुक्त एक

† *Secondary Education Commission's Report*, p. 221.

समिति ने की। इस समिति के परामर्श के अनुसार, परिषद् पुनर्गठित हुई। इस पुनर्गठित परिषद् के सदस्यों का विवरण इस प्रकार है : (१) संचालक, माध्यमिक शिक्षा-प्रसारण – कार्यक्रम – संचालक-मण्डल, केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय, (२) नायब वित्त-परामर्शदाता, केन्द्रीय मन्त्रालय, (३) प्रत्येक संस्था से एक प्रतिनिधि — (अ) अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा-परिषद्, (आ) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, (इ) अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा-परिषद्, (ई) अखिल भारतीय शिक्षण-संघ और (उ) शिक्षण महाविद्यालय – आचार्य-सभा, (४) प्रत्येक राज्य का एक प्रतिनिधि, (५) पाँच नामजद शिक्षा-शास्त्री – केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय द्वारा मनोनीत। इस तरह सभासदों की संख्या चौबीस है।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के संयुक्त शिक्षा-परामर्श-दाता माध्यमिक शिक्षा-विभाग, तथा इसी विभाग के प्रधान क्रमशः इस परिषद् के अध्यक्ष एवं मन्त्री हैं। परिषद् के मुख्य कार्य निम्न-लिखितानुसार हैं :

१. माध्यमिक शिक्षा की प्रगति की आलोचना करना तथा एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में माध्यमिक शिक्षा के प्रत्येक प्रश्न पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को सलाह देना;

२. केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा उठाये हुए प्रस्तावों की परीक्षा करना और उन पर उपयुक्त सुझाव देना;

३. माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए, नये प्रस्तावों को उठाना; और

४. माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित शोधों पर विचार करना तथा गवेषणा के लिए नये तथ्य सुझाना।†

मूल परिषद् के विधायक कार्य अब एक स्वतन्त्र 'माध्यमिक शिक्षा-प्रसारण-कार्यक्रम-संचालक-मण्डल' को सौंप दिये गये हैं। यह मण्डल केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय से संलग्न है। नये परिषद् का प्रथम अधिवेशन २७ जुलाई, १९५९ को हुआ, जब कि माध्यमिक शिक्षा के मुख्य पाँच प्रश्नों पर विचार करने के लिए पाँच उप-समितियाँ नियुक्त हुईं : (१) उच्चतर माध्यमिक स्कूल तथा बहूद्देशीय स्कूल, (२) पाठ्य-विषयक तथा परीक्षा-सम्बन्धी सुधार, (३) मध्य-अध्यापन-प्रशिक्षण, (४) शिक्षक तथा प्रयोग और (५) विज्ञान-शिक्षा।

---

† *Government of India Resolution No. F.* 13-36/58-SE. 3, March 28, 1959.

पाठ्यक्रम.—बहुधा माध्यमिक पाठ्यक्रम में ये विषय सम्मिलित रहते हैं : (१) अंग्रेजी, (२) मातृ-भाषा, (३) इतिहास तथा भूगोल, (४) गणित, (५) विज्ञान और (६) सांस्कृतिक या आधुनिक भाषा। हाल ही में औद्योगिक विषयों का भी समावेश हुआ है। पाठ्यक्रम के दोषों की आलोचना करते हुए, माध्यमिक शिक्षा आयोग ने कहा :

> १. प्रचलित पाठ्यक्रम अति संकुचित है;
>
> २. यह निरा पुस्तकीय तथा सैद्धान्तिक है;
>
> ३. पाठ्य-विषयों की अधिकता होते हुए भी, इसमें उन क्रियाओं का अभाव है, जिनसे विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास हो सके;
>
> ४. यह किशोरों की विभिन्न क्षमताओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता;
>
> ५. इसमें परीक्षा की प्रधानता रहती है; और
>
> ६. इसमें तकनिकी तथा व्यावसायिक शिक्षा का अभाव है। देश की आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति के लिए ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है।†

ताराचन्द रिपोर्ट के निकलते ही देश में विविध पाठ्यक्रम की माँग शुरू हुई तथा कुछ औद्योगिक स्कूल खुले। माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप इस कार्य में एक नवीनता आयी। अब बहूद्देशीय स्कूल खुलते जा रहे हैं तथा पाठ्यक्रम का वृत्त फैल रहा है। शारीरिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया जा रहा है तथा राष्ट्रीय सैन्य-शिक्षार्थी दल की आयोजना की गयी है।

शाला-गृह तथा शिक्षा-साधन.—इसमें कुछ विशेष उन्नति नहीं दिखायी दे रही है। अनेक स्कूल अँधेरी इमारतों तथा गन्दी गलियों में लगते हैं। पुस्तकालयों की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। जनता इन दोषों से पूर्णतया परिचित है, पर उन्नति की आशा नहीं दिख रही है। इसका मुख्य कारण है माध्यमिक शिक्षा का तीव्र गति से विस्तार। कभी-कभी हमारे नेतागण हतोत्साह होकर कह बैठते हैं कि शिक्षा-प्रसार अभी होने दो। शिक्षा-साधनों एवं शाला-गृहों की चिन्ता हम भविष्य में करेंगे।

परीक्षा.—हमारी शिक्षा-पद्धति में परीक्षा का प्रमुख स्थान है। परीक्षाएँ दो प्रकार की होती हैं : आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक परीक्षाओं के द्वारा विद्यार्थियों

---

† *Secondary Education Commission's Report*, p. 79.

के विभाजन तथा उनकी क्षमता की जाँच होती है। आन्तरिक परीक्षाएँ साप्ताहिक, मासिक, सात्रिक तथा वार्षिक होती हैं। इन सबमें वार्षिक परीक्षा ही सबसे महत्व-पूर्ण होती है। कारण, इस परीक्षा-फल के आधार पर विद्यार्थीगण ऊपर की कक्षाओं में चढ़ाये जाते हैं, अथवा अनुत्तीर्ण होने पर उसी कक्षा में रोक लिये जाते हैं।

बाह्य परीक्षा माध्यमिक शिक्षा समाप्त होने पर ली जाती है। भिन्न-भिन्न राज्यों में इस शालान्त परीक्षा के विविध नाम हैं: मैट्रिक, स्कूल फायनल, स्कूल सर्टीफिकेट, आदि। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस परीक्षा में समूचे देश के ५० प्रति शत से भी कम परीक्षार्थी सफल होते हैं। निम्नाङ्कित तालिका पर दृष्टि-निक्षेप कीजिए:

तालिका १४

मैट्रिक तथा अन्य शालान्त परीक्षाओं का फल

वर्ष	परीक्षार्थियों की संख्या	'पास' संख्या	उत्तीर्णता का प्रति शत
१९५१–५२	५,८३,५७०	२,६१,०५९	४४·७
१९५२–५३	७,२४,७९९	३,३४,७६०	४६·२
१९५३–५४	८,१८,६२०	३,९७,००५	४८ ५
१९५४–५५	८,३०,००१	४,००,०१४	४८·२
१९५५–५६	९,२०,०२६	४,२९,४९४	४६·७

परीक्षार्थी, उसके माता-पिता या अभिभावक, समाज तथा शिक्षा-पद्धति पर इस परीक्षा का विषाक्त परिणाम होता है। घोंटते-घोंटते विद्यार्थी निष्प्राण-सा हो जाता है, और उसकी शारीरिक सम्पत्ति निस्तेज पड़ जाती है। परीक्षा में वह जो कुछ भी उगल आता है, उसी पर से उसका मूल्यांकन होता है। उसके आन्तरिक परीक्षा-फल की कोई तनिक भी परवा नहीं करता है। उस मूल्यांकन में परीक्षकों की वैयक्तिक रुचियों एवं विचारों का ही प्राधान्य रहता है। यदि परीक्षार्थी अनुत्तीर्ण होता है, तो वह अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है, विलाप करने लगता है और आत्म-विश्वास गवाँ देता

है। इस के साथ-साथ उसके माता-पिता के तथा देश के अर्थ का नाश या अपव्यय होता है।

पर इस परीक्षा का सबसे बुरा परिणाम हमारी शिक्षा-पद्धति पर पड़ता है। कारण, एक शिक्षक की योग्यता तथा एक स्कूल की दक्षता शालान्त परीक्षा-फल के आधार पर की जाती है। शिक्षक का ध्येय हो जाता है विद्यार्थियों को परीक्षा में पास कराना। वह वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली भूल जाता है। पढ़ाते समय वह उन अंशों पर जोर देता है, जिन पर अधिकतर प्रश्न पूछे जाते हैं। विद्यार्थियों को भी ऐसे स्थल बिना समझे-बूझे कंठस्थ करने पड़ते हैं। इस परीक्षा के विरुद्ध पचास वर्षों से आवाज उठती आ रही है, पर परीक्षाओं के बोझ से भारतीय शिक्षा मुक्त नहीं हो पायी है।

माध्यमिक शिक्षा की कतिपय समस्याएँ

भूमिका.—आज विशेष रूप से माध्यमिक शिक्षा की नुकताचीनी हो रही है, और इस शिक्षा की आशानुरूप प्रगति नहीं हुई है। असन्तोष के अनेक कारण हैं। पूरे विश्व के माध्यमिक क्षेत्र में आज एक नवीन विचार-धारा प्रवाहित हो रही है, ज्ञान की वृद्धि हो रही है, नये-नये विषयों का समावेश हो रहा है तथा उपयोगिता और व्यावहारिक ज्ञान की पुकार मची है। इन सब बातों की आँच हमारे देश की माध्यमिक शिक्षा पर अवश्य लग रही है, पर आशानुरूप परिवर्तन नहीं हो रहे हैं। लगभग दस वर्षों से हम प्रजातान्त्रिक हैं, पर आज भी हमारी माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली प्रजातान्त्रिक नहीं है। विद्यार्थियों के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, पाठ्यक्रम संकीर्ण है, निर्देश तथा परामर्श का अभाव है, परीक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है, जीवन की आवश्यकताओं से शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है, इत्यादि। सारांश यह है कि आज माध्यमिक शिक्षा के सामने अनेक समस्याएँ हैं। उनमें से मुख्य ये हैं: (१) उद्देश्य, (२) माध्यमिक शिक्षा की हद, (३) सांगठनिक ढाँचा, (४) पाठ्यक्रम, (५) विशेष स्कूल, (६) निर्देश तथा परामर्श, (७) प्रशासन, (८) परीक्षा तथा योग्यता-निर्धारण और (९) विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण। अब इन समस्याओं पर क्रमशः संक्षेप में विचार किया जाय।

उद्देश्य.—अभी तक माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को या तो विश्वविद्यालयों के योग्य तैयार करना था, अथवा दफ्तरों के क्लर्कों के लायक बना देना था। अगर माध्यमिक शिक्षा का यही उपयुक्त लक्ष्य है तो हमारे माध्यमिक स्कूल आशातीत सफलीभूत हुए हैं। कारण, कालिज खचाखच भरे हुए हैं। यहाँ तक कि अनेक विद्यार्थियों को वहाँ आज जगह नहीं मिल रही है। इसके सिवा, हज़ारों मैट्रिक

पास युवक और युवतियाँ नौकरी की अर्जी लिये धक्के खाते हुए फिर रही हैं। इस प्रकार वास्तविक जीवन की दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा उद्देश्य-हीन हो गयी है। हिसाब लगाया जाता है कि केवल ५०–५५ प्रति शत मैट्रिक पास विद्यार्थी विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हैं। इसके सिवा गत पचास वर्षों में माध्यमिक स्कूलों की छात्र-संख्या पन्द्रह गुना बढ़ गयी है। सन् १९०१–०२ में ६·२३ लाख छात्र थे, जो सन् १९५६–५७ में ९३·३ लाख हो गये। इसका अर्थ यह है कि अब विभिन्न आर्थिक तथा सामाजिक स्तर के विद्यार्थीगण माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा पा रहे हैं। इन शिक्षा-सम्बन्धी वृत्ति में अधिकतर विविधता पायी जाती है। निःशुल्क अनिवार्य तथा सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ माध्यमिक शिक्षा का और भी विस्तार होगा। अब यह स्पष्ट हो गया है कि माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालय शिक्षा की केवल पृष्ठभूमि न रहेगी, अपितु स्वतः पूर्ण भी होगी। हाँ, यह विश्वविद्यालयों के लिए प्रतिभा-सम्पन्न छात्र तैयार करके अवश्य देवेगी; पर यह भी आवश्यक है कि इस शिक्षा के समाप्त करने पर वे किसी कार्य-क्षेत्र में सीधे लग सकें और जीवन के उत्तरदायित्वों को वहन करने में समर्थ हो सकें। चूँकि वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्ग-पूर्ण विकास करना है, इस कारण माध्यमिक स्कूल का ध्येय विद्यार्थी की मानसिक उन्नति के सिवा उसका शारीरिक तथा नैतिक गठन भी होगा।

आजादी मिलने के पश्चात् हमारे माध्यमिक स्कूलों पर एक नवीन उत्तरदायित्व आ गया है। जैसा कि माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने कहा है कि इन स्कूलों के छात्रों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए "जिससे वे धर्म-निरपेक्ष गणतन्त्र के सारे उत्तरदायित्वों को वहन कर सकें, और देश का नैतिक अभ्युत्थान कर सकें।"† माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य देश के लिए मध्यवर्ती नेता तैयार करना होना चाहिए। हर्ष की बात है कि हमारे देश में अनेक विश्व-विख्यात उच्चश्रेणी के नेतागण हैं; पर मध्यवर्ती नेताओं का अत्यन्त अभाव है। किसी भी देश की उन्नति मध्यवर्ती नेताओं पर ही रहती है। कारण, ये ही स्थानिक समाज के कर्णधार होते हैं। ये ही सामान्य जनता को समुचित निर्देश दे सकते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे माध्यमिक स्कूलों ने अभी तक इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

माध्यमिक शिक्षा की हद—आज हमारे देश के शिक्षा-जगत् में विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का उपयोग हो रहा है : अवर तथा प्रवर बुनियादी, प्राथमिक, प्रारम्भिक, मिडिल, जूनियर माध्यमिक, हाई, उच्चतर माध्यमिक, विश्वविद्यालय, इत्यादि। इन्हें

† *Ibid.*, p. 24.

सुनकर कोई भी घबरा जाता है। हमें याद रखना चाहिए कि शिक्षा के मुख्य तीन क्रम हैं : प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च। इन्हीं तीन पारिभाषिक शब्दों का हमारे देश में उपयोग किया जाय।

इन तीन क्रमों में एकता की बहुत ज़रूरत है। पहले, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा पर विचार कीजिए। दोनों शिक्षा-प्रणाली की अवधि, विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं। उनमें एक समानता चाहिए। जब कि बुनियादी शिक्षा हमारे देश की स्वीकृत शिक्षा-प्रणाली है, तब पूरे देश की प्राथमिक शिक्षा का दौरान ५ वर्ष (अवर बुनियादी) क्यों न हो?

इस शिक्षा के बाद माध्यमिक शिक्षा आती है। इसकी अवधि कितनी होनी चाहिए? माध्यमिक शिक्षा अयोग ने सिफ़ारिश की है कि चार या पाँच वर्ष की प्राथमिक अथवा अवर बुनियादी के बाद माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ हो, तथा इस शिक्षा के दो चरण हों : (१) मिडिल अथवा अवर माध्यमिक अथवा प्रवर बुनियादी—तीन वर्ष की शिक्षा ; और (२) उच्चतर माध्यमिक—४ वर्ष की शिक्षा।

प्रवर बुनियादी को माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत लाकर आयोग ने ठीक सुझाव दिया है। इसके अतिरिक्त, आयोग ने यह भी सिफ़ारिश की है कि उच्च शिक्षा के लिये वाञ्छित बौद्धिक आधार तथा व्यावसायिक कुशलता दोनों ही की प्राप्ति के लिए माध्यमिक शिक्षा की अवधि एक वर्ष बढ़ाना अपेक्षित है। इस विचार को कार्यान्वित करने लिए यह सुझाव दिया गया कि :

१. माध्यमिक शिक्षा की वय-अवधि ११ से १७ वर्ष हो।

२. उच्चतर माध्यमिक के चार वर्ष के पाठ्यक्रम में इण्टरमीडिएट प्रथम वर्ष सम्मिलित हो।

३. द्वितीय वर्ष डिग्री-कोर्स में जोड़ दिया जाय। इस प्रकार डिग्री-कोर्स तीन वर्ष का कर दिया जावे।

४. उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति के पश्चात्, किसी भी व्यावसायिक शिक्षण में प्रवेश किया जा सके।

५. जब तक माध्यमिक हाईस्कूल का नया ढाँचा कार्यान्वित न हो तब तक पुराने हाईस्कूल जारी रखे जावें। इन स्कूलों से सफलीभूत विद्यार्थियों के लिए कालिजों में एक वर्ष का पूर्व-विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम आयोजित किया जाय।†

---

† *Ibid.*, p. 243.

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा की अवधि बच्चों की सत्रह वर्ष आयु तक है। उपर्युक्त सुझाव के अनेक कारण थे। माध्यमिक शिक्षा की अवधि में एक वर्ष जोड़ने का मुख्य ध्येय था कि माध्यमिक शिक्षा की कुछ क्षमता बढ़े तथा कालिजों में अधिक आयु के तैयार विद्यार्थीगण आवें। यह भी देखा जाता है कि हाई स्कूल पास विद्यार्थियों को अपने कालिज-अध्ययन का प्रथम वर्ष खुद को सँभालने में लग जाता है, और सँभलते-सँभलते उन्हें इण्टरमीडिएट परीक्षा का सामना करना पड़ता है। तीन वर्ष स्नातक शिक्षा की आयोजना इसीलिए रखी गयी है। सब से अच्छा तो यह होता कि उच्चतर माध्यमिक स्तर वर्तमान इण्टरमीडिएट का स्थान ले लेता, और उसके बाद विश्वविद्यालयों का तीन वर्ष का डिग्री कोर्स आता। राधाकृष्णन आयोग का यही सुझाव था, पर इससे शिक्षा की अवधि एक वर्ष बढ़ जाती और माता-पिताओं पर अपने बच्चों के एक वर्ष के खर्च का बोझ लद जाता। यह सब सोच-विचार कर माध्यमिक शिक्षा आयोग ने उच्च शिक्षा की अवधि नहीं बढ़ानी चाही।

सांगठनिक ढाँचा.—माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफ़ारिशों पर कई समितियों तथा परिषदों ने विचार किया। अन्त में 'केसंशिम' तथा विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों की एक बैठक में (१२–१४ जनवरी, १९५५) भारत की शिक्षा के ढाँचे के विषय में कुछ प्रस्ताव पास हुए। भारत सरकार ने इन प्रस्तावों को स्वीकार किया। इनके अनुसार, भविष्य में शिक्षा का ढाँचा साधारणतया इस प्रकार का होगा :

१. आठ वर्ष की अवधि की अक्षत बुनियादी शिक्षा — ६–१४ वयोवर्ग के बच्चों के लिए;

२. तीन वर्ष की अवधि की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा, जिसमें बहुमुखी पाठ्यक्रम की व्यवस्था होगी — १४–१७ वयोवर्ग के हेतु; और

३. उच्चतर माध्यमिक स्तर के पश्चात् विश्वविद्यालयों का तीन वर्षीय डिग्री कोर्स।

इस प्रकार भारत सरकार अष्टवर्षीय बुनियादी शिक्षा की कल्पना कर रही है; पर इस स्तर को दो भागों में विभाजित करना पड़ेगा : (१) प्रारम्भिक ६–११ तथा (२) निम्न माध्यमिक या प्रवर बुनियादी ११–१४। इसके मुख्य दो कारण हैं : प्रथमतः, ६–१४ वयोवर्ग के विद्यार्थियों की सार्वजनीन, अनिवार्य शिक्षा अभी कुछ वर्ष असम्भव है। द्वितीयतः, ११ वर्ष की आयु के पश्चात् अनेक विद्यार्थी बुनियादी स्कूल में पढ़ना नहीं चाहेंगे। अभी भारत के सामने मुख्य प्रश्न ६–११ वयोवर्ग के बच्चों की

अनिवार्य शिक्षा का है। यह शिक्षा ठीक पाँच वर्ष की अवधि की हो, न कि चार अथवा पाँच वर्षीय — जैसा कि माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने सुझाव दिया था। इस अवधि को अनिर्णीत न छोड़ देना चाहिए।

प्रारम्भिक स्तर के बाद आना चाहिए निम्न माध्यमिक या प्रवर बुनियादी (११–१४ वयोवर्ग के लिए), और तत्पश्चात् उच्च माध्यमिक (१४–१७ वयोवर्ग के लिए)। यहाँ यह भी कहना अनुचित न होगा कि उच्च माध्यमिक स्कूलों में प्रवर बुनियादी विद्यार्थीगण बे-रोकटोक दाखिल हो सकें। यह आवश्यक है कि प्रवर बुनियादी के अधिकांश विद्यार्थियों को उत्तर बुनियादी स्कूलों में अध्ययन करें। इस तरह माध्यमिक शिक्षा के दो भिन्न-भिन्न स्तर होंगे : (१) निम्न (वर्ग ६–८) तथा (२) उच्च (वर्ग ९–११)। इस तरह उच्च माध्यमिक का दौरान तीन वर्ष होगा, न कि माध्यमिक शिक्षा-आयोग के सुझाव के अनुसार चार वर्ष। यह कहना अनावश्यक है कि उच्च माध्यमिक के पाठ्यक्रम में इण्टरमीडिएट का प्रथम वर्ष सम्मिलित रहेगा।

उपर्युक्त ढाँचे को कार्यान्वित करने में दो अड़चनें आवेंगी : (१) वर्तमान हाई स्कूलों को उच्चतर स्कूल में बदलना और (२) उच्चतर हाई स्कूल पाठ्यक्रम को और भी कम समय में समाप्त करना—अर्थात् छः वर्ष में, न कि ७ या ८ वर्ष में। चूँकि अभी हम प्रत्येक हाईस्कूल को उच्चतर रूप नहीं दे सकते हैं, कुछ समय तक कालिज तथा विश्वविद्यालय पूर्व-विश्वविद्यालय कोर्स चलावेंगे। पर कम-से-कम प्रत्येक ज़िले में एक उच्चतर माध्यमिक हाई स्कूल की आवश्यकता है। द्वितीय प्रश्न का समाधान हो सकता है, उच्चतर माध्यमिक (वर्ग ६–११) के समूचे पाठ्यक्रम को विचारपूर्वक एकीकरण के द्वारा। यह हमारे शिक्षा-शास्त्रियों को एक चुनौती है। कारण, उन्हें सात या आठ वर्ष के पाठ्यक्रम को छः वर्ष के वृत्त में जमाना पड़ेगा।

पाठ्यक्रम.—माध्यमिक पाठ्यक्रम की कमियों की चर्चा पहले ही की गयी है। अब एक-उद्देशीय पाठ्यक्रम से काम न चलेगा। कारण, ऐसे पाठ्यक्रम के द्वारा छात्रों की विभिन्न रुचियों, शक्तियों तथा इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा का ध्येय है, "उत्पादन-कार्य-कुशलता का विकास करना, राष्ट्र का धन बढ़ाना और उसके द्वारा जनता के जीवन-स्तर को देश में ऊँचा उठाना।"† हमें यह भी ख्याल रखना पड़ेगा कि वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों के मानसिक विकास के साथ उनकी शारीरिक उन्नति तथा चरित्र-गठन करना भी है। अस्तु, इन विचारों से माध्यमिक पाठ्यक्रम को व्यापक बनाना अनिवार्य हो जाता है। साहित्यिक

† *Ibid.*, p. 23.

विषयों के सिवा, इसमें औद्योगिक तथा तकनिकी विषयों का रहना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सृजनात्मक कार्यों की ओर ध्यान दिया जाय।

निम्न माध्यमिक स्तर.—इस स्तर के पाठ्यक्रम का प्रधान उद्देश्य विद्यार्थियों के जीवन से सम्बन्धित आवश्यक विषयों का दिग्दर्शन कराना है। इस कारण पाठ्यक्रम में, भाषाएँ, समाज-शास्त्र, सामान्य विज्ञान तथा गणित का समावेश हो। इनके अतिरिक्त विद्यार्थियों में सौंदर्य-रुचि-वृद्धि के लिए कला एवं संगीत और क्राफ्ट की, तथा उन्हें नीरोग रखने के लिए शारीरिक शिक्षा और खेल-कूद की ज़रूरत है। इन आवश्यकताओं की ओर ध्यान रखते हुए, माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने निम्न माध्यमिक स्तर का पाठ्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किया है :

१. भाषाएँ : (१) राष्ट्र-भाषा (हिन्दी), (२) मातृ-भाषा — जिन क्षेत्रों में हिन्दी मातृ-भाषा हो, वहाँ भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित कोई भी आधुनिक भारतीय भाषा पढ़ायी जावे, और (३) अंग्रेज़ी अथवा उच्च मातृ-भाषा या अन्य आधुनिक भारतीय भाषा;

२. समाज-शास्त्र — इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र का समावेश;

३. सामान्य विज्ञान;

४. गणित : अंकगणित, सरल बीजगणित, सरल रेखागणित;

५. कला या संगीत;

६. एक क्राफ्ट (स्थानिक वातावरण की ओर ध्यान रखते हुए; देहातों में कृषि); और

७. शारीरिक शिक्षा तथा सांस्कृतिक और मनोरंजक क्रियाएँ।†

शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो। पाठ्यक्रम विभिन्न स्वतन्त्र विषयों में न बँटा हुआ हो, बल्कि विभिन्न प्रकार के ज्ञान-क्षेत्रों में बँटा हुआ हो, जो कि जीवन से सम्बन्धित हों। इसके अतिरिक्त जैसा कि माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने प्रस्ताव किया है कि "मिडिल तथा प्रवर बुनियादी पाठ्यक्रम एक से हों। इनकी अध्यापन-पद्धति में ही केवल विभिन्नता की आवश्यकता है।"‡

---

† *Ibid.*, p. 89,   ‡ *Ibid.*, pp. 86–87.

प्रथम सूत्र : (१)—(अ) मातृ-भाषा या (आ) क्षेत्रीय भाषा या (इ) मातृ-भाषा तथा कोई क्षेत्रीय भाषा-सम्मिलित एक पाठयक्रम, या (ई) मातृ-भाषा और सांस्कृतिक भाषा-सम्मिलित एक पाठयक्रम, या उ) एक क्षेत्रीय तथा सांस्कृतिक भाषा-सम्मिलित एक पाठयक्रम; (२) हिन्दी या अंग्रेजी; (३) कोई आधुनिक भारतीय या पाश्चात्य भाषा जो कि (१) या (२) में न ली गयी हो।

द्वितीय सूत्र : (१) प्रथम सूत्र के समान; (२) अंग्रेजी या कोई आधुनिक पाश्चात्य भाषा; (३) हिन्दी (अहिन्दी क्षेत्रों के लिए) या कोई भी भारतीय भाषा (हिन्दी क्षेत्रों के लिए)।

उपर्युक्त सूत्रों के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी को तीन भाषाएँ सीखना ज़रूरी हो गया है, किन्तु माध्यमिक शिक्षा आयोग ने दो अनिवार्य भाषा का सुझाव दिया था। खेद की बात है कि माध्यमिक शिक्षा आयोग या 'अभामाशिप' ने पाठयक्रम में सांस्कृतिक भाषा को योग्य स्थान नहीं दिया है। हमें यह याद रखना चाहिए कि किसी भी देश का सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन सांस्कृतिक भाषा के अध्ययन पर ही निहित है। यह सोच-विचार कर भाषा-अध्ययन पर एक सुझाव नीचे दिया जाता है :

१. राष्ट्र-भाषा या अहिन्दी क्षेत्रों के लिए अन्य कोई भारतीय भाषा;

२. कोई भी दो भाषाएँ : (१) कोई अन्य भारतीय भाषा जो ऊपर न ली गयी हो, (२) एक सांस्कृतिक भाषा, (३) अंग्रेजी या अन्य कोई आधुनिक पाश्चात्य भाषा।

स्वाधीन भारत में राष्ट्र-भाषा का ज्ञान किसी भी भारतवासी के लिए अनिवार्य होगा। जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी हो, वे कोई भी एक भारतीय भाषा सीखें। आज देश के अनेक भागों में यह धारणा है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में अहिन्दी क्षेत्रों में लादी जा रही है। यह तनातनी बहुत कुछ दूर हो सकती है, यदि हिन्दी भाषा-भाषी अन्य कोई भारतीय भाषा का अध्ययन करें।

द्वितीय समूह से, विद्यार्थी कोई भी दो भाषा चुन सकते हैं। अनेक विद्यार्थी अंग्रेजी लेना चाहेंगे। कारण, यह एक प्रधान आन्तर्राष्ट्रीय भाषा है तथा विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम में इसका स्थान बहुत ही ऊँचा है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी अपनी रुचि अनुसार अन्य एक भाषा सीख सकता है — एक भारतीय भाषा या एक सांस्कृतिक भाषा या अंग्रेजी छोड़कर कोई भी एक युरोपीय भाषा।

तीन भाषाओं के अतिरिक्त, पाठ्यक्रम में समाज-शास्त्र तथा सामान्य विज्ञान आधारभूत विषय होंगे। इन दो बुनियादी विषयों का ज्ञान प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अत्यन्तावश्यक है। इस ज्ञान के बिना भविष्य में अन्य विषय पूर्णतः नहीं समझे जा सकते हैं। ये विषय, कई विषयों के समावेश से बनाये गये हैं। वर्तमान युग में ज्ञान के विस्तार के कारण, ऐसे सम्मिलित विषयों की सृष्टि हुई है। इन दोनों बुनियादी विषयों की पढ़ाई प्रथम दो वर्ष में खतम कर देनी चाहिए, तथा तृतीय वर्ष से विशिष्ट विषयों का अध्ययन आरम्भ किया जाय। विद्यार्थीगण बहुधा असमञ्जस में पड़ जाते हैं, जब कि उन्हें बुनियादी और विशिष्ट विषय साथ-साथ सीखना पड़ता है।

३. उपसंहार.—इस प्रकार पाठ्यक्रम में तीन भाषाएँ और दो बुनियादी विषय आधारभूत होंगे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक विद्यार्थी को एक क्राफ्ट तथा माध्यमिक शिक्षा आयोग के द्वारा सुझाये हुए बहुमुखी पाठ्यक्रम के किसी भी समूह से तीन विषय लेने पड़ेंगे। क्राफ्ट के द्वारा विद्यार्थियों की कलात्मक तथा सृजनात्मक भावनाओं का विकास होता है। बहुमुखी पाठ्यक्रम की आयोजना के समय सदा दो प्रकार के विद्यार्थियों की ज़रूरतों की ओर लक्ष्य रहे: (१) वे विद्यार्थी, जो माध्यमिक शिक्षा समाप्त कर, जीवन-क्षेत्र में घुसना चाहते हों, और (२) वे, जो उच्च शिक्षा पाना चाहते हों। ऐसी स्थिति में बहुमुखी पाठ्यक्रम दो प्रकार के होना चाहिए: (१) शालान्त और (२) प्रवेशक। पाठयक्रम के विषय, किशोरों की व्यक्तिगत रुचियों, विशेष क्षमताओं और योग्यताओं की ओर लक्ष्य रखते हुए, चुने जावें। इनके अतिरिक्त, शारीरिक शिक्षा तथा खेल-कूद सब विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य हों।

अध्यापन तथा पाठ्यक्रम में, सदा निम्न-लिखित विषयों की ओर ध्यान दिया जावे:

१. शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो;

२. जहाँ तक हो सके, पाठ्य-विषयों का एकीकरण किया जाय;

३. पाठ्यक्रम का सञ्चालन सही रीतियों से हो;

४. स्थानीय आवश्यकताओं तथा विद्यार्थियों की रुचि का सदा ध्यान रहे; तथा

५. छात्रों को निर्देश तथा परामर्श देने का प्रबन्ध रहे।

विशेष स्कूल.—माध्यमिक शिक्षा आयोग की रिपोर्ट निकलने के बाद, केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की ओर विशेष रूप से ध्यान

दिया है। योजना के दो अङ्ग हैं : (१) हाई स्कूलों को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में बढ़ाना, तथा (२) वर्तमान स्कूलों को बहूद्देश्यीय स्कूलों में बदलकर नया रूप देना। प्रथम योजना के अवधिकाल में ३६७ बहूद्देश्यीय स्कूल खोले गये। द्वितीय योजना का लक्ष्य है ९३७ बहूद्देश्यीय तथा १,१८७ उच्चतर माध्यमिक स्कूल स्थापित करना। इस प्रकार द्वितीय योजना की समाप्ति तक १० प्रति शत माध्यमिक स्कूल बहूद्देश्यीय रूप में बदल दिये जावेंगे। तृतीय योजना का लक्ष्य है और भी १,००० बहूद्देश्यीय स्कूल स्थापित करना।

उच्चतर माध्यमिक स्कूल.—देखा गया है कि योजनानुसार बहूद्देश्यीय स्कूल खुलते जा रहे हैं, पर हाई स्कूलों को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों में बदलने का काम धीरे-धीरे हो रहा है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथमतः, राज्य सरकारें बहूद्देश्यीय स्कूल खोलने में दिलचस्पी ले रही हैं, और जनता में इन संस्थाओं की अधिक माँग है। द्वितीयतः, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-योजना के प्रति राज्य सरकारों की उदासीनता का कारण है केन्द्रीय सरकार की अनुदार नीति। इस कार्य के लिए केन्द्रीय सहायता कुछ ही समय तक मिलेगी। वर्तमान समय में इस खर्च का ४० प्रति शत राज्य-सरकारें दे रही हैं, और शेष केन्द्रीय सरकार। पर द्वितीय योजना के अवधिकाल के बाद, राज्य सरकारों को इस कार्य का कुल व्यय स्वयं उठाना पड़ेगा। तृतीयतः, राज्य सरकारें अपना अधिकांश द्रव्य बहूद्देश्यीय स्कूल योजना पर खर्च कर रही हैं। इस खर्च को मिटाने के बाद, उनके पास अधिक पैसा नहीं बचता। चतुर्थतः, अधिकांश विश्वविद्यालयों ने तीन-वर्षीय स्नातक डिग्री कोर्स १९५७-५८ में आरम्भ किया है। इस पाठ्यक्रम के चले बिना, उच्चतर माध्यमिक स्कूलों का प्रसार असम्भव है। पर सबसे कठिन समस्या है उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के लिए उपयुक्त शिक्षकों का अभाव। आज पूरे देश में लगभग २,००० उच्चतर माध्यमिक स्कूल हैं। इनमें से ७०० स्कूल हाल ही में खोले गये हैं। इनके लिए प्रति वर्ष २०,००० उत्तर-स्नातक डिग्री-धारी शिक्षकों की आवश्यकता है। प्रत्येक राज्य-सरकार का अनुभव है कि ऐसे शिक्षक पर्याप्तरूप में नहीं मिलते। समूचे देश में प्रति वर्ष औसतन १४,००० एम० ए० निकलते हैं। यदि ये सब भी शिक्षक बनें, तो भी देश की आवश्यकता पूरी न होगी।

बहूद्देश्यीय स्कूल.—माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा निर्देशित बहुमुखी पाठ्यक्रम में से तीन या उससे अधिक विषयों का प्रबन्ध एक बहूद्देश्यीय स्कूल में रहता है। इस स्कूल की लोक-प्रियता के कारण अगले पन्ने में दिये गये हैं :

१. इस संस्था-द्वारा सामाजिक एकता बढ़ती है। कारण, यहाँ सभी प्रकार के विद्यार्थीगण पढ़ सकते हैं तथा उनमें भेद-भाव बढ़ने नहीं पाता है।

२. ऐसे स्कूल में विद्यार्थियों को उनके बौद्धिक आधार तथा व्यावसायिक कुशलता के अनुसार छाँटकर उचित पाठ्य-क्रम की शिक्षा देना सहज होता है। तत्पश्चात् किसी भी विद्यार्थी को अनुभव के आधार पर एक पाठ्यक्रम से दूसरे पाठ्यक्रम में बदलने के लिए कोई विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।

३. चूँकि ऐसे स्कूल में अनेक स्तर के विद्यार्थी पढ़ सकते हैं, इस कारण छात्रों तथा उनके अभिभावकों में कोई न्यूनता या श्रेष्ठता का भाव नहीं उपजता। यह भाव विद्यार्थियों के स्कूल में दाखिल होने या न होने के कारण उत्पन्न होता है।

बहूद्देश्यीय योजना के कार्यान्वित होने में अनेक कठिनाइयाँ आ रही हैं। प्रथमतः, इस योजना के अन्तर्गत पाठ्यक्रम तथा उनकी आवश्यकताओं को अनेक स्कूल-संचालकगण ठीक तरह नहीं समझ पा रहे हैं। प्रत्येक शिक्षा-विभाग का यह कर्तव्य है कि वह उचित मार्गदर्शन करे। इसमें विविध प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रहे, यथाः शालागृह, प्रयोग-शाला, कर्म-शाला, शिक्षा-साधन, पुस्तकें इत्यादि। द्वितीयतः, ये स्कूल जहाँ-तहाँ स्थापित न किये जायँ। इनके खोलने के समय, सदा स्थानिक ज़रूरतों तथा साधनों का ख्याल रहे। अधिक छात्र-संख्या के बिना एक बहूद्देश्यीय स्कूल चल नहीं सकती है। यदि तीन ही विविध विषय एक स्कूल में रखे जायँ, तो प्रत्येक कक्षा में कम-से-कम तीन वर्ग होना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक शिक्षा-विभाग अपने राज्य का एक सर्वेक्षण करे, और तत्पश्चात् ऐसे स्कूल ठीक जगहों में खोले तथा अनुकूल विषय स्थिर करे। तकनिकी, वाणिज्य, कृषि, ललितकला तथा गृह-विज्ञान सरीखे विषयों के लिए पर्याप्तरूप से प्रशिक्षित शिक्षकों के मिलने में विशेष कठिनाई अनुभव की जाती है। इसके सिवा, ये विषय व्यय-साध्य भी हैं; अतएव स्वसंचालित संस्थाएँ इन्हें बड़ी कठिनाई से चला पाती हैं। शिक्षा-विभाग के अनुसार इन विषयों के पढ़ाने के लिए बहुमूल्य प्रयोग-शालाएँ, विशाल कर्म-शालाएँ तथा विस्तृत भूमि की आवश्यकता होती है। इन्हें सब समय जुटाना टेढ़ी खीर है। सबसे अच्छा तो यह हो कि अधिकांश व्यावहारिक कार्य कल-कारखानों, व्यवसाय-केन्द्रों तथा विद्यार्थियों के निजी खेतों पर किया जावे। यह प्रथा अनेक पाश्चात्य देशों में आज प्रचलित है।

एक-उद्देश्यीय स्कूल.—यह किसीको न समझ लेना चाहिए कि एक-उद्देश्यीय स्कूल बहूद्देश्यीय संस्थाओं से कम महत्वपूर्ण हैं। शिक्षा-क्षेत्र में स्वतन्त्र प्राविधिक, व्यावसायिक या साहित्यिक स्कूलों का एक विशिष्ट स्थान है। उदाहरण-स्वरूप इंग्लैण्ड बहूद्देश्यीय स्कूलों का समर्थन नहीं करता है। उसके विरोध के मुख्य कारण नीचे दिये गये हैं :

१. बहूद्देश्यीय स्कूलों का इतना अनुभव नहीं हुआ है कि ये वांछनीय गिने जा सकें।

२. एक-उद्देश्यीय संस्था का मान-दण्ड सदा ऊँचा कायम रखा जा सकता है।

३. बहूद्देश्यीय स्कूलों-द्वारा सामाजिक एकता नहीं बढ़ती है। सामाजिक एकता का अर्थ विद्यार्थियों की अधिकता नहीं है। यह भावना आध्यात्मिक होती है; और इसका विकास तभी सम्भव है, जब विद्यार्थीगण एक ही विचार में मग्न रहें।

४. एक-उद्देश्यीय स्कूलों का लक्ष्य स्पष्ट रहता है। बहूद्देश्यीय स्कूलों के पाठ्यक्रम तथा लक्ष्य की एक खिचड़ी-सी पक जाती है।

५. बहूद्देश्यीय स्कूलों के उपयुक्त अनेक विषयों के विशारद प्रधानाध्यापकों का अत्यन्त अभाव है।†

इस प्रकार इंग्लैण्ड में बहूद्देश्यीय स्कूलों के विषय में घोर मतभेद है। इस देश में द्वि-उद्देश्यीय स्कूल फैल रहे हैं, जैसे: ग्रामर-तकनिकी, मॉडर्न-तकनिकी, इत्यादि। अचम्भे की बात है कि एक सौ छियालीस स्थानिक निकायों में से सिर्फ़ दसों ने बहूद्देश्यीय स्कूल खोले हैं। इस प्रकार हमारे देश में भी ये स्कूल सोच-विचार कर स्थापित किये जायँ।

ग्रामीण तथा कृषि-विद्यालय.—किसी भी शिक्षा-योजना में हमारे देहातों का ध्यान सदा सम्मुख रहना चाहिए। कारण, ८० प्रति शत भारतवासी गाँवों में रहते हैं, तथा कृषि से अपनी गुजर करते हैं। पर गाँवों की दशा दिन-प्रति-दिन गिरती जा रही है। ग्राम-वासी शहरों की ओर भाग रहे हैं। गाँवों में मुखियों का अभाव है। शिक्षा-सुधार ग्राम-सुधार का एक प्रधान अङ्ग है।

---

† T. L. Reller, 'The Comprehensive Secondary School Controversy in England,' *Educational Administration and Supervision*, October, 1955.

सन् १९५६-५७ ई० में देहातों के माध्यमिक स्कूलों की संख्या केवल २४,९३६ (इनमें उच्च या उच्चतर ५,२२३ और १९,७१३ मिडिल) थी।† इनके तथा शहरी स्कूलों के पाठ्यक्रम में कोई भी फर्क नहीं है। सबसे अच्छा तो यह हो कि देहाती मिडिल स्कूल प्रवर बुनियादी स्कूलों में बदल दिये जावें। पर इनके पाठ्यक्रम का केन्द्रीय उद्योग कृषि या बागवानी होवे। जहाँ तक हो सके हाई स्कूल की पढ़ाई का सम्बन्ध ग्रामीण वातावरण से रहे, तथा क्राफ्ट एक देहाती विषय या कुटीर शिल्प हो। इसके साथ-साथ कृषि हाई स्कूल पर्याप्त रूप में खोले जावें। खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारत सरीखे कृषि-प्रधान देश में ऐसे स्कूलों की संख्या सिर्फ़ ८४ (१९५६-५७) है। कृषि विद्यालयों में कृषि के साथ-साथ, बागवानी तथा पशु-पालन पढ़ाया जाय।

निर्देश तथा परामर्श.—बहुमुखी पाठ्यक्रम के आयोजना के कारण, शिक्षकों तथा स्कूलों पर एक नयी जिम्मेवारी आ गयी है। वह जिम्मेवारी यह है कि विद्यार्थियों को अपनी क्षमता एवं रुचियों का भान हो जाय तथा उन्हें इस प्रकार निर्देश तथा परामर्श मिले कि उनके उपयुक्त कौन-कौन से विषय हैं, जिनके अध्ययन से उन्हें अधिकतम सफलता मिले। विषयों के निर्वाचन के समय प्रत्येक विद्यार्थी को आठवीं कक्षा में यह परामर्श मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त हर एक छात्र को एक ऐसा निर्देश दिया जाय कि अपनी माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने पर उसे एक उपयुक्त नौकरी मिले; या, वह एक अनुकूल व्यवसाय में घुस सके अथवा, उसे किसी उपयुक्त उच्च विद्यालय में शिक्षा मिले। इसके साथ-साथ प्रतिभा-सम्पन्न तथा क्षीण-बुद्धि छात्रों की समस्या है। यह सब सोच-विचार कर, माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने सिफ़ारिश की है, "सभी स्कूलों को प्रशिक्षित पथ-परामर्श-दाताओं तथा व्यवसाय-निर्देशकों की सेवाएँ अधिकाधिक मात्रा में क्रमशः उपलब्ध करायी जावें।"‡ इस प्रस्ताव के फल-स्वरूप कई प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा राज्य-निर्देश-केन्द्रों ने इन व्यक्तियों के प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त कोर्स आरम्भ किये हैं। आज जनता भी निर्देश तथा परामर्श में दिलचस्पी लेने लगी है। १९५१-५९ के बीच बम्बई राज्य सरकारी निर्देश-केन्द्र ने ४२,००० व्यक्तियों को व्यक्तिगत परामर्श तथा २३,००० पुरुष-स्त्रियों को व्यवसायी संवाद दिया था। इसी दौरान में, केन्द्र ने ५० व्यवसाय-सम्मेलन चलाये तथा १,००० व्यवसाय-निर्देशक प्रशिक्षित किये।

---

† *Education in the States*, 1956–57, Vol. I, p. 123.

‡ *Secondary Education Commission's Report*, p. 143.

चित्र १०
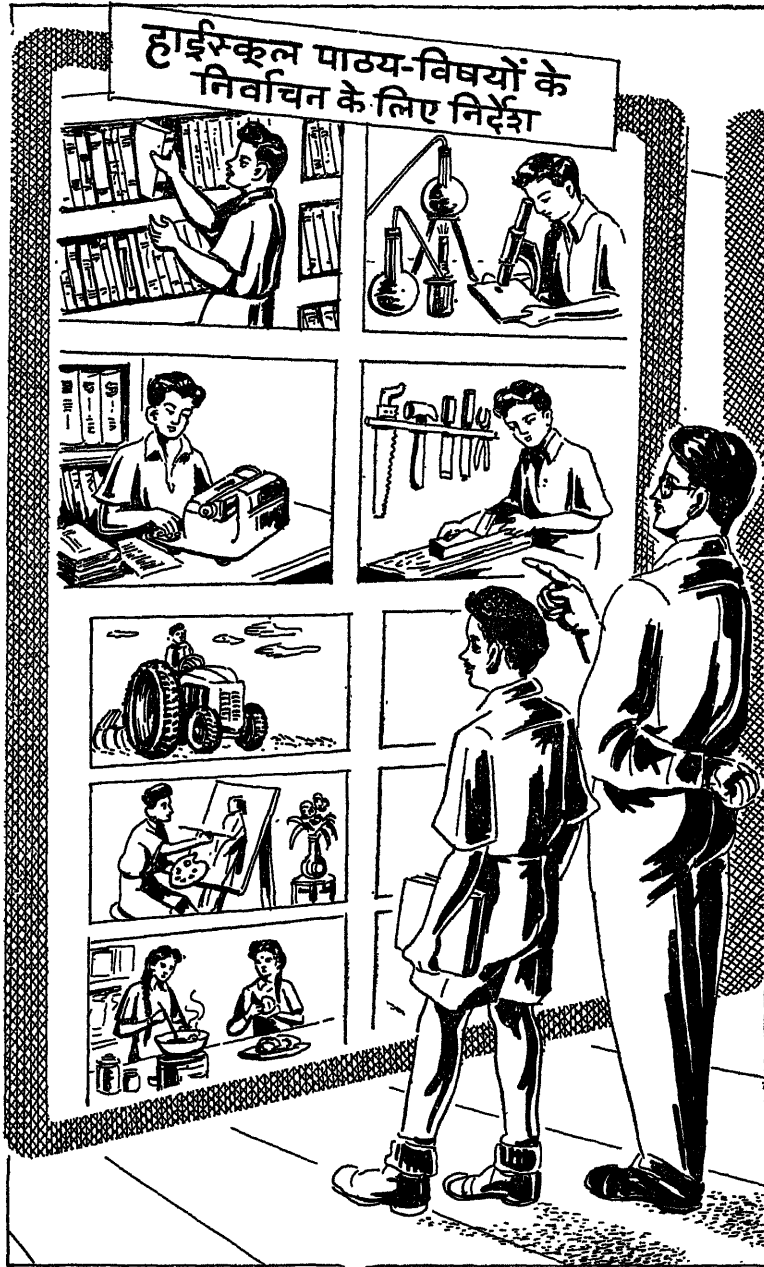
प्रशासन : सहयोग की आवश्यकता.—शिक्षा-विभाग के अतिरिक्त अन्य प्रशासनीय विभागों का भी शिक्षा से सम्बन्ध रहता है, जैसेः कृषि-विभाग, वाणिज्य तथा उद्योग-विभाग, प्राविधिक विभाग, श्रम-विभाग, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता विभाग, इत्यादि। इनके निजी स्कूल रहते हैं, और ये अपना-अपना रहँटा राग अलग-अलग अलापते हैं। इस कारण श्रम तथा अर्थ के नाश की सम्भावना रहती है। शिक्षा में इस द्वैध शासन को दूर करने के लिए, माध्यमिक शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है :

> १. प्रत्येक राज्य तथा केन्द्र में शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न विभागों के मन्त्रियों की एक समिति स्थापित हो। इस समिति का मुख्य उद्देश्य हो कि शिक्षा-विस्तार के निमित्त विभिन्न विभागों के अर्थ का सबसे अच्छा उपयोग कैसे किया जाय।
>
> २. शिक्षा की उन्नति तथा प्रसार की विभिन्न योजनाओं पर विचार करने के लिए, प्रत्येक राज्य में विभिन्न विभागों के मुख्य अधिकारियों की एक सहयोग-समिति की विशेष आवश्यकता है।

माध्यमिक शिक्षा-मण्डल.—शालान्त या/और माध्यमिक परीक्षा चलाने के लिए इस देश में आज पन्द्रह माध्यमिक शिक्षा-मण्डल हैं।† पर यह देखा गया है कि कई मण्डलों के सदस्यों की संख्या अत्यधिक है। कुछ सदस्य तो ऐसे रहते हैं, जिनका शिक्षा से कुछ सरोकार नहीं है। काम सुधारने के बदले वे काम बिगाड़ते हैं। इसी कारण माध्यमिक शिक्षा आयोग ने सिफ़ारिश की है :

> माध्यमिक शिक्षा के यथोचित विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-मण्डल की रचना ठोस हो। इसके सदस्य शिक्षा-विद् हों तथा उनका कार्य केवल शिक्षा-नीति निर्धारित करना हो।‡

अनेक राज्यों में इन मण्डलों की स्थापना के कारण, द्वैध-शासन आ गया है। कारण, शालान्त कक्षा का पाठ्यक्रम का मानदण्ड निम्न कक्षा के पाठ्यक्रम से बहुधा निकृष्ट रहता है। शिक्षा में नैरन्तर्य की आवश्यकता है। द्वैध शासन के कारण, अनेक हानियाँ होती हैं। स्कूलों के पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें तथा परीक्षा-नीति स्थिर करने की जिम्मेवारी शिक्षा-मण्डल को दी जाय, पर उन सबका निरीक्षण शिक्षा-विभाग करे।

† देखिए पृष्ठ १०९।

‡ *Secondary Education Commission's Report*, p. 191.

निरीक्षण.—हमारी स्कूल-निरीक्षण-पद्धति का आज तीव्र प्रतिवाद हो रहा है। इस प्रथा के सम्बन्ध में शिक्षा-जगत् में असन्तोष व्याप्त हो रहा है। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह पद्धति दोष-पूर्ण है। इसका मुख्य कारण निरीक्षकों की कमी तथा निरीक्षकों में पर्याप्त क्षमता का अभाव ही है। हमारे देश में ऐसा कोई उपयुक्त प्रशिक्षण पाठ्यक्रम नहीं है, जिनके द्वारा हमारे निरीक्षकगण शिक्षा-प्रशासन-कला में प्रशिक्षित किये जा सकें। जून, १९५६ में शिक्षा-प्रशासन की एक गोष्ठी श्रीनगर में हुई थी। उसमें निम्न-लिखित प्रस्ताव पास हुए थे :

> १. शिक्षा-शासकों को प्रशासन-कला में प्रशिक्षित करने के लिए समय-समय पर संक्षिप्त तथा दीर्घ कोर्सों, गोष्ठियों एवं कर्म-शालाओं का आयोजन किया जावे। इसके सिवा, नवीन अधिकारीगण कुछ समय तक अनुभवी शासकों के साथ पद-शिक्षार्थी के रूप में रखे जावें।
>
> २. निरीक्षकों की संख्या बढ़ाने की सख़्त ज़रूरत है।
>
> ३. प्रत्येक राज्य में एक संचालक की नियुक्ति हो, जो शिक्षा-शासकों के प्रशासन का उपयुक्त प्रबन्ध करे। ... ... प्रत्येक प्रशिक्षण महाविद्यालय में एक शोध-विभाग की स्थापना हो, जिसका काम शिक्षा तथा शिक्षा-प्रशासन सम्बन्धी तथ्यों का शोध करना हो।†

स्वाधीन भारत में निरीक्षण-पद्धति में विशेष परिवर्तन की आवश्यकता है। आधुनिक जगत् में निरीक्षण का ध्येय अध्यापन की उन्नति है। यह कार्य शिक्षकों को डाँटने-डपटने से ही नहीं पूरा होगा। निरीक्षकों तथा अध्यापकों के पारस्परिक सहयोग से ही अध्यापन में उन्नति हो सकती है। इस कार्य में निरीक्षक शिक्षकों का मित्र, परामर्श-दाता तथा मार्ग-निर्देशक है। वह भी शिक्षकों से बहुत कुछ सीख सकता है। इस भाव के अभाव के कारण, निरीक्षण बहुधा व्यर्थ ही चला जाता है।

प्रबन्ध.—तालिका १२ में प्रबन्ध के अनुसार माध्यमिक स्कूलों का विभाजन किया गया है : राजकीय स्कूल (२०·२), स्थानीय निकाय (३१·९) तथा स्वसंचालित (४७·९)। जहाँ तक बन सकता है, सरकार स्वतः माध्यमिक स्कूल खोलना नहीं चाहती है। सरकारी नीति निजी स्कूलों को ग्रांट देकर प्रोत्साहन देने की है। हाँ, सरकार कन्याशालाएँ तथा व्यावसायिक स्कूल स्वयं स्थापित करती है तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में निजी माध्यमिक स्कूल खोलती है।

† *Administration Seminar Proceedings*, Srinagar, June, 1956.

स्थानेक बोर्डों-द्वारा परिचालित माध्यमिक स्कूल प्रायः सफल नहीं होते। इन संस्थाओं की आलोचना करते हुए माध्यमिक शिक्षा आयोग ने मत दिया, "इन स्कूलों में अनेक सुधारों का प्रयोजन है।" देश की आवश्यकता को देखते हुए स्थानीय निकाय अपना सम्पूर्ण ध्यान अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की ओर दें।

वर्तमान काल में स्वसञ्चालित स्कूलों की संख्या बढ़ रही है। ये स्कूल चाहे जहाँ, खुलते ही जा रहे हैं। कहीं-कहीं तो दो-तीन स्कूल पास-पास स्थापित हो जाते हैं, पर अनेक स्थानों में कोई भी माध्यमिक स्कूल नज़र नहीं आते हैं। यह भी देखा गया है कि अनेक अच्छे मिडिल स्कूल कमज़ोर हाई स्कूल में बदल दिये जाते हैं। बहुतसे निजी स्कूल अस्वास्थ्यकर स्थानों में लगते हैं। उनमें शिक्षा-साधनों, पुस्तकालय, खेल के मैदान आदि का अभाव रहता है। वहाँ शिक्षकों की बुरी दशा रहती है। यथार्थ में इन स्कूलों का वहाँ रहने का भी कोई हक नहीं है। पर किसी-न-किसी रीति-द्वारा वे शिक्षा-विभाग से स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं। इन स्कूलों की दशा पर माध्यमिक शिक्षा आयोग ने ग़ौर किया है :

> अभाग्यवश इस शिथिलता के फल-स्वरूप अनेक निकम्मे स्कूल संचालकों के खीसे गरम करने के लिए चलते रहते हैं। ... ... न उनके पास उपयुक्त स्कूल-गृह रहता है, और न शिक्षा-साधन। शिक्षा-विभागों को मजबूर होकर, उन्हें स्वीकृति देनी पड़ती है। कारण, उनके भरती किये हुए विद्यार्थियों की कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती है।†

पर इन स्वसञ्चालित स्कूलों से बदतर हैं अस्वीकृत स्कूल। हाल ही में दिल्ली सेण्ट्रल इन्सटिट्युट ऑफ् एजुकेशन ने एक सर्वेक्षण किया है। इससे ज्ञात होता है कि जितने विद्यार्थी दिल्ली उच्चतर माध्यमिक परीक्षा में बैठते हैं, उनसे दुगुने परीक्षार्थी निजी अस्वीकृत स्कूलों-द्वारा पञ्जाब मैट्रिक परीक्षा के लिए तैयार किये जाते हैं। एक बड़े अस्वीकृत स्कूल के प्रिंसिपाल का मासिक वेतन १,२००) है। इसी प्रकार एक अस्वीकृत मण्डल के अन्तर्गत १२ संस्थाएँ हैं जिनमें से छः संस्थाएँ एक मील के अर्द्ध व्यास में स्थित हैं। शिक्षा में यह व्यभिचार नहीं तो क्या है?

वित्त.—अर्थाभाव के कारण, अनेक माध्यमिक स्कूल कमज़ोर हैं। उन्हें विद्यार्थियों की फ़ीस पर अपना निर्वाह करना पड़ता है। प्रायः २५ प्रति शत स्वयं संचालित स्कूलों को सरकारी अनुदान नहीं मिलता। कुछ वर्षों से माध्यमिक शिक्षा में

† *Secondary Education Commission's Report*, pp. 197–98.

अनेक सुधार हुए हैं, तथा होते जा रहे हैं, जैसेः विविध विषयों का समावेश, क्राफ्ट शिक्षा, शिक्षकों की वेतन-वृद्धि, किशोर-कल्याण, इत्यादि। अतः स्कूलों का खर्च बढ़ गया है तथा निजी स्कूलों को अधिक सरकारी ग्राण्ट की ज़रूरत है। प्रत्येक राज्य में ग्राण्ट की रक़म स्थिर रहती है, पर स्कूलों को यथेष्ट सहायता नहीं मिलती। इस कारण, एक युक्ति-पूर्ण वित्त-नीति की आवश्यकता है। इन विचारों को ध्यान में रखते हुए, माध्यमिक शिक्षा आयोग ने निम्न-लिखित सुझाव उपस्थित किये :

१. माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन तथा उन्नति के कार्य में, केन्द्रीय तथा राज्य का पूर्ण सहयोग स्थापित हो।

२. यह सोचना ग़लत है कि केन्द्रीय सरकार की माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में कोई भी जिम्मेवारी नहीं है। विशेषतः, प्राविधिक तथा नागरिक शिक्षा के प्रचार का उत्तरदायित्व भारत सरकार अपने ऊपर ले।

३. माध्यमिक शिक्षा पर प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के विकास के लिए एक उपकर लगाया जाय, जो 'औद्योगिक शिक्षा-उपकर' कहा जाय

४. शिक्षा-दान की रक़म पर कोई उपकर न लगाया जाय।†

परीक्षा तथा योग्यता-निर्धारण.—भारतीय शिक्षा पर परीक्षा का कितना गहरा प्रभाव है, यह तो सबको विदित ही है। शिक्षकों तथा विद्यार्थियों का ध्यान सदा परीक्षाओं की ओर खिँचा रहता है। हमारी परीक्षा-पद्धति में अनेक दोष हैं। फिर भी हम परीक्षा को बहिष्कृत नहीं कर सके। कारण, परीक्षा ज़रूरी है। इसके मुख्य तीन कार्य हैं : (१) परीक्षा, अध्यापन का एक अङ्ग है, (२) विद्यार्थियों के वर्गीकरण का यह एक साधन है, और (३) विद्यार्थियों की प्रतिभा तथा शिक्षकों की कार्य-कुशलता की जाँच करने की यह एक कसौटी है।

परीक्षाएँ बन्द नहीं की जा सकती हैं। उनमें सुधार की विशेष आवश्यकता है। इस विषय पर कुछ सुझाव दिये जाते हैं : (१) विद्यार्थियों की उन्नति-विषयक लेखा रखे जावें, (२) वार्षिक परीक्षा-फल घोषित करने के समय सावधिक तथा त्रैमासिक परीक्षा-फल एवं उन्नति-विषयक लेखा पर विचार किया जाय, (३) सावधिक परीक्षा में केवल उतने ही अंश की परीक्षा ली जाय, जो उस नियत काल में पढ़ाया गया हो। काल की अवधि ४० दिनों से अधिक न हो, (४) सावधिक परीक्षा के परचे में केवल

† *Ibid.*, p. 227.

नवीन परीक्षा-प्रणाली के प्रश्नों का समावेश हो। त्रैमासिक तथा वार्षिक परचों में आधे निबन्ध-प्रश्न और आधे नवीन परीक्षण-प्रणाली के प्रश्न हों, (५) सार्वजनिक परीक्षा-फल में आन्तरिक परीक्षाओं, छात्रों की उन्नति-विषयक लेखा तथा साल भर के किये गये कार्य पर विचार किया जाय।

सितम्बर, १९५९ के माध्यमिक शिक्षा-मण्डल के मंत्रियों के एक सम्मेलन ने शालान्त परीक्षा के दोषों पर विचार करते हुए स्थिर किया : (१) एक संतुलित पाठ्यक्रम की बहुत ही आवश्यकता है; इस कारण, प्रचलित पाठ्यक्रम की परीक्षा शिक्षकगण तथा राज्यीय पाठ्यक्रम-समिति करे। (२) पाठ्यक्रम के ध्येय, अध्यापन-विधि तथा परीक्षा-पद्धति में एक विशेष समन्वय की आवश्यकता है, ताकि परीक्षार्थी की बौद्धिक क्षमताओं की जाँच हो न कि स्मरणशक्ति की। (३) सार्वजनिक परीक्षा दो प्रकार की हो : (अ) शालान्त — उन विद्यार्थियों के लिए जो आगे न पढ़ना चाहते हों, और (आ) प्रवेशिका — जो उच्च शिक्षा पाना चाहते हों।†

विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण.—आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों की मानसिक, नैतिक एवं शारीरिक शक्तियों का विकास करना है; परन्तु खेद की बात है कि हमारे अधिकांश माध्यमिक स्कूलों का ध्येय शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम समाप्त करना तथा विद्यार्थियों को सार्वजनिक परीक्षा के लिए तैयार करना ही हो गया है। वे न तो शारीरिक शिक्षा तथा खेल-कूद की ओर ही ध्यान देते हैं और न विद्यार्थियों के स्वास्थ्य तथा चरित्र-निर्माण के प्रति ही सचेष्ट रहते हैं। स्कूल का आखिरी घण्टा बजते ही मानो उनका दैनिक उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्वर्गीय आचार्य प्रफुल्लचन्द्र घोष की निम्नांकित युक्ति सर्वथा उपयुक्त एवं आश्चर्य-विरहित है :

> क्या हम अपने नवयुवकों को मनुष्य बना रहे हैं या और कुछ? क्या हम उन्हें कुछ संभाव्य प्रश्नों के उत्तर कंठस्थ करने के सिवा और भी कुछ सिखा रहे हैं? क्या हम उनकी चिन्तन-शक्ति, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-विश्वास बढ़ाने की दिशा में कुछ भी प्रयत्न कर रहे हैं?

उपर्युक्त कथन भले ही अत्यन्त कटु हो, पर यह अतीव सत्य है। हमारे माध्यमिक स्कूलों पर एक गुरुतर उत्तरदायित्व है। उन्हें अपने विद्यार्थियों को एक प्रजातन्त्र राज्य का सुयोग्य नागरिक बनाना है, उनमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से सोचने तथा कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करना है, जिससे वे समाज के कल्याणकारी अङ्ग बन सकें।

† *Times of India,* September 27, 1959.

उपसंहार

आज पूरे भारत में माध्यमिक शिक्षा-सुधार की पुकार मच रही है। नये ढङ्ग के स्कूलों का प्रादुर्भाव हो रहा है। शिक्षा के ढाँचे में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं, जिसके अनुसार एक माध्यमिक विद्यार्थी सत्रह वर्ष की अवस्था में उच्चतर हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर डिग्री कोर्स में प्रवेश पाने की आकांक्षा रखता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूरा देश एक ही रंग में रँग जाय। आखिर, इसमें हर्ज ही क्या है कि एक विद्यार्थी अपनी माध्यमिक शिक्षा १६ या १७ या १८ वर्ष की आयु में समाप्त करे। विद्यार्थी की योग्यता तथा पाठ्यक्रम की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा के विभिन्न प्रक्रमों की अवधि में हेरफेर होना उचित है। राधाकृष्णन आयोग ने देश को यह चेतावनी दी है, "भारतीय शिक्षा में सदैव एक पल्टनी एकरूपता कायम रही। यह देश के लिए हितकर नहीं है।" †

इस कारण, हमें शिक्षा-सुधार सोच-समझ कर करना चाहिए। तेजी से भागने की कोई आवश्यकता नहीं है। ज़रा एक-ही प्रश्न पर विचार कीजिए — "हमारे देश के ११,००० हाई स्कूलों को उच्चतर माध्ययमिक स्कूल में बदलने की समस्या।" ये स्कूल तो कमर कस कर बैठे ही हैं। एक इशारा मिलते ही, ये स्वयं को उच्चतर माध्यमिक स्कूल में बदलना आरम्भ कर देंगे। ये तनिक भी विचार नहीं करेंगे कि इस परिवर्तन के लिए किन-किन योजनाओं की आवश्यकता है। उच्चतर स्कूल होने पर संस्था एवं संचालक की प्रतिष्ठा बढ़ जावेगी, तथा प्रधानाध्यापक एवं शिक्षकों के वेतन में वृद्धि होगी। यही विचार-धारा उनके मस्तिष्क में प्रवाहित है। कोई जरा सोचता भी नहीं है कि वह स्वयं इस उच्चतर कार्य के लिए योग्य, सक्षम अथवा उपयुक्त है या नहीं है।

इस प्रकार हमें समझ-बूझकर क़दम रखना चाहिए। हमें इस देश के लिए उपयुक्त माध्यमिक स्कूलों की आवश्यकता है, जिनमें हमारे किशोरों को उपयुक्त शिक्षा मिले। प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् मैथ्यू एर्नाल ने कहा था, "हमारे देश का मध्यम वर्ग बहुत ही कम ोर है।" इस कथन के पश्चात् इंग्लैण्ड की माध्यमिक शिक्षा-पद्धति को पूर्ण एवं सशक्त होने के लिए सत्तर वर्ष लगे। भगवान् जाने भारतीय शिक्षा की सबसे कमज़ोर कड़ी कब मजबूत होगी!!

† *University Commission's Report*, p. 546.

छठा अध्याय

विश्वविद्यालयीय शिक्षा

प्रस्तावना

पहले अध्याय में हमारे प्राचीन विश्वविद्यालयीय शिक्षा की चर्चा की गयी है। यह शिक्षा इस देश के लिए कोई नयी वस्तु नहीं है। वैदिक युग में, कितने ही कुलपतियों के आश्रम खासे सावास विश्वविद्यालय थे। बाल्मीकि, वशिष्ठ, दुर्वासा इत्यादि आचार्यों के आश्रमों में प्रायः दस सहस्र शिष्य विद्याध्ययन करते थे। उपनिषत्काल में परिषदों की स्थापना हुई थी। उनमें आधुनिक विश्वविद्यालयों के सभी उपकरण प्रस्तुत थे।

बौद्ध युग में 'बिहार' या 'संघाराम' शिक्षा-केन्द्रों में संगठित होने लगे। धीरे-धीरे वे विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गये। इन शिक्षा-केन्द्रों में नालन्द, तक्षशिला, विक्रमशिला एवं वल्लभी मुख्य थे। कई एक विश्वविद्यालयों में दूर-दूर देशों के विद्यार्थीगण विद्याध्ययन के लिए आते थे।

मुस्लिम युग में, अनेक मदरसे खुले। ये कालिजों के समकक्ष थे। कई एक मदरसों की तुलना आधुनिक विश्वविद्यालयों से की जा सकती है। दिल्ली, आगरा, रामपुर, जौनपुर, बीदर, मुर्शिदाबाद, लखनऊ, आदि स्थानों में प्रख्यात मदरसे थे। इसी समय में अनेक टोल एवं पाठशालाएँ स्थापित हुईं। इन संस्थाओं में हिन्दू-पद्धति पर उच्च शिक्षा देने की व्यवस्था थी। बनारस, नव-द्वीप (वर्तमान 'नदिया'), मिथिला, पूना तथा अहमदनगर मुख्य हिन्दू-शिक्षा-केन्द्र थे। जॉन टॅमास, एक बेप्टिस्ट पादरी, ने नव-द्वीप की तुलना आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के साथ की है, (१७९१)।

आधुनिक काल में उच्च शिक्षा

भूमिका.—उच्च शिक्षा के अनुशीलन के लिए, हम आधुनिक काल को चार उपकालों में बाँट सकते हैं: (१) कालिज कॉल (सन् १७८१ से सन् १८५७ तक), (२) मूल विश्वविद्यालय काल (सन् १८५७ से सन् १९१७ तक), (३) आधुनिक विश्वविद्यालयों का उदय-काल (सन् १९१७ से सन् १९४७ तक) और (४) स्वातन्त्र्योत्तर काल।

मूल विश्वविद्यालय-काल.—वुड के घोषणापत्र में निर्दिष्ट सिफ़ारिशों के कारण कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गये (१८५७)। ये विश्वविद्यालय तात्कालिक लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर स्थापित हुए। लन्दन विश्वविद्यालय उस समय केवल एक परीक्षक संस्था थी। तीनों विश्वविद्यालयों के लिए भारत-सरकार ने निश्चिततः अलग-अलग कानून बनाये। तथापि उनके ढाँचे और अधिनियम आपस में मिलते-जुलते थे। इन कानूनों के अनुसार, विश्वविद्यालयों का उद्देश्य था: "परीक्षाओं के द्वारा उन छात्रों की योग्यता की जाँच करना, जिन्होंने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में क्षमता प्राप्त की हो, तथा इस क्षमता के आधार पर उन्हें शैक्षणिक उपाधियाँ प्रदान करना।"

विश्वविद्यालयों का शासन सिनेट को सौंपा गया। इसका संगठन कुलपति, उपकुलपति तथा सदस्यों के द्वारा होता था। स्थानीय गवर्नर 'कुलपति' होते थे, तथा उपकुलपति सपरिषद् गवर्नर द्वारा मनोनीत होते थे। सिनेट के सदस्य दो प्रकार के थे: पदेन तथा सामान्य। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि सदस्यों की अधिकतम संख्या निर्धारित नहीं की गयी थी, तथा उनकी नियुक्ति भी आजीवन रखी थी। इस प्रकार सरकार-द्वारा सदस्यों की संख्या इच्छानुसार बढ़ाना सम्भव था, तथा अन्तिम साँस चलते तक कोई भी सदस्य सिनेट में बैठ सकता था। इसके अतिरिक्त, कानूनों में सिण्डिकेट की कोई व्यवस्था न थी। बाद में प्रत्येक सिनेट ने अपने अपने सिण्डीकेट निर्मित किये। चूँकि इनका कोई कानूनी हक़ न था, अतएव इनका कोई वैधानिक महत्व भी न था।

विश्वविद्यालय भाड़े के मकानों में लगते थे। परीक्षा लेने तथा प्रमाण-पत्र-वितरण के अतिरिक्त, उनका और कुछ काम न था। उनमें अध्यापन की व्यवस्था न थी। स्कूलों तथा कालिजों को मान्यता प्रदान करने का उन्हें अधिकार अवश्य था, पर विश्वविद्यालयीय कानूनों की अनिर्दिष्टता के कारण स्कूलों तथा कालिजों का विश्व-विद्यालयों से स्थापित सम्बन्ध अस्पष्टप्राय था।

सन् १८८२ तथा १८८७ में पंजाब तथा अलाहाबाद विश्वविद्यालय पुराने विश्व-विद्यालयों के आधार पर क्रमशः स्थापित हुए। विश्वविद्यालयों की छत्र-छाया में कालिजों का विस्तार भी द्रुतगति से हुआ। सन् १८८२ में कालिजों की संख्या ६८ थी, किन्तु २० वर्ष बाद यह संख्या १७९ हो गयी — १३८ अंग्रेजी भारत में, ३२ देशी रजवाड़ों में तथा ९ लङ्का-द्वीप में।

पर इस विस्तार के साथ साथ, अनेक दोष भी दृष्टि आने लगे। प्रथमतः, विश्वविद्यालय इतने अधिक कालिजों का भार वहन नहीं कर सकते थे, तथा उन्हें कालिजों की कार्यवाही को नियन्त्रित करने का कुछ भी अधिकार न था। इसी कारण शिक्षा के स्तर में पतन हो चला था। द्वितीयतः, सदस्यों की संख्या की वृद्धि के कारण, सिनेट का रूप अत्यंत बोझिल हो गया था। वे अपना काम-काज ठीक रूप मे सँभाल न पा रही थीं। इनके अतिरिक्त लोग यह अनुभव करने लग गये थे कि परीक्षा-सञ्चालन के सिवा, विश्वविद्यालयों को अनुसन्धान तथा अध्यापन-कार्य करना चाहिए।

इतने में लार्ड कर्जन भारत के वाइसराय होकर आये। उन्होंने उच्च शिक्षा के पुनर्संगठन के लिए भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की। कमीशन की जाँच का विषय रखा गया — "ब्रिटिश भारत में स्थापित विश्वविद्यालयों की दशा तथा उनके भविष्य की जाँच करना और उनके विधान एवं कार्य-प्रणाली में सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत करना।" अपनी नियुक्ति के एक वर्ष के भीतर ही, आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इसी रिपोर्ट के आधार पर, लार्ड कर्जन ने सन् १९०४ में एक कानून निकाला, जो कि भारतीय विश्वविद्यालय कानून के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मुख्य नियम निम्न-लिखितानुसार हैं :

१. विश्वविद्यालयों के अधिकार बढ़ा दिये जावें। इनको अधिकार है कि वे परीक्षा लेने के अतिरिक्त अनुसन्धान तथा शिक्षण-कार्य आरम्भ करें। इसके लिए वे प्रोफ़ेसर तथा लेक्चरर नियुक्त करें; पुस्तकालय, अजायब घर तथा प्रयोग-शालाएँ स्थापित करें, एवं विद्यार्थियों के आवास-गृह चलावें।

२. सिनेट के सदस्यों की संख्या निर्धारित की जाय—वह कम-से-कम ५० और अधिक-से-अधिक १०० रहे। उनकी सदस्यता की अवधि आजीवन न होकर पाँच वर्षों के लिए हो। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या बीस तथा अन्य विश्वविद्यालयों की निर्वाचित सदस्य-संख्या पन्द्रह रखी जावे।

३. सिण्डीकेटों को कानूनी स्वीकृति दी जावे, और उनमें विश्व-विद्यालय के शिक्षकों का उचित प्रतिनिधित्व हो।

४. सम्बद्ध कालिजों को मान्यता देने के नियमों में सख़्ती की जावे, तथा सिण्डीकेट-द्वारा उनके निरीक्षण की नियमित रूप से व्यवस्था हो।

५. सरकार आवश्यकतानुसार सिनेट-द्वारा बनाये गये नियमों को संशोधित एवं परिवर्तित कर सकती है। यदि निर्धारित तिथि तक सिनेट कानून न बनावे, तो सरकार स्वतः कानून बना सकती है।

६. सपरिषद् गवर्नर जनरल प्रत्येक विश्वविद्यालय की क्षेत्रीय सीमा निर्धारित कर दे।

इतना सब कुछ होते हुए, इस क़ानून ने न अलीगढ़, बनारस, ढाका, पटना, रंगून तथा नागपुर में विश्वविद्यालय की स्थापना की माँग को स्वीकृति दी, और न सम्बन्धित विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के विश्वविद्यालयों की कल्पना ही की। लेकिन कानून ने भारतीय उच्च शिक्षा में कई उल्लेख-योग्य परिवर्तन किये। प्रथमतः, सिण्डीकेट एक वैधानिक समिति हो गयी; इस कारण उस पर किसीका दबाव न रहा। द्वितीयतः, नव संगठित सिनेट पहले सिनेटों की अपेक्षा अधिक ठोस तथा प्रभाव-युक्त बनी। तृतीयतः, सम्बद्ध कालिजों के निरीक्षण तथा नियन्त्रण के कारण उच्च शिक्षा की उन्नति हुई। कुछ निकम्मे कालिज तो लुप्त ही हो गये। चतुर्थतः, विश्वविद्यालयों को सरकारी अनुदान मिलने लगा।

लार्ड कर्जन के सुधार के दस वर्ष बाद, उच्च शिक्षा के पुनर्निरीक्षण की फिर से आवश्यकता पड़ी। कालिजों की संख्या-वृद्धि होती जा रही थी तथा विश्वविद्यालयों पर बोझ बढ़ रहा था। इतने पर भी विश्वविद्यालयीय शिक्षा की माँग पूरी न हो रही थी। फलतः, सन् १९१३ में सरकारने अपनी शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया। इसके अनुसार अधिक विश्वविद्यालयों की आवश्यकता स्वीकार की गयी। इसने फिर सुझाव दिया कि वर्तमान विश्वविद्यालयों की अधिकार सीमा इतनी विस्तृत हो गयी है कि उसे घटाकर नये विश्वविद्यालय स्थापित किये जावें। यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है: (१) प्रत्येक बड़े-बड़े प्रान्त में सम्बद्ध विश्वविद्यालय खोले जावें और (२) नये स्थानीय तथा सावासिक विश्वविद्यालय मुख्य उच्च विद्या-केन्द्रों में स्थापित किये जावें। इस प्रस्ताव ने घोषणा की कि सरकार ने पटना एवं नागपुर में प्रादेशिक विश्वविद्यालय तथा ढाका, अलीगढ़ और बनारस में स्थानीय विश्वविद्यालय खोलना अङ्गीकार किया है। इसके अतिरिक्त प्रस्ताव ने उचित समझा कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक उन्नति के लिए उपयुक्त वातावरण हो।

इस शिक्षा-नीति की सिफ़ारिशों के कारण, नवीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए: बनारस और मैसूर (१९१६), पटना (१९१७), हैदराबाद (१९१८) तथा एस० एन०

डी० टी० महिला विश्वविद्यालय (१९१७)। इनकी स्थापना से विश्वविद्यालयीय शिक्षा के नये विचार स्पष्ट दृष्टि आने लगे। बनारस सबसे पहला एकात्मक तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालय है; पटना प्रथम प्रादेशिक एवं सम्बद्धीय विश्वविद्यालय है; मैसूर तथा हैदराबाद तत्कालीन देशी रजवाड़ों के प्रथम विश्वविद्यालय हैं; एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, भारत में उच्च स्त्री-शिक्षा के प्रसार का एक अनूठा दृष्टान्त है। इसके साथ-साथ ढाका, पूना तथा अहमदाबाद में क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना की चेष्टा होने लगी। सन् १९१६ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर विभाग खोले गये।

आधुनिक विश्व-विद्यालयों का उदय-काल.—इस प्रकार पिछले उपकाल के अन्त में कुछ नये विश्वविद्यालयों का उदय हुआ। फिर भी विश्वविद्यालयों की समस्या हल न हुई। सन् १९१७ में भारत सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया। इसकी माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्तावों की चर्चा पहले की गयी है।† विश्वविद्यालय के कार्य के सम्बन्ध में आयोग ने ये सिफ़ारिशें कीं :

१. नये विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा विद्यमान विश्वविद्यालयों का पुनर्गठन—जहाँ तक हो सके, ये एकात्मक, सावासक, शैक्षणिक संस्थाएँ हों।

२. स्नातक का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का हो तथा 'पास कोर्स' के अलावा 'आनर्स कोर्स' आरम्भ हो।

३. छात्रों की भलाई के विचार से, हर विश्वविद्यालय में एक शारीरिक शिक्षा-संचालक नियुक्त किया जाय।

४. भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए, युनिवर्सिटी प्रोफेसर या रीडर नियुक्त हों।

५. अध्यापन, कानून, इंजीनियरिंग, डाक्टरी, कृषि, एवं आदि की औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध विश्वविद्यालय में किया जावे।

६. विश्वविद्यालय-सम्बन्धी समस्याओं पर विचारविमर्श करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों के अधिकारियों का सामयिक सम्मेलन किया जावे।

इस आयोग की रिपोर्ट के बाद, भारत में धड़ाधड़ विश्वविद्यालय खुल गये : ढाका और रंगून (१९२०), अलीगढ़ और लखनऊ (१९२१), दिल्ली (१९२२),

† देखिए पृष्ठ १०२।

नागपुर (१९२३), आन्ध्र (१९२६), आगरा (१९२७), अन्नामलय (१९२९), त्रावणकोर (१९३७), उत्कल (१९४३), सागर (१९४७), सिंध तथा राजपूताना (१९४७)। कालिजों तथा उनके छात्रों की संख्या में भी अत्यधिक वृद्धि हुई। इसका पता निम्नांकित तालिका से चलेगा।

तालिका १७

अंग्रेजी भारत में कालिज शिक्षा, १९२१-४७†

विवरण	१९२१-२२	१९३१-३२	१९४६-४७
कालिज-संख्या	२३१	४१७	९३३
छात्र-संख्या	५९,५९१	९९,४९३	१,९९,२५३

स्वातन्त्र्योत्तर काल.—देश के विभाजन के बाद, अठारह नवीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए: पंजाब (१९४७), गौहाटी, पूना, रुड़की तथा जम्मू और कश्मीर (१९४८), बड़ौदा (१९४९), कर्नाटक और गुजरात (१९५०), बिहार (१९५२), श्रीवेंकटेश्वर (१९५४), जादवपुर तथा सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, आनन्द (१९५५), कुरुक्षेत्र (१९५६), गोरखपुर, जबलपुर, विक्रम-विश्वविद्यालय, उज्जैन (१९५७), मराठावाड़ा तथा इंडियन इंस्टट्यूट ऑफ् साइन्स, बंगलौर (१९५८)। इसके अतिरिक्त सन् १९५१ में विश्व-भारती तथा एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय को वैधानिक स्वीकृति दी गयी है।

नवम्बर, १९४८ में, भारत सरकार ने डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में, एक विश्वविद्यालय-आयोग नियुक्त किया। आयोग को यह निर्देश दिया गया कि वह "भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा की स्थिति के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करे और इसके विकास तथा विस्तार के लिए परामर्श दे, जो देश की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं के विचार से आवश्यक हों।" अगस्त १९४९ में, कमीशन ने अपना प्रतिवेदन शिक्षा-मन्त्रालय को प्रेषित कर दिया। इसके सुझावों की चर्चा इस अध्याय के यथोचित अंशों में की जावेगी।

† S. N. Mukerji, *History of Education in India,* Baroda Acharya Book Depot, 1957. p. 189.

वर्तमान विश्वविद्यालयीय शिक्षा की कुछ विशेषताएँ

वर्तमान विश्वविद्यालयों को ठीक तरह से समझने के लिए हमारी उच्च शिक्षा की कुछ विशेषताओं को समझना आवश्यक है। इस कारण, इस प्रकरण में इन विषयों की चर्चा की गयी है : (१) कालिजों का वर्गीकरण, (२) विश्वविद्यालयों के प्रकार, (३) विश्वविद्यालय-प्रशासन और (४) कतिपय प्रशासन-निकाय।

कालिजों का वर्गीकरण.—सन् १९५५-५६ में, सम्पूर्ण देश में, कुल १,२०४ कालिज थे : ७४६ कला तथा विज्ञान-कालिज, ३४६ विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा देनेवाले कालिज तथा ११२ विविध शिक्षावाले कालिज (संगीत, नृत्य, ललित-कला, प्राच्यविद्या, समाज विज्ञान तथा गृह-विज्ञान)। प्रबंध की दृष्टि से इन कालिजों का वर्गीकरण निम्नांकित तालिका में दिया गया है :

तालिका १८

प्रबन्धानुसार कालिजों का वर्गीकरण, १९५५-५६†

प्रबन्ध	कला तथा विज्ञान कालिज	व्यावसायिक कालिज	विविध कालिज	प्रति शत
राजकीय	१८६	१९४	२८	३३·९
स्थानीय मण्डल ...	३	३	१	०·६
स्वसंचालित सहायता-प्राप्त ...	४५८	१०१	६८	५२·३
स्वाश्रित	९९	४५	१५	१३·२
कुलयोग	७४६	३४६	११२	१०० ००

उपर्युक्त अङ्कों से स्पष्ट होगा कि : (१) दो-तिहाई कालिज स्वसंचालित हैं, (२) ५६ प्रति शत व्यावसायिक कालिज राजकीय हैं और (३) स्थानीय मण्डलों का कालिजों के साथ नाम-मात्र सम्बन्ध है।

† *Education in India*, 1955–56, Vol 1. p. 121.

विश्वविद्यालयों के प्रकार.—आज भारत में विश्वविद्यालयों की कुल संख्या ३८ है।† ये विश्वविद्यालय तीन प्रकार के हैं : (१) सम्बद्धीय, (२) एकात्मक तथा (३) संघात्मक।

सम्बद्धीय.—प्रत्येक सम्बद्धीय विश्वविद्यालय का मुख्य कर्तव्य है बाहरी कालिजों को मान्यता देना। ऐसे विश्वविद्यालय का क्षेत्र विस्तृत रहता है तथा इसके सम्बद्ध कालिज दूर-दूर के शहरों तथा गाँवों में फैले हुए रहते हैं। विश्वविद्यालय सम्बद्धीकरण के नियम तथा शर्तें ठीक करता है तथा समय-समय पर वह अपने कालिजों का निरीक्षण भी करता है। सम्बद्ध कालिजों को विश्वविद्यालय के नियमों का पालन करना पड़ता है, उसके द्वारा अनुमोदित पाठ्यक्रम चलाना पड़ता है तथा उसकी सार्वजनिक परीक्षाओं में अपने विद्यार्थियों को बैठाना पड़ता है। कालिजों के सफलीभूत परीक्षार्थियों को विश्वविद्यालय की डिग्री या डिप्लोमा मिलता है।‡

विश्वविद्यालय तथा उसके सम्बद्ध कालिजों का पारस्परिक सम्बन्ध भारतीय विश्वविद्यालय कानून, १९०४ के द्वारा नियन्त्रित होता है। कायदे के मुख्य मुद्दों का अनुमान एक सरकारी रिपोर्ट से उद्धृत निम्न-लिखित अंश से मिलेगा :

> एक भारतीय विश्वविद्यालय अपने अधीनस्थ कालिजों का निरीक्षण करता है तथा उससे सम्बन्ध स्थापित करता है, पाठ्यक्रम स्थिर करता है, परीक्षाएँ चलाता है तथा डिग्री प्रदान करता है। ... ... वह अपने क्षेत्र में स्थित किसी भी कालिज को, मान्यता प्रदान कर सकता है। ... ... इन कालिजों को वह स्वतः नहीं चलाता है, पर सम्बद्धीकरण की शर्तों को निर्धारित करता है, जिन्हें कालिजों को पालना पड़ता है। निरीक्षण-द्वारा विश्वविद्यालय जाँच करता है कि सम्बद्धकालिजें शर्तों का यथोचित पालन कर रहे हैं या नहीं।*

कानून की २१ वीं, २२ वीं तथा २४ वीं धाराओं में सम्बद्धीकरण की शर्तों का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। इन प्रतिबन्धों की सन्तोषप्रद परिपूर्ति हुए बिना विश्वविद्यालय किसी भी कालिज को मान्यता प्रदान नहीं करता है। संक्षेप में, ये धाराएँ कालिजों के इन विषयों के साथ संलग्न हैं : (१) व्यवस्था तथा प्रबन्ध, (२) कर्मचारीगण (३) इमारतें तथा छात्रावास, (४) शिक्षा-साधन तथा असबाब, (५) विद्यार्थी,

† देखिए, **दूसरा परिशिष्ट**।

‡ *Progress of Education in India*, 1927–32, Vol. I. p. 54.

* *Progress of Education in India*, 1902–07, Vol. I. p. 13.

(६) वित्त, (७) पुस्तकालय, (८) प्रयोग-शाला, (९) रजिस्टर और (१०) विविध विषय।†

शुरू शुरू में ये विश्वविद्यालय केवल सम्बद्धीकरण की व्यवस्था तथा परीक्षा-सञ्चालन करते थे। पर कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की सिफ़ारिशों के कारण, इस प्रकार के प्रायः सभी विश्वविद्यालय कुछ-न-कुछ अध्यापन की व्यवस्था स्वतः करने लगे हैं। इस देश के सम्बद्धीय विश्वविद्यालय ये हैं: आगरा, आन्ध्र, बिहार, कलकत्ता, दिल्ली, गौहाटी, गोरखपुर, गुजरात, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, मद्रास, मराठावाड़ा, मैसूर, नागपुर, ओस्मानिया, पंजाब, पूना, राजस्थान, सागर, एस० एन० डी० टी०, व्यंकटेश्वर, उत्कल तथा विक्रम।

एकात्मक.—ऐसा विश्वविद्यालय सावासिक तथा शैक्षणिक होता है। इसका क्षेत्र किसी भी एक केन्द्र में सीमित रहता है, जहाँ पर वह स्वतः सम्पूर्ण अध्यापन-कार्य की व्यवस्था करता है। अपने निजी विभागों या अधीन कालिजों के द्वारा वह शिक्षण-कार्य स्वतः चलाता है। यहाँ तक कि सभी अध्यापक विश्वविद्यालय की मातहती में काम करते हैं। इस प्रकार, ऐसा विश्वविद्यालय अपने प्रबन्ध, प्रशासन तथा अध्यापन का परिचालन स्वतः करता है। भारत के मुख्य एकात्मक विश्वविद्यालय ये हैं: अलीगढ़, अलाहाबाद, अन्नामलय, बनारस, बड़ौदा, जादवपुर, कुरुक्षेत्र, लखनऊ, पटना, रुड़की, आनन्द तथा विश्व-भारती।

संघात्मक.—संघात्मक विश्वविद्यालय के विशिष्ट लक्षण ये हैं: (१) विश्वविद्यालय का क्षेत्र एक केन्द्र में ही सीमित रहता है, जहाँ कि उसके सबद्ध तथा अधीन कालिज पास-पास अवस्थित होते हैं। (२) प्रत्येक कालिज में उच्चतम शिक्षा का प्रबन्ध रहता है। (३) विश्वविद्यालय के प्रबन्ध की उन्नति के लिए प्रत्येक कालिज को उसके प्रशासन में भाग लेना पड़ता है। इस कारण, कालिजों को अपनी स्वायत्तता थोड़ी-बहुत छोड़नी पड़ती है। (४) विश्वविद्यालय के निर्देशानुसार कालिज अध्यापन कार्य चलाते हैं। सारांश यह है कि संघात्मक विश्वविद्यालय विभिन्न कालिजों का एक ऐसा संघ है जहाँ कि शैक्षणिक कार्य अधीन कालिज-समुदाय मिलजुल कर करते हैं। सम्पूर्ण विश्वविद्यालय के अध्यापन तथा प्रशासन के वे भागीदार हैं। इस कारण, उन्हें अपनी स्वायत्तता को कुछ-न-कुछ विसर्जन करना पड़ता है। बम्बई तथा जबलपुर के विश्वविद्यालय इस वर्ग में सम्मिलित हैं।

† *Ibid*., p. 29.

विश्वविद्यालय-प्रशासन.—विश्वविद्यालय का प्रशासन नाना प्रकार के निकायों-द्वारा सम्पादित होता है। इनमें श्रेष्ठतम है कोर्ट या सिनेट। प्रत्येक शैक्षणिक या दैनिक कार्यों का अन्तिम निर्णय यही करती है। इसके सदस्य पदेन, मनोनीत तथा निर्वाचित होते हैं। पदेन सदस्यों के स्थान, प्रान्तीय शासन तथा विश्वविद्यालय के कुछ अधिकारियों एवं कालिजों के प्रिन्सिपालों द्वारा भरे जाते हैं। मनोनीत सदस्यों की तालिका प्रान्तीय सरकार बनाती है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय के अध्यापकगण तथा पंजीयत स्नातक-मण्डल अपने-अपने निर्वाचन-क्षेत्र से कुछ सदस्य चुनते हैं। प्रत्येक प्रकार के सदस्यों की संख्या निर्धारित रहती है।

सिनेट के बाद आते हैं, एकेडेमिक काऊन्सिल तथा सिण्डीकेट। प्रथम निकाय का सम्बन्ध रहता है केवल शैक्षणिक प्रश्नों से। सिण्डीकेट या एक्जीक्यूटिव काउन्सिल विश्वविद्यालय की प्रबन्ध-कारिणी सभा होती है। प्रत्येक विषय के पाठ्यक्रम का निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र अभ्यास-समिति संगठित होती है। इसके अतिरिक्त अन्य आवश्यक प्रश्नों पर विचार करने के लिए विविध समितियाँ होती हैं, जैसे : परीक्षा, अन्वेषण, प्रकाशन, युवक-कल्याण, शारीरिक शिक्षा तथा खेल-कूद, छात्रावास, पुस्तकालय, आदि।

विश्वविद्यालय के प्रधान होते हैं, चांसलर या कुलपति। बहुधा स्थानीय राज्यपाल कुलपति होते हैं, पर विश्वविद्यालयों की संख्यावृद्धि के कारण कुछ राज्यों में अब एक से अधिक विश्वविद्यालय हैं। इस कारण, कई विश्वविद्यालयों के संविधान में कुलपति-निर्वाचन की व्यवस्था की गयी है। कुलपति के बाद उपकुलपति का स्थान है। वास्तव में उपकुलपति ही विश्वविद्यालय के मुख्य शासक होते हैं। उपकुलपति की नियुक्ति की प्रथा सर्वत्र एक-सी नहीं है। कहीं ये स्थानीय राज्यपाल-द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, कहीं इनका निर्वाचन सिण्डीकेट-द्वारा और कहीं सिनेट-द्वारा होता है। इनकी नियुक्ति की अवधि विभिन्न विश्वविद्यालयों के संविधान के अनुसार तीन से पाँच वर्ष की है। शुरू शुरू में उपकुलपति अवैतनिक तथा कोई प्रतिष्ठित महानुभाव होते थे। इस कारण, वे अपना पूरा समय विश्वविद्यालय के कार्य में नहीं लगा सकते थे। वर्तमान समय में उच्च शिक्षा की विविधता के कारण पूर्ण समय देनेवाले तथा वेतन-भोगी उपकुलपतियों की माँग है।

कतिपय प्रशासन निकाय—विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रखनेवाले कई प्रशासन निकाय हैं। इनमें से मुख्य हैं : (१) माध्यमिक या/और इण्टरमीडिएट शिक्षा-मण्डल, (२) अन्तर्विश्वविद्यालय मण्डल तथा (३) विश्वविद्यालय–अनुदान-आयोग। इन तीनों निकायों की चर्चा इस प्रकरण में की गयी है।

माध्यमिक या/और इण्टरमीडिएट शिक्षा-मण्डल.—कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के परामर्श के कारण इन मण्डलों की सृष्टि हुई है। इनकी संख्या वर्तमान काल में पन्द्रह है। पिछले अध्याय में इनका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।†

अन्तर्विश्वविद्यालय-मण्डल.—ऐसे मण्डल की आवश्यकता का सुझाव सर्व प्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने दिया था। तत्पश्चात् सन् १९२४ में भारतीय विश्व-विद्यालयों की एक बैठक शिमला में हुई। इसमें ऐसे मण्डल की स्थापना का संकल्प किया गया। एक वर्ष पश्चात् यह विचार कार्यान्वित हुआ, तथा मण्डल का प्रधान कार्यालय बंगलौर में रखा गया। इसके मुख्य कार्य इस प्रकार हैं :

१. अन्तर्विश्वविद्यालय-संगठन एवं सूचना-केन्द्र के रूपमें कार्य करना,

२. अध्यापकों के आदान-प्रदान को सुविधाजनक बनाना,

३. विश्वविद्यालयों में विचार-विनिमय के अभिकरण रूप में काम करना तथा उनके कार्यों में एकरूपता लाना,

४. भारतीय विश्वविद्यालयों को बाहरी देशों में अपनी उपाधियों की मान्यता प्रदान कराने की व्यवस्था करना,

५. अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि को भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भेजना, और

६. विश्वविद्यालय सम्बन्धी समस्याओं पर विचार-विमर्श करने तथा भारत के विश्वविद्यालयों-द्वारा दी जानेवाली उपाधियों की परस्पर मान्यता प्रदान करने की व्यवस्था करना।

प्रत्येक विश्वविद्यालय इस मण्डल में एक प्रतिनिधि भेज सकता है। मण्डल की बैठक प्रतिवर्ष एक बार होनी है। शुरू से ही मण्डल उच्च शिक्षा-विषयक मामलों को हल करने में महत्व-पूर्ण भाग लेता रहा है। पर यह स्मरण रहे कि मण्डल केवल एक परामर्श-दात्री संस्था है।

विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग.—सार्जेण्ट योजना के प्रस्ताव के कारण, भारत सरकार ने एक विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति की नियुक्ति सन् १९४५ में की थी। इसका सम्बन्ध केवल केन्द्रीय विश्वविद्यालयों से था। पांच वर्ष बाद, यह समिति बन्द कर दी गयी। इतने में राधाकृष्णन-आयोग के सुझाव के अनुसार सन् १९५३ में 'विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग' की स्थापना की गयी। आयोग के मुख्य कार्य अगले पन्ने में दिये गये हैं :

---

† देखिए **पृष्ठ १०२।**

१. केन्द्रीय सरकार को एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में उच्च शिक्षा तथा विश्वविद्यालयों के मान-दण्ड को ऊँचा करने के विषय में परामर्श देना,

२. विश्वविद्यालयों की आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल करके, उनको अनुदान देना,

३. यदि कोई प्राधिकारी आवश्यक समझे तो नवीन विश्वविद्यालय की स्थापना के समय उसे सलाह देना, एवं पुराने विश्वविद्यालयों को सुधार के मार्ग बताना अथवा उनकी किसी भी प्रकार की समस्या को सुलझाना,

४. केन्द्रीय या राज्य-सरकारों को किसी विश्वविद्यालय की डिग्रियों की मान्यता के विषय में सलाह देना, तथा

५. केन्द्रीय सरकार के अनुसार उच्च शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करना तथा विकास-योजनाओं को कार्यान्वित करना।

सन् १९५६ में, संसद् के एक अधिनियम-द्वारा इसे एक स्वतन्त्र संस्था मान लिया गया है। आयोग का संगठन इस प्रकार है : (१) अध्यक्ष (२) मन्त्री तथा (३) नौ सदस्य : विश्वविद्यालयों के उपकुलपति – तीन, भारत-सरकार-द्वारा मनोनीत – दो, तथा नामजद प्रमुख शिक्षा-शास्त्री – चार। इस आयोग को शिक्षा-सम्बन्धी अधिकांश मामलों की देखरेख का भार सौंपा गया है। आयोग को विभिन्न विश्व-विद्यालयों को अनुदान देने तथा उनकी विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के भी अधिकार प्राप्त हैं।

कतिपय समस्याएँ

इस प्रकरण में विश्वविद्यालयीय शिक्षा-सम्बन्धी कुछ प्रश्नों पर विचार किया गया है। मुख्य प्रश्न ये हैं : (१) भविष्य के विश्वविद्यालय, (२) सरकार तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा, (३) वित्त, एवं (४) स्वसंचालित कालिज।

भविष्य के विश्वविद्यालय : उच्च शिक्षा की प्रगति—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् विश्वविद्यालयीय शिक्षा का उल्लेखयोग्य विस्तार हुआ है। सन् १९४८ में मुख्य राज्यों के कला तथा विज्ञान कालिजों की छात्र-संख्या १,७९,१७३ थी। सन् १९५७ में यह संख्या ६,२५,४०७ अर्थात् प्रायः चौगुनी हो गयी। इसी अरसे में व्यावसायिक कालिजों की छात्र-संख्या ४४,६०४ से १,५९,९७३ पहुँची।† इतना

† *Ten Years of Freedom*, p. 10.

उच्च शिक्षा की प्रगति
(१९५१ से १९५७)
१३
१२
११
१०
९
८
७
६
५
४
३
२
१
०
१९५१-५२
१९५२-५३
१९५३-५४
१९५४-५५
१९५५-५६
१९५६-५७
कालिज
(सौ)
छात्र-सँख्या
(लाख)
खर्च
(करोड़ रु.)

चित्र ११
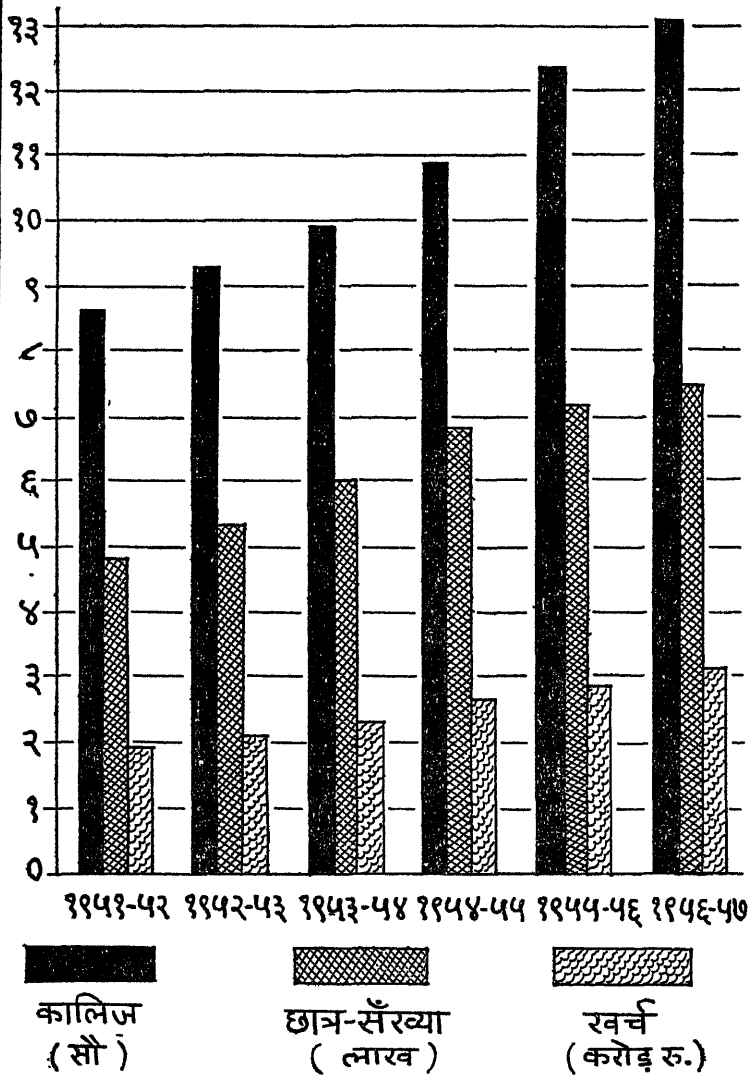
होते हुए भी, भारत की उच्च शिक्षा अनेक देशों की अपेक्षा अभी भी पिछड़ी हुई है। जहाँ इस देश में १० लाख में २,००० उच्च शिक्षित हैं, वहाँ अमेरिका में २५,०००, सोवियट संघ में २०,००० तथा आस्ट्रेलिया में ८,००० हैं।†

आजकल हमारे देश के लोगों में उच्च शिक्षा पाने की तीव्र आकांक्षा है। कालिजों तथा विश्वविद्यालयों की छात्र-संख्या इतनी बढ़ रही है कि अनेक विद्यार्थियों को वहाँ प्रविष्ट होना दुष्कर हो रहा है। अतएव नवीन कालिजों तथा विश्वविद्यालयों की पर्याप्त माँग है।

नये विश्वविद्यालय.—कलकत्ता आयोग की सिफ़ारिशों के कारण, देश में एकात्मक विश्वविद्यालयों की सृष्टि हुई है। ऐसे विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी तथा अध्यापकगण निकट सम्पर्क में आते हैं, अध्यापन सन्तोषप्रद होता है, पढ़ाई और परीक्षा का घना सम्बन्ध रहता है, विद्यार्थियों के खेल-कूद का विशेष प्रबन्ध रहता है, इत्यादि। चूँकि सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों का सम्पर्क अनेक कालिजों से रहता है, इसलिए उन्हें अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि भविष्य में इस देश में केवल एकात्मक विश्वविद्यालय ही खोले जावें। यदि ऐसा हो तो हमारे विद्यमान १,३०० कालिजों को यह रूप देना पड़ेगा और भविष्य में इनकी संख्या बढ़ती ही जावेगी।

इस कारण से स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल देश में सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों की सदैव आवश्यकता पड़ेगी। सार्जेण्ट योजना का मत है, "आर्थिक दृष्टि की ओर से भारत में सदा सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों की आवश्यकता रहेगी। उच्च-शिक्षा कभी भी कुछ चुने हुए केन्द्रों में सीमित नहीं रह सकती है।"‡ ऐसे विश्वविद्यालयों की स्थापना सौराष्ट्र, मिथिला तथा तामिल क्षेत्र में अर्थात् त्रिचनापल्ली के आसपास हो सकती है। वर्दमान (पश्चिम बँगाल) में एक ऐसा विश्वविद्यालय खुलनेवाला है।

एकात्मक विश्वविद्यालय बड़े-बड़े शहरों में खोले जा सकते हैं, जैसे: अमृतसर, अजमेर, बंगलौर, मदुरा, कानपुर, मेरठ, इत्यादि। देखा गया है कि अतीत में कई एकात्मक विश्वविद्यालयों की स्थापना के समय कुछ प्रसिद्ध कालिजों का बलिदान हुआ था, जैसे: अलाहाबाद इर्विंग क्रिश्चियन कालिज, तथा लखनऊ क्रिश्चियन कालिज।

† *Times of India,* August 23, 1958.

‡ *Sargent Report.* p. 31.

उच्च-शिक्षा के विस्तार के लिए यह मार्ग उचित नहीं है। ऐसे पुराने कालिजों के बन्द होने के कारण, स्थानीय जनता के हृदय में धक्का पहुँचता है। इस कारण शुरू-शुरू में जब दिल्ली में एक एकात्मक विश्वविद्यालय की कल्पना की गयी, तब लोगों ने उसका विरोध किया। यदि वह कल्पना कार्यान्वित होती तो हिन्दू कालिज, सेण्ट स्टीफन्स कालिज तथा रामजस कालिज सरीखे तीन प्राचीन स्थानीय संस्थाओं को बन्द करना पड़ता। इस समस्या को हल करने के लिए ही दिल्ली में एक संघीय विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अतएव कुल कालिजों में ताला बन्द कर, एक एकात्मक विश्वविद्यालय न खोला जाय। एक विशाल कालिज को बढ़ाकर ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना हो। इस पन्थ का अवलम्बन अलीगढ़, बनारस, बड़ौदा, अन्नामलय विश्वविद्यालयों की स्थापना के समय किया गया था। जिस जगह अनेक कालिज हों, वहाँ एक संघीय विश्वविद्यालय खोलना श्रेयस्कर है।

भारत में कुछ ऐसे विद्यालयों की आवश्यकता है जो कि केवल एक ही विषय में विशेषज्ञ बनें। रुड़की विश्वविद्यालय की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई थी। ऐसे विश्वविद्यालय कई जगह खुल सकते हैं: टाटानगर में धातु विज्ञान, सेवाग्राम में बुनियादी शिक्षा, अहमदाबाद में वस्त्र-विद्या आदि।

हर्ष की बात है कि सम्प्रति भारत में कुछ ऐसे विश्वविद्यालय स्थापित हुए हैं, जैसे: कृषि-शोध-संस्था, दिल्ली; कृषि विश्वविद्यालय, रुद्रपुर (लखनऊ के पास); संस्कृत विश्वविद्यालय, मिथिला; संगीत तथा ललितकला विश्वविद्यालय, खैरागढ़।

उचित व्यवस्था.—नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के निमित्त, एक विशेष योजना की आवश्यकता है। ये अत्यन्त समझ-बूझ कर खोले जावें। स्वातन्त्र्य-काल में सत्रह नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए हैं। इनमें से कुछ के लिए भूमि अवश्य तैयार थी, पर अन्य विश्वविद्यालय खींचतान कर खड़े किये गये हैं। ये ऐसी जगह स्थापित हुए हैं, जहाँ कि शायद एक भी कालिज न था। कहीं-कहीं, किसी दानवीर ने दान दिया था, पर इस दान से शायद विश्वविद्यालय की एक इमारत भी खड़ी न हो सकी। पर अधिकांशों की स्थापना क्षेत्रीय आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए या राजनैतिक माँगों को पूरा करने के लिए हुई है। यह प्रवृत्ति अत्यन्त ही हानिकर है। कोई भी विश्वविद्यालय एकाएक खड़ा नहीं हो सकता है। वह ऐसी जगह स्थापित हो, जहाँ कि अनेक स्कूल हों, विविध विषय के कालिज हों, उपयुक्त प्रयोग-शालाएँ तथा पुस्तकालय हों, अनुसन्धान की व्यवस्था हो तथा जहाँ विद्यार्थियों एवं अध्यापकों की संख्या पर्याप्त रूप में इन सुविधाओं के अभाव में एक विश्वविद्यालय ठीक नहीं चल सकता है। कि

विद्यविद्यालय का अर्थ एक परीक्षा-कार्यालय ही हो तब तो मुझे इस विषय पर कुछ कहना ही नहीं है।

ग्रामीण विश्वविद्यालय.—भारत एक कृषि-प्रधान देश है, और इस देश की ८३ प्रति शत जनता देहात में रहती है। पर इस जनता की शिक्षा की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। सम्पूर्ण देश के शिक्षा-व्यय का प्रायः एक-तिहाई गाँवों पर खर्च होता है। प्रचलित स्कूलों तथा कालिजों के पाठ्यक्रम का ढाँचा शहरी है। जैसा कि अमेरिकन विद्वान् मर्गन ने कहा है, "इन पाठ्यकमों से ऐसी धारणा होती है कि सम्भवतः भारत में बिरले ही गाँव हैं।"†

गाँवों की शिक्षणीय आवश्यकता की ओर सबसे पहले राधाकृष्णन आयोग ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। आयोग ने प्रस्ताव किया था :

> ग्रामीण विश्वविद्यालय की स्थापना एक केन्द्रीय स्थान में की जावे। इसका सम्बन्ध अनेक छोटे-मोटे सावासिक पूर्व-स्नातक कालिजों से हो, जोकि इसके चारों ओर वृत्ताकार-रूप में स्थित रहें।‡

इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए, भारत सरकार ने एक ग्रामीण उच्चतर शिक्षा-समिति अक्टूबर, १९५४ में नियुक्त की। इस समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हो गया है। समिति ने कहा कि अभी ग्राम्य विश्वविद्यालय खोलना आवश्यक नहीं है। आरम्भ में कुछ ग्रामीण उच्चतर संस्थाओं की स्थापना हो और क्रमशः ये विश्वविद्यालय के रूप में बढ़ायी जावें। इन संस्थाओं में उत्तर बुनियादी तथा उच्चतर माध्यमिक शालाओं के सफलीभूत विद्यार्थी भरती किये जावें। इनमें ग्राम्य विषयों से सम्बन्धित तीन-वर्षीय डिप्लोमा, या दो-वर्षीय सर्टीफिकेट कोर्सों का आयोजन हो। इसके अतिरिक्त उनमें ग्राम्य-शोध, समाज-शिक्षा तथा समाज कल्याण-विस्तार का प्रबन्ध हो।

समिति के सुझाव पर ग्रामीण उच्चतर शिक्षा के सम्बन्धी सभी मामलों पर सरकार को परामर्श देने के लिए एक 'राष्ट्रीय ग्रामीण उच्चतर शिक्षा-परिषद्' स्थापित हो चुकी है। परिषद् ने ग्रामीण संस्थाओं के रूप में विकसित करने के लिए ग्यारह संस्थाएँ चुनी हैं, जिन्होंने अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। ये इन गाँवों या शहरों में स्थित हैं : श्रीनिकेतन, मदुरा, जामियानगर, उदयपुर, सुरेन्द्रनगर, बिराउनी (बिहार),

† *A. E. Morgan. Higher Education in Relation to Rural India.* Wardha. Hindusthani Talimi Sangh, 1950. p. 8.

‡ *University Commission's Report.* p. 575.

आगरा, सानासरा (सौराष्ट्र), राजपूरा (पंजाब), कोयम्बटूर, अमरावती तथा गार्गोटी। परिषद्-द्वारा अनुमोदित इन संस्थाओं के लिए चार पाठ्यक्रम स्वीकृत किये गये : (१) ग्राम-सेवाओं का तीन वर्ष का डिप्लोमा-कोर्स — इस डिप्लोमा को विश्वविद्यालय की सर्व प्रथम डिग्री के समान ही मान्यता प्राप्त हो चुकी है; (२) दो वर्ष का कृषि-विज्ञान का सर्टीफिकेट कोर्स; (३) तीन वर्ष का सिविल तथा ग्राम्य इंजीनियरिंग का कोर्स; तथा (४) मैट्रिक परीक्षा विद्यार्थियों के लिए एक वर्ष का पूर्व-डिप्लोमा कोर्स।

इन ग्रामीण संस्थाओं के विषय में, कतिपय विचार मन में उठते हैं : (१) क्या देहाती भारत की समस्या इन मुष्टिमेय संस्थाओं से हल हो सकती है, जब कि हमारे देश में प्रायः छः लाख गाँव हैं ? (२) क्या हमें इस प्रकार उच्च शिक्षा पर खर्च करना चाहिए जब कि ग्रामों में प्रारम्भिक शिक्षा का ठीक प्रबन्ध नहीं है ? इसके सिवा कभी कभी हमें गहरी साँस भरनी पड़ती है जब हम देखते हैं कि अधिकांश संस्थाएँ गाँवों में नहीं, बल्कि शहरों में खोली गयी हैं। यह भी ज्ञात नहीं कि ये स्थान किस आधार पर चुने गये हैं।

आशा की गयी थी कि ये संस्थाएँ ऐसे ग्रामीण नेता तैयार करेंगी, जो कि हमारे देश की देहातों के समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। पर देखा जाता है कि इन संस्थाओं के अधिकांश स्नातक गाँव छोड़कर शहर की ओर दौड़ रहे हैं, तथा वहाँ की बेकारी की समस्या को बढ़ा रहे हैं।

ये सब नयी धुनें सोच-विचार कर आरम्भ की जावें। इन नवीन संस्थाओं की ऐसी कुछ विशेष आवश्यकता न थी। इस प्रकार के कोर्स हमारे कृषि-कालिजों में आसानी से थोड़े ही खर्च में खोले जा सकते थे। हमारे देहातों का भविष्य कृषि-कालिजों पर निर्भर है, न कि इन टिमटिमाती हुई दस-पाँच ग्रामीण संस्थाओं पर। जब तक हमारे कृषि-कालिज तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम कन्धे से कन्धा लगाकर काम न करेंगे, तब तक हमारे देहातों की उन्नति नहीं हो सकेगी। इन्हीं कृषि-कालिजों को हमें ग्रामीण विश्वविद्यालयों के रूप में धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ेगा।

सरकार तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा : संविधान तथा विश्व-विद्यालय.—भारतीय संविधान के अनुसार, विश्वविद्यालयीय शिक्षा एक राज्यीय विषय है, पर उच्च शिक्षा तथा प्राविधिक शिक्षा संस्थाओं एवं गवेषणा के स्तर को ऊँचा स्थित रखने तथा उनमें एकसूत्रता स्थापित करने का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय विश्वविद्यालयों तथा कतिपय राष्ट्रीय गौरवशाली वैज्ञानिक एवं

प्राविधिक संस्थाओं का सरोकार केन्द्रीय सरकार से है। इन विषयों के लिए सम्पूर्ण देश में एकरूपता का प्रयोजन है। कारण, इनका सम्बन्ध पूरे देश से है। केवल केन्द्रीय सरकार ही यह समानता सुस्थिर रख सकती है।

केन्द्रीय तथा राज्य सरकार.—उच्च शिक्षा-विस्तार के लिए केन्द्रीय सरकार समय-समय पर राज्यीय सरकारों को आर्थिक सहायता देती है। पर यह देखा गया है कि अनेक राज्य सरकारें उच्च शिक्षा पर यथेष्ठ अर्थ खर्च नहीं कर सकती हैं, क्योंकि उनका प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा-व्यय ही इतना ऊँचा होता है कि उनके पास अनुरूप अनुदान के लिए भी पर्याप्त अर्थ नहीं रहता। अतएव वे केन्द्रीय उच्च-शिक्षा-योजनाओं का लाभ नहीं उठा सकते। इस आर्थिक समस्या पर विचार करते हुए, कई शिक्षा-विज्ञों का मत है कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा की सम्पूर्ण जिम्मेवारी भारत सरकार ले ले।

राधाकृष्णन आयोग इस विचार से सहमत नहीं हुआ। इसके दो मुख्य कारण थे। केन्द्रीय शासन का सबसे बड़ा खतरा रहता है अपरिवर्तनीय एकरूपता। केन्द्रीय सरकार सदा शिक्षा को एक ढाँचे में ढालने की चेष्टा करती है। शिक्षा की प्रगति के लिए यह रवैया अहितकर है। हमें सदा स्थानिक ज़रूरतों की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त आयोग ने यह नहीं चाहा कि उच्च शिक्षा शासन हस्तान्तरित होने के कारण भारत सरकार तथा राज्य सरकारों में अनबन हो। इन अड़चनों को ध्यान में रखते हुए आयोग ने सिफ़ारिश की कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा समवर्ती सूची में रखी जाय। आयोग ने सुझाव दिया कि केन्द्रीय सरकार के अधिकार वित्त, विशिष्ट विषयों की सुविधाओं का संयोजन, राष्ट्रीय नीति प्रचलन, प्रशासन के मान-दण्ड का निर्धारण, वैज्ञानिक सर्वेक्षण तथा विश्वविद्यालयों एवं राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के बीच सम्पर्क-स्थापन तक ही सीमित रहे।† आयोग की सिफ़ारिशों के कारण, विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग की सृष्टि हुई है, और इसीके जरिये विश्वविद्यालयों को भारतीय सरकार से ग्राण्ट की प्राप्ति होती है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार तथा विश्वविद्यालयों के बीच मनोमालिन्य होने की सम्भावना दूर हुई।

विश्वविद्यालय तथा राज्य सरकार.—केन्द्रीय सरकार के मातहत चार विश्वविद्यालय हैं अलीगढ़, बनारस, दिल्ली और विश्व-भारती। अन्य विश्वविद्यालयों का सम्पर्क राज्य सरकारों से है। पर हमारे देश के विश्वविद्यालय न ब्रिटिश विश्वविद्यालयों

† *Ibid.*, pp. 406–7.

के समान सम्पूर्ण स्वाधीन हैं, और न युरोपीय युनिवर्सिटियों की नाईं पूर्णतः राज्य-शासित हैं। इनकी स्थिति इन दोनों विपरीत दिशाओं के बीच में है। हमारे विश्व-विद्यालय सरकार पर दो विषयों के लिए निर्भर रहते हैं : (१) इनकी सृष्टि राज्यीय विधान-सभा-द्वारा होती है, अतएव इनके संविधान तथा अधिकार का निर्णय राज्य-सरकार करती है; एव (२) राज्य-सरकार इन्हें अनुदान देती है। ग्राण्ट की रक़म विधान-सभा निर्धारित करती है। इन दोनों प्रतिबन्धों के सिवा, हमारे विश्वविद्यालय पूर्णतः स्वाधीन हैं।

विश्वविद्यालय तथा स्वायत्तता.—वर्तमान समय में विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता की विशेष आलोचना हो रही है। कारण, लोगों की धारणा है कि सरकार आजकल विश्वविद्यालय-प्रशासन में निरर्थक हस्तक्षेप कर रही है। कुछ उदाहरणों की आलोचना यहाँ की जा रही है। प्रथम दृष्टांत है बम्बई विश्वविद्यालय का। कुछ वर्ष पूर्व, स्वर्गीय डॉ० जान मथाई इस विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे। उन्होंने बताया कि कई बार कुछ नियुक्तियों की बाबत उन्हें राज्यपाल तथा राज्य-मन्त्रियों के बीच भटकना पड़ा। उन्होंने भारत में प्रचलित इस प्रथा का विरोध किया कि विश्वविद्यालयों के कुलपति राज्य के राज्यपाल पदेन रहें। बहुधा जब राज्यपाल पदेन कुलपति होता है, तब वास्तविक शक्ति प्रान्तीय सरकार के हाथ में पहुँच जाती है, क्योंकि राज्यपाल राज्य का वैधानिक शीर्ष है। राज्य की सरकारें स्वभावतः सभी प्रश्नों को राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से देखती है। किन्तु इससे विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है, और यदि उनमें विचारों का स्वातंत्र्य न रहे तो वे न तो स्वस्थ्य शिक्षा ही दे सकते हैं और न मार्गप्रदर्शन ही कर सकते हैं। सचिवालय की मनोवृत्ति में सरकारी नीति को अक्षरशः पालन करने की प्रवृत्ति होती है। वह शिक्षा के मुक्त वातावरण से सर्वथा भिन्न होती है। उसके प्रखर ताप से विश्वविद्यालय का संचेत्य पौधा झुलस-सा जाता है। नियमों, नजीरों, आर्थिक विधानों के शिकंजों में वह इतना जकड़ जाता है कि उसकी सारी शक्ति उन्हींको सुलझाने में लग जाती है, और विश्वविद्यालय के वे अधिकारी जिनका कार्य मुक्त चिन्तन, मनन, अध्यव्यवसाय और विद्यार्थियों के निकट संपर्क में आकर उनको प्रेरणा देना और उनका मार्ग दर्शन है, राजनीति और नियमों की भूल-भूलैया में फँसकर अपने असली काम की ओर ध्यान

नहीं दे पाते। डा० जान मथाई ने इस संबंध में अपने बंबई के अनुभवों की चर्चा की और अन्त में उन्होंने यह निष्कर्ष-युक्त बात कही, "राज्यपालों के पदेन कुलपति होने की प्रथा बन्द कर दी जाय। कारण, उनके द्वारा विश्वविद्यालयों पर राजनैतिक प्रभाव पड़ता है।"† इस निष्कर्ष के लिए, भारतीय शिक्षा जगत् स्वर्गीय जान मथाई का आभारी है।

कुछ ही महीने बाद, मद्रास में राज्य-सरकार तथा विश्वविद्यालय के बीच झगड़ा खड़ा हुआ। झगड़ा तीन विषयों पर था: (१) तीन-वर्षीय डिग्री कोर्स का प्रारम्भ, (२) कालिजों में मातृ-भाषा-द्वारा शिक्षा और (३) सरकार-द्वारा पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन।

सरकार का कहना था कि तीन-वर्षीय डिग्री-कोर्स का तात्पर्य है इण्टरमीडिएट कोर्स का अन्त, तथा उसके फल-स्वरूप प्रथम वर्ष का माध्यमिक शिक्षा से योग एवं द्वितीय वर्ष का स्नातक कोर्स से सन्निविष्ट होना। विश्वविद्यालय अकेले यह सुधार अमल में नहीं ला सकता है। कारण, उसका माध्यमिक शिक्षा पर कोई भी अधिकार नहीं है। इसके विपरीत विश्वविद्यालय का कथन था: (१) तीन-वर्षीय डिग्री कोर्स की शुरूआत, सिनेट तथा एकेडेमिक काउन्सिल में पूर्ण विवेचना के पश्चात् हुई है; (२) कालिजों की शिक्षा का माध्यम शीघ्र बदला जाय; और, (३) सरकार-द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों के कारण, शिक्षा में अपरिवर्तनीय एकरूपता की सृष्टि होगी। — वाद-विवाद के फल-स्वरूप विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार तङ्ग आ गये। सरकारी हस्तक्षेप का प्रतिवाद करते हुए उन्होंने कहा:

> जैसी स्वायत्तता चली आ रही है, उसकी मुझे आवश्यकता नहीं है। ... ... हरगिज यह स्वायत्तता नहीं है। शिक्षा-मन्त्रालय से उपदेशों का ताँता लगा ही रहता है। एक सचिव के बाद दूसरा सचिव यह निर्देश देता ही रहता है कि यह शुरू करो और वह बन्द करो।‡

वर्तमान समय की सबसे क्लेशदायक घटना है भारतीय संघ प्रेसीडेण्ट की चौदहवीं जून, १९५८ की विशेष आज्ञा, जिसके द्वारा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय एक्ट का सुधार हुआ। इसके अनुसार, सिनेट को केवल परामर्श देने का अधिकार रह गया, तथा सदस्यों का चुनाव बन्द हो गया। तत्पश्चात् विश्वविद्यालय की कार्यवाही

---

† *Times of India*, February 28, 1957.

‡ *Ibid.*, November 20, 1957.

की जाँच के लिए एक समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति के प्रतिवेदन पर काफ़ी गरमागरम बहस भी हुई। वह सब को विदित ही है। इस विषय की चर्चा करते हुए, सरस्वती के सम्पादक लिखते हैं :

> इस प्रकार विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी गयी है। सरकार के मनोनीत लोगों से परिचालित और शिक्षा मंत्रालय के अधीन रहनेवाली संस्था से स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्रचेता और आत्माभिमानी नागरिक उत्पन्न नहीं हो सकते। ऐसी संस्था 'जी हुजूरों' और टोडियों का ही निर्माण कर सकेगी। †

ये हुए विश्वविद्यालयीय स्वायत्तता-सम्बन्धी कुछ ज्वलन्त उदाहरण। अब प्रश्न उठता है कि क्या सरकार को विश्वविद्यालयीय स्वायत्तता पर हस्तक्षेप करना उचित है? प्रायः सभी एकमत हो स्वीकार करते हैं कि विश्वविद्यालय की प्रगति के लिए स्वशासन नितान्त आवश्यक है, पर सम्पूर्ण स्वायत्तता हितकर नहीं है। श्री चिन्तामन देशमुख ने कहा ही है :

> कभी-कभी यथेष्ट स्वायत्तता के कारण विश्वविद्यालयों में कुप्रबन्ध तथा कुशासन देखा गया है। उचित नियन्त्रणाओं के अभाव के कारण, कई विश्वविद्यालयों में आन्तरिक झगड़े तथा षड्यन्त्र खड़े हुए। निश्चय ही विश्वविद्यालय शिक्षा-मन्त्रालय के अतिरिक्त शासन विभाग नहीं गिने जा सकते; पर इसके साथ ही केंद्रीय तथा राज्य-सरकारों का भी हक़ है कि वे विश्वविद्यालयों पर निगरानी रखें ताकि उनका स्तर गिरने न पावे और वे सरकारी अनुदान का यथोचित उपयोग करें।

वित्त : वर्तमान स्थिति.—सन् १९५५–५६ में, विश्वविद्यालयों एवं उनके अधीन तथा मान्यता-प्राप्त कालिजों की कुल आय ३७·८२ करोड़ रुपये थी। इसके विपरीत, यह रक़म १९५३-५४ में २८·५३ करोड़ रुपये तथा १९५४-५५ में ३१·८२ करोड़ रुपये थी। सन् १९५५-५६ की आय का स्रोतवार बँटवारा तालिका १९ में दिया गया है :

---

† **सरस्वती**, जुलाई, १९५८, पृष्ठ ५।

तालिका १९†

उच्च शिक्षा की आय का स्रोतवार बँटवारा, १९५५–५६

(करोड़ रुपये)

स्रोत	रक़म	प्रति शत
आवर्ती		
केन्द्रीय सरकार	३·११	८·२
राज्य सरकार	१०·५३	२७·८
स्थानीय मण्डल	०·०८	०·२
फीस	१३·२५	३५·०
दान	०·५६	१·५
अन्य स्रोत	२·६१	६·९
अनावर्ती		
केन्द्रीय सरकार	२·४८	६·६
राज्य सरकार	२·५२	६·७
अन्य स्रोत	२·६८	७·१
कुल योग...	३७·८२	१००·००

ऊपर के अङ्कों से स्पष्ट होगा : (१) ४७·६ प्रति शत खर्चा सरकार ने उठाया, (२) दूसरा उल्लेख योग्य स्रोत फीस है एवं (३) स्थानीय मण्डलों का अंश नहीं के बराबर है। अब यह विचार किया जाय कि उच्च शिक्षा के विस्तार के लिए विभिन्न स्रोतवार खर्च का अधिकतम उपयोग किस तरह किया जा सकता है।

† *Education in India*, 1955–56, Vol. I, p. 191.

सरकारी अनुदान.—यह पहले ही स्पष्ट किया जाय कि विश्वविद्यालय का खर्च सरकारी अनुदान, फीस, दान एवं दूसरे स्रोतों से चलता है, पर मान्यता-प्राप्त कालिजों को विश्वविद्यालयों से कुछ भी ग्राण्ट नहीं मिलता है। इन्हें राज्य-सरकार अनुदान देती है। प्रत्येक राज्य की अपनी-अपनी नीति है। कहीं तो कालिजों को कुल खर्च का ५० प्रति शत ग्राण्ट मिल जाता है, और कहीं अति अल्प। यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि यथेष्ट सरकारी ग्राण्ट के बिना गैरसरकारी कालिज अपना कार्य ठीक-ठीक नहीं चला सकते। राधाकृष्णन-आयोग ने सिफ़ारिश की है कि सरकारी अनुदान इन मदों के लिए दी जावे: (१) इमारत, (२) असबाब तथा शिक्षा-साधन, (३) पुस्तकालय, (४) छात्रावास, (५) अध्यापकों का वेतन, पेंशन तथा प्रावीडेण्ट फण्ड, (६) छात्र-वृत्ति एवं परिषद्-वृत्ति, (७) अध्ययन-अवकाश और (८) गवेषणा तथा स्नातकोत्तर कार्य, विशेषतः प्राविधिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में।†

अधिकतर राज्य-सरकारें खण्ड-अनुदान नीति का अनुसरण करती हैं। यह रक़म पिछले कई वर्षों की कुछ स्थिर मदों के व्यय का हिसाब लगाकर निर्धारित होती है। इस कारण उनके आय-व्ययक में सदा घाटा बना ही रहता है। अनुदान निर्धारण करते समय सदा स्वाभाविक तथा अन्य विचारपूर्ण खर्चों का ध्यान रहे। सरकारी अनुदान का पता वर्ष के प्रारम्भ में चल जाना चाहिए। इससे शिक्षा-संस्थाओं को अपने आय-व्ययक-निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

केन्द्रीय ग्राण्ट विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के द्वारा प्राप्त होता है। इस अनुदान का आवण्टन विगत कई वर्षों में इस प्रकार हुआ है:

तालिका २०‡

विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग-द्वारा अनुदान–आवण्टन

वर्ष	रक़म
१९५४–५५	१,७८,४६,५४६
१९५५–५६	२,६६,१५,३३०
१९५६–५७	३,४१,८९,६३५

† *University Education Commission's Report*, p. 449.

‡ *Ten Years of Freedom*, p. 13.

उपर्युक्त अनुदान इन विषयों के लिए दिये गये : (१) वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा इंजीनियरिंग गवेषणा, (२) पुस्तकें, अस्त्रास्त्र तथा शिक्षा-साधन, (३) इमारतें, (४) युनिवर्सिटी-अध्यापकों के वेतन की उन्नति, (५) हॉब्री कर्मशाला, (६) विश्व-विद्यालयीय अध्यापकों-द्वारा प्रसारण-कार्य, (७) तीन-वर्षीय डिग्री-कोर्स तथा (८) सामान्य शिक्षा का आरम्भ। अनुसन्धान तथा उत्तर-स्नातक शिक्षा पर अनुदान, राज्य सरकारों या/और विश्वविद्यालयों को इस शर्त पर दिया जाता है कि वे आवर्ती खर्च का आधा तथा अनावर्ती खर्च का एक-तिहाई स्वतः वहन करेंगे। अन्य मदों के विषय में यह समझौता है कि द्वितीय योजना-काल के पश्चात् विश्वविद्यालय तथा/या राज्य-सरकार सम्पूर्ण खर्च स्वतः चलावेंगे।

दान, चन्दा इत्यादि.—हमारी उच्च शिक्षा का अति सामान्य खर्च दान, चन्दा आदि से निकलता है। इसके विपरीत अमेरिका तथा युरोप में जनता विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए काफी धन इकट्ठा करती है। हमारे देश में इस ओर लोगों का ध्यान विशेष आकर्षित नहीं हुआ है। अमेरिकी विश्वविद्यालयों तथा अनेक शिक्षा-संस्थाओं में एक स्वतन्त्र अधिकारी रहता है, जिसका कार्य ही चन्दा एकत्र करना होता है। हमें सदा यह न सोचना चाहिए कि पैसा केवल दान-वीरों से ही मिलता है। छोटे-मोटे चन्दों को जोड़कर भी बृहत् रक़म बन सकती है। सन् १९५१ में अमेरिकी उच्च शिक्षा संस्थाओं को करीब डेढ़ करोड़ डालर पुराने विद्यार्थियों तथा मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के चन्दे से मिले थे।

स्वसञ्चालित कालिज.—हमारे सामने एक बड़ा प्रश्न है स्वसञ्चालित कालिजों का। तालिका १८ से स्पष्ट होगा कि हमारे देश के दो-तिहाई कालिज स्वसञ्चालित हैं। इनकी कार्यदक्षता के लिए आवश्यक है उपयुक्त प्रबन्ध समिति। राधाकृष्णन आयोग ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक निजी कालिज की प्रबन्ध-समिति में १२ से १५ तक सदस्य हों, जिनमें इस प्रकार के सभासद सम्मिलित हों :

१. दान देनेवाले निकायों के प्रतिनिधि,
२. प्रिन्सिपाल एवं अध्यापक-वर्ग के प्रतिनिधि,
३. कालिज के पुराने छात्र-संघ के प्रतिनिधि,
४. विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि,

५. राज्य-सरकार के प्रतिनिधि (यदि कालेज को सरकारी अनुदान मिलता हो), एवं

६. कुछ नामजद शिक्षा-शास्त्री (अधि-निर्वाचित सदस्य)।†

अध्यापकों तथा सञ्चालक-गण के बीच प्रायः सदा झगड़ा चलता रहता है। इसे निबटाने के लिए प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक गैरसरकारी न्याय-सभा की आवश्यकता है, पर इसके फैसले को मान्यता दी जानी चाहिए। इसके बिना सम्पूर्ण कार्यवाही हास्यास्पद हो जाती है। उदाहरण-स्वरूप दिल्ली विश्वविद्यालय तथा उसी संस्था के भूतपूर्व रसायनशास्त्र के अध्यापक श्री० एस० दत्त के मुक़दमे का बयान नीचे दिया जाता है:

> सन् १९४९–५१ के बीच, विश्वविद्यालय के साथ मेरी काफी अनबन हुई। मामला विश्वविद्यालय-न्याय-सभा को सौंपा गया। सत्रहवीं जून, सन् १९५३ को सभा ने अपनी राय मेरे पक्ष में दी, पर विश्वविद्यालय ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके फलस्वरूप सरकारी अदालत में मुकद्दमा दायर करने के सिवा मेरे पास कोई चारा न रहा।
>
> मुकद्दमा छः वर्षों तक सर्वोच्च न्यायालय में चला। तथा न्यायालय ने राय दी कि यद्यपि विश्वविद्यालय-न्याय-सभा को झगड़ा निबटाने का पूर्ण अधिकार है, तो भी न्यायालय उस फैसले को पंच-निर्णय-स्वरूप प्रयुक्त करने में असमर्थ है।

यदि सर्वोच्च न्यायालय का यह अनुभव है तब तो दूसरों का कहना ही क्या है! कानून में इस प्रकार छिद्र रहने के कारण, निस्सहाय अध्यापकों की यह दुर्दशा होती है। पिछले वर्ष लोक-सभा में शिक्षा-मन्त्री डाक्टर श्रीमाली ने ऐसी न्याय-सभाओं की उपयोगिता की चर्चा की थी। इस विषय में तर्क-वितर्क की कोई भी आवश्यकता नहीं है। केवल इन्हें सशक्त बनाने की आवश्यकता है, जिससे इनकी रायों का आदर हो।

स्वाधीन भारत तथा विश्वविद्यालय

भूमिका

इस प्रकार हमारे देश में उच्च शिक्षा की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। किसी भी विश्वविद्यालय का मूल उद्देश्य है विद्यार्थियों का शिक्षण। इससे जुड़ा हुआ है अनुसन्धान, क्योंकि विश्वविद्यालय का लक्ष्य सदा उच्चतम शिक्षा देना है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे देश में, सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों की सृष्टि

† *University Education Commission's Report*, p. 419.

हुई। इस प्रकार हमारे विश्वविद्यालयों पर एक नवीन उत्तरदायित्व आ पड़ा — सम्बद्धीकरण का।

स्वाधीनता-अर्जन करने के पश्चात् हमारे विश्वविद्यालयों की जिम्मेवारी और भी बढ़ गयी है। विद्यार्थियों को शिक्षा दान तथा अनुसन्धान के साथ-साथ, इनकी जिम्मेवारी खतम नहीं हो जाती है। इन्हें समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण देश की उन्नति करना है। इस प्रकार एक आधुनिक विश्वविद्यालय के कार्य-कलाप की सीमा उसकी वृहत् अट्टालिका की दीवारों तक ही सीमित नहीं रह जाती। इसे समाज के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों की आवश्यकता की ओर ध्यान रखना पड़ता है, यथा: उच्च शिक्षित और अशिक्षित, पुरुष और स्त्री, धनी और मजदूर, किसान एवं कारीगर। उपयुक्त प्रसारण कार्यक्रम-द्वारा ही इनकी ज्ञान-वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार स्वाधीन भारत में विश्वविद्यालय के चार मुख्य कर्तव्य हैं: (१) शिक्षण, (२) अनुसन्धान, (३) संबद्धीकरण और (४) प्रसारण।

शिक्षण

प्राय: सभी कालिजों तथा विश्वविद्यालयों का मुख्य उद्देश्य है अपने-अपने विद्यार्थियों का शिक्षण। शिक्षण के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं। कुछ मूल प्रश्नों की चर्चा इस प्रकरण में की जा रही है।

विश्वविद्यालयों में प्रवेश.—कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों में भीड़ बढ़ती ही जा रही है। सन् १९४७ में इनकी छात्र-संख्या अढ़ाई लाख थी। आज (१९५७) यह आठ लाख है। द्वितीय योजना के अन्त तक इस संख्या के दस लाख तक पहुँचने की सम्भावना है। प्राय: प्रत्येक उच्च शिक्षा-संस्था की छात्र-संख्या गत दस वर्षों में दुगुनी हो गयी है। पर इस छात्र-वृद्धि के अनुपात में न उनमें स्थान-विस्तार ही हुआ और न उनके असबाब या शिक्षा-साधन ही बढ़ाये गये। इतना होते हुए भी विद्यार्थियों को तो कालिजों में भरती होना मुश्किल है। कई एक को तो 'एडमीशन बन्द' की तख्ती ही टाँग देनी पड़ती है। इस सूचना-पट को देखकर विद्यार्थियों को वैसा ही मनस्ताप होता है, जैसा कि एक दर्शनाभिलाषी व्यक्ति को सिनेमा-गृह या नाटक-घर में 'हाऊस फुल' का पाटिया देखकर, या, नौकरी के उम्मेदवार को किसी कार्यालय में 'नौकरी खाली नहीं' की सूचना सुनकर मार्मिक पीड़ा होती है।

इतना होते हुए भी सभी शिकायत करते हैं कि हमारी शिक्षा का स्तर दिन-प्रति दिन गिरता ही जा रहा है। अगले पन्ने के तालिका में विभिन्न युनिवर्सिटी परीक्षाओं का परिणाम दिया जाता है:

तालिका २१

विभिन्न युनिवार्सिटी परीक्षाओं का परिणाम, १९५५-५६†

परीक्षा	बैठनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या	पास-संख्या	प्रति शत
इण्टर आर्ट्स ...	२,०७,११८	९०,१८२	४३·५
इण्टर साइन्स ...	९३,४०५	४१,५५७	४४·५
बी० ए० पास तथा आनर्स.	७९,९२०	३७,९९२	४७·५
बी० एस० सी० ,, ...	३२,६६७	१५,९९७	४९·०
एम० ए० ...	१३,२१५	९,३१३	७०·२
एम० एस० सी० ...	३,१४२	२,४५६	७८·२
व्यावसायिक विषय ...	४८,४५०	३५,७७२	७३·८

इस व्यर्थता की व्याख्या करते हुए राधकृष्णन आयोग ने ग़ौर किया :

> इस प्रकार प्रति वर्ष राष्ट्रीय अर्थ-नाश हो रहा है, पर न इस ओर किसीका ध्यान आकर्षित होता है और न विद्यार्थी तथा उनके माता-पिता के समय, श्रम तथा पैसे की बरबादी की ओर लक्ष्य जाता है। उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है, तथा उनकी भविष्य की कल्पनाएँ चूर-चूर हो जाती हैं।‡

बार-बार कहा जाता है कि अनेक अयोग्य विद्यार्थी कालिजों में भरती कर लिये जाते हैं, एवं इसीके फल-स्वरूप वे विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में लुढ़क जाते हैं। सुझाव दिया जाता है कि विश्वविद्यालयों में केवल योग्य विद्यार्थी ही भरती किये जावें। इस विषय की आलोचना करते हुए, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अध्यक्ष

† *Education in India*, 1955–56, Vol. I. p. 197.

‡ *University Education Commission's Report*, p. 16.

उत्तीर्ण ग्रेजुएट संख्या
(हज़ार)
१९५१-५२ से १९५५-५६
३९
३६
३३
३०
२७
२४
२१
१८
१५
१२
९
६
३
0
कला
विज्ञान
वाणिज्य
शिक्षक-प्रशिक्षण
प्राविधिक तथा इंजीनियरिंग
कानून
डाक्टरी
अन्य
१९५१-५२
१९५३-५४
१९५५-५६
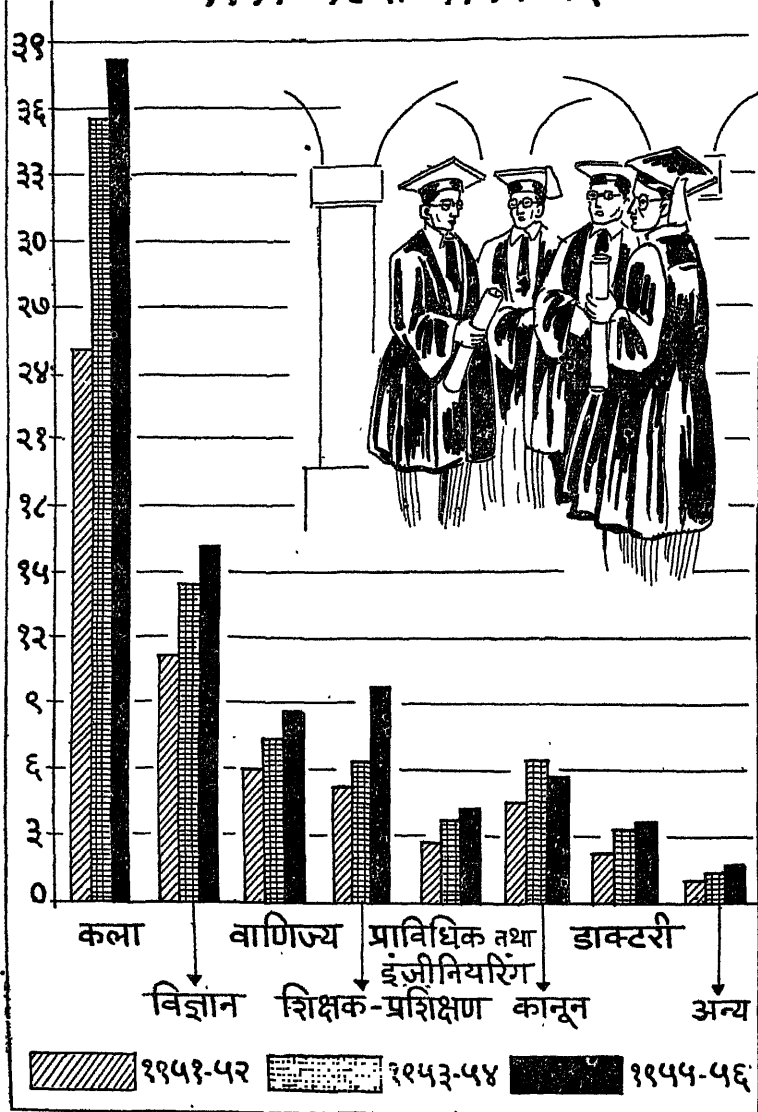
चित्र १२

श्री चिन्तामन देशमुख ने पूरे देश के सामने प्रस्तुत किया, "अब वह समय आ गया है जब कि हमें निर्णय करना है कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा केवल चुनिन्दे विद्यार्थियों के लिए है; या, उन सबके लिए, जो माध्यमिक शिक्षा समाप्त कर इसका लाभ उठाना चाहें।" देश की आर्थिक उन्नति की आज विशेष आवश्यकता है। इस कारण हमें चाहिए कि देश की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए विश्वविद्यालयीय शिक्षा केवल उपयुक्त व्यक्तियों को दी जावे। 'केसशिम' ने भी अपने छब्बीसवें वार्षिक अधिवेशन के समय इस प्रश्न पर विचार किया। मण्डल ने कहा, "विद्यार्थियों की योग्यता की ओर ध्यान रखते हुए कालिजों में एडमीशन (प्रवेश) नियन्त्रित किया जाय।" †

पर इसके साथ-साथ यह प्रश्न उठता है कि क्या यह विश्वविद्यालय-प्रवेश नियन्त्रण-नीति देश के लिए हितकर होगी, जब कि हम देखते हैं कि अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश की उच्च शिक्षा पिछड़ी हुई है? आज भारत की जन-संख्या तीस करोड़ से अधिक है, पर हमारे विश्वविद्यालयों से केवल ४५ हज़ार स्नातक प्रति वर्ष निकलते हैं। इसके विपरीत अनेक छोटे-छोटे देशों में इससे दुगुने ग्रेजुएट सालाना उत्तीर्ण होते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि देश की उन्नति के लिए उच्च शिक्षा-विस्तार की यथेष्ट आवश्यकता है। पर जब हम देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति पर विचार करते हैं तब हमें मानना ही पड़ता है कि अभी उच्च शिक्षा में गुणात्मक उन्नति की ज़रूरत है, न कि संख्यात्मक विस्तार की।

पाठ्यक्रम : उपयुक्त पाठ्यक्रम की आवश्यकता.—बहुधा हमारे विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम में आर्ट्स, विज्ञान तथा वाणिज्य के इने-गिने विषयों को अपनी इच्छा के विरुद्ध लेना पड़ता है। इसका फल अत्यन्त विषाक्त होता है। अथवा, वे विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं में लुढ़क जाते है या, उन्हें मनचाहा विभाग नहीं मिल पाता है। इस तरह ये विद्यार्थी निकम्मे गिने जाते हैं। कोई तनिक सोचना भी नहीं कि ये विद्यार्थी निकम्मे नहीं पैदा हुए थे, वरन उपयुक्त पाठ्यक्रम के अभाव में ये निकम्मे कर दिये गये हैं।

इस दोष को दूर करने का एक मात्र उपाय पाठ्यक्रम में सुधार ही है। माध्यमिक पाठ्यक्रम की नाईं विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम में विविधता की आवश्यकता है। आर्ट्स

---

† Ministry of Education. *Indian University Administration.* Delhi, Manager of Publications, 1958. p. 16,

‡ *Times of India*, January 19, 1959.

(कला), वाणिज्य के अतिरिक्त प्रत्येक विश्वविद्यालय को गृह-विज्ञान तथा ललित-कला की शिक्षा का बन्दोबस्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन प्रत्येक शाखाओं में विविध विषयों के समावेश की आवश्यकता है। इस प्रकार के सुधार से अनेक उपकारों की सम्भावना है। प्रथमतः, प्रत्येक कालिज की अपनी-अपनी विशिष्टता रहेगी। वे कई विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध कर सकेंगे। द्वितीयतः, विविध विषयों के समावेश के कारण, प्रत्येक विद्यार्थी अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल विषय चुन सकेगा। वह निकम्मा नहीं ठहराया जायगा। तृतीयतः, कालिज की कक्षाओं की छात्र-संख्या घटेगी क्योंकि कई विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध होगा। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक विषय में तथा व्यावसायिक कालिजों में चुनिन्दे विद्यार्थी विद्याध्ययन करेंगे।

तीन-वर्षीय डिग्री कोर्स.—तीन-वर्षीय डिग्री कोर्स की आवश्यकता की चर्चा पहले की जा चुकी है। बड़ौदा, कर्नाटक, केरल, मद्रास, ओस्मानिया तथा सागर विश्वविद्यालयों ने इस पाठ्यक्रम का आरम्भ १९५७-५८ या उसके पहले ही किया था। अलीगढ़, आन्ध्र, अन्नामलय, मैसूर, नागपुर, आनन्द तथा व्यंकटेश्वर विश्वविद्यालय इस योजना को १९५८-५९ में एवं पूना, राजस्थान, उत्कल, विक्रम तथा महिला विश्वविद्यालय इसे १९५९-६० में शुरू करनेवाले थे। बचे हुए विश्वविद्यालय इस योजना के विषय में सोच-विचार कर रहे हैं। द्वितीय योजनाकाल में इस पाठ्यक्रम को प्रारम्भ करने के लिए पन्द्रह करोड़ रुपयों का प्रबन्ध किया गया है। यह अर्थ १८० इण्टरमीडिएट कालिजों को डिग्री कालिजों में बढ़ाने के लिए तथा ३६० डिग्री कालिजों के पुनर्गठन के हेतु खर्च किया जायगा।†

सामान्य शिक्षा.—देखा गया है कि कालिजों में चार वर्षों तक अध्ययन करने के पश्चात् भी हजारों स्नातकों की शिक्षा का सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता है। उन्हें संसार के अनेक विषयों का ज्ञान नहीं रहता है, जिनकी आवश्यकता एक शिष्ट मनुष्य के लिए है। जैसा कि श्री सैयदैन ने कहा है:

> विश्वविद्यालयीय शिक्षा-द्वारा हम संकीर्ण, कल्पना-हीन विशेषज्ञ प्रस्तुत करते हैं। हमारे विज्ञान के स्नातकों को कला तथा कविता, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। इसी प्रकार कला के

† Evaluation Committee. *Report of the Three-Year Degree Course.* Delhi, Ministry of Education, 1958, p. 12.

विद्यार्थी ठीक तरह समझ नहीं पाते कि विज्ञान तथा वैज्ञानिक पद्धति ने किस प्रकार उस विश्व को बदल दिया है, जिस पर वे वास करते हैं।†

शिक्षा की इस कमी को अनुभव करते हुए, राधाकृष्णन आयोग ने सुझाव उपस्थित किया था कि इण्टरमीडिएट तथा विश्वविद्यालय के विशेषीकृत शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिए कला तथा व्यावसायिक पाठ्यक्रम में सामान्य शिक्षा की व्यवस्था की जावे। इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक नर एवं नारी को वह ज्ञान देना है जो उनको उनके विशेषीकृत अध्ययन के कारण नहीं मिल पाता है। इस प्रकार सामान्य शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य विशेषीकृत शिक्षा के दोषों को दूर करना है, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गपूर्ण विकास हो सके। साथही उसे उसके विशिष्ट क्षेत्र में पूरा प्रशिक्षण मिले, और वह एक उपयुक्त नागरिक बन सके।

गत पच्चीस वर्षों से शिक्षा की इस समस्या पर खूब बहस हो रही है। अमेरिका तथा युरोपीय अनेक देशों में सामान्य शिक्षा का सम्परीक्षण चल रहा है। साधारणतः इस शिक्षा का आयोजन निम्नलिखित किसी भी तीन तरीके से होता है :

१. **पाठ्यक्रम का कुछ मुख्य भागों में विभाजन.**—विद्यार्थी को प्रत्येक भाग से कुछ-न-कुछ कोर्स लेना पड़ता है;

२. उन **सर्वेक्षण कोर्सों का आयोजन,** जिन्हें विद्यार्थी अपने विशेषीकृत अध्ययन के कारण नहीं ले पाते; एवं

३. **एक अनिवार्य पाठ्यक्रम.**—जिसमें प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान तथा भाषा-शास्त्र का समावेश रहता है।

उपर्युक्त तीन पद्धतियों पर, विश्वविद्यालयीय एक समिति ने विचार किया (१९५५)। समिति ने निर्णय किया कि हमारे देश के लिए तीसरी पद्धति अनुकूल होगी। अन्त में सन् १९५६ में एक अध्ययन-मण्डली इंग्लैण्ड तथा अमेरिका भेजी गयी। इस मण्डली ने अपना प्रतिवेदन जनवरी, १९५७ में सरकार को दिया। मण्डली ने सामान्य शिक्षा की दो योजनाएँ तैयार की हैं। इसकी मुख्य योजना में प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान आदि से सम्बन्धित मूल विषयों के अध्ययन की सामान्य शिक्षा सभी स्नातक-पूर्व गैर-व्यावसायिक संकायों के लिए अनिवार्य रखी जानी है। वैकल्पिक योजना में डिग्री पाठ्यक्रम के प्रथम तथा द्वितीय वर्ष में सामान्य शिक्षा

---

†K. G. Saiyidain. *Education, Culture and Social Order*. Bombay, Asia Publishing House, 1952, p. 163.

के लिए सप्ताह में छः पीरियड के अध्यापन की व्यवस्था की जाती है। भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों ने सामन्य शिक्षा के पाठ्यक्रम को लागू करना स्वीकार किया है और अधिकांश ने इस सम्बन्ध में कार्य आरम्भ भी कर दिया है।

निर्देश तथा परामर्श.—विविध विषयों तथा सामान्य शिक्षा के समावेश के साथ साथ आवश्यक है छात्रों को निर्देश तथा परामर्श। इनके अभाव में प्रत्येक विद्यार्थी के अनुकूल उपयुक्त विषयों का चुनाव असम्भव होगा। इस कारण प्रत्येक कालिज तथा विश्वविद्यालय में एक निर्देश तथा परामर्श कार्यालय की आवश्यकता है। इस कार्यालय का मुख्य उद्देश्य हो, प्रत्येक विद्यार्थी की क्षमता एवं रुचि की जाँच करना तथा उसकी पिछली शिक्षा एवं भविष्य की ओर ध्यान रखते हुए संस्था के प्रचलित पाठ्यक्रम से उसके उपयुक्त विषय स्थिर करना, ताकि उनके अध्ययन से उसे अधिकतम सफलता प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विद्यार्थी के उन्नति-विषयक रेकार्ड की भी आवश्यकता है। कार्यालय इन रेकार्डों की छानबीन करे तथा विद्यार्थियों को उनकी आवश्यकता के अनुसार परामर्श दे।

शिक्षण का मान-दण्ड.—बहुतों का कहना है कि हमारे विश्वविद्यालयों का शैक्षणिक मान-दण्ड विशेष ऊँचा नहीं है, तथा अध्यापन का स्तर धीरे-धीरे नीचे को गिरता ही जा रहा है। यह आक्षेप बहुत कुछ सत्य है। शिक्षा की इस असन्तोषजनक स्थिति के मुख्य कारण ये हैं:—अध्यापकों की नियुक्ति, उपयुक्त शिक्षण-पद्धति का अभाव, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों के बीच निकट सम्पर्क का अभाव।

एक विश्वविद्यालय अध्यापकों का केन्द्र-स्थल है। वे ही उसे बढ़ा सकते हैं या गड्ढे में ढकेल सकते है। इस कारण उच्च शिक्षा की उन्नति के लिए उपयुक्त अध्यापकों की आवश्यकता है। पर गत दस वर्षों से कालिजों की संख्या इतनी बढ़ रही है कि योग्य शिक्षकों का मिलना कठिन हो गया है। किसी-किसी कालिज में तो कोई भी एम० ए० पकड़कर अध्यापक बना दिया जाता है। अनेक होनहार नवयुवक कालेज या विश्वविद्यालय में आचार्य होकर अवश्य प्रविष्ट हो जाते हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य रहता है अधिकतर वेतनवाले पदों के लिए प्रस्तुत होना। आजकल अनेक अध्यापक आई० ए० एस० परीक्षाओं में बैठते हैं। यदि वे यहाँ सफलीभूत न हुए तो वे शिक्षा-कार्य छोड़कर अन्य पदों पर चले जाते हैं। कोई कोई तो न्यूनतम वेतनवाले पदों को स्वीकार करते हैं; कारण, यहाँ अतिरिक्त अर्थोपार्जन की संभावना रहती है।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि कालिज एवं विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को सन्तोषजनक वेतन मिलना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रावीडेण्ट फण्ड, छुट्टी

तथा काम-काज के घण्टों का यथोचित प्रबन्ध हो। इसके सिवा, अध्यापकों के भरती करने की प्रथा में विशेष सुधार की ज़रूरत है। अनेक अध्यापक नये रँगरूट होते हैं, तथा उन्हें अध्यापन-कार्य का कुछ भी अनुभव नहीं रहता है। ऐसे व्यक्ति किस प्रकार कालिज-क्लास सफलता-पूर्वक चला सकते हैं? अतएव यह प्रस्ताव किया जाता है कि प्रत्येक कालिज तथा विश्वविद्यालय में कुछ शोध शिष्य-वृत्ति के पद हों, जिनमें कुछ होनहार उत्तर-ग्रेजुएट विद्यार्थी कम-से-कम दो वर्ष के लिए नियुक्त हों। इनमें से कुछ चुने हुए विद्यार्थी भविष्य में अध्यापक नियुक्त किये जावें।

इसके साथ-साथ नये अध्यापकों को शिक्षण-पद्धति का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य रहना चाहिए। इस ज्ञान से पढ़ाना सरल हो जाता है, तथा शिक्षा-विधि रोचक बन जाती है। सम्प्रति विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों के एक सम्मेलन में इस विषय की विशद रूपेण आलोचना हुई थी, तथा सम्मेलन ने कालिजों के अध्यापकों के लिए एक संक्षिप्त पूर्व-अध्यापन प्रशिक्षण कोर्स आवश्यक समझा गया।† इस कोर्स में उच्च शिक्षा अध्यापन की आवश्कयताओं का ध्यान रहना चाहिए।

यह भी देखा गया है कि कालिज-अध्यापकों को एक से अधिक विषय तथा बीस से पच्चीस पीरियड प्रति सप्ताह लेना पड़ता है। इस अतिरिक्त बोझ के दबाव के कारण, वे हाँफने लगते हैं। उनमें नवीन ज्ञान-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रहती है और वे अपने व्याख्यान के लिए जो मसाला एकबार इकठा कर लेते हैं, उसे ही वर्षों चलाते हैं या किसी बाजारू नोट से कुछ अंश पढ़कर विद्यार्थियों को सुना देते हैं। जब तक अध्यापकों का अध्यापन-भार कम न किया जायगा, तब तक यह परिस्थिति सुधर नहीं सकती है। न किसी आचार्य को एकाधिक विषय ही पढ़ाना पड़े, और न उसे सप्ताह में सोलह से अधिक पीरियड ही लेना पड़े। इसके अतिरिक्त प्रत्येक संस्था को अध्यापकों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जैसा कि श्री एस० एन० बोस ने कहा है:

> प्रत्येक विश्वविद्यालय में अनेक तरुण अध्यापकों को असुविधाओं का सामना करना पड़ता है — न उन्हें बैठने के लिए उपयुक्त स्थान ही मिलता है, न अनुसन्धान के लिए साधन तथा उपयोगी पुस्तकें, और न अन्य-सहकारियों के साथ विचार-विमर्श करने की सुविधा।‡

---

† देखिए **नवाँ अध्याय।**

‡ Ministry of Education. *Indian University Administration. op. cit*, p. 97.

शिक्षा-स्तर के पतन का एक और प्रधान कारण है विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के बीच निकट संयोग का अभाव। दस वर्ष पूर्व, किसी भी कालिज-वर्ग की छात्र-संख्या ५०–६० से अधिक नहीं रहती थी। इस कारण विद्यार्थीगण तथा शिक्षकवर्ग परस्पर अपरिचित नहीं रहते थे, तथा शिक्षकगण विद्यार्थियों की व्यक्तिगत आवश्यकता की ओर ध्यान रख सकते थे। पर आज तो अनेक कालिजों की छात्र-संख्या दो-तीन हजार से अधिक है तथा प्रत्येक कक्षा में १५०–२०० विद्यार्थी बैठते हैं। इस अत्यधिक छात्र-संख्या का विषमय परिणाम पड़े बिना नहीं रहता। हाल ही में विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने सुझाव दिया है कि किसी कालिज तथा कालिज-वर्ग की छात्र-संख्या क्रमशः १,५०० तथा ८० से अधिक न हो। इसके अतिरिक्त आयोग ने उपकक्षा-प्रणाली पर विशेष जोर दिया है।

पाठ्य-अवधि की दृढ़ता.—उच्च शिक्षा में व्यर्थता का एक प्रधान कारण है पाठ्य-अवधि की दृढ़ता। हमारे देश की प्रत्येक डिग्री या डिप्लोमा लेने की अवधि निर्धारित रही है, जैसेः बी० ए० या एम० ए० कोर्स दो-दो वर्ष, डाक्टरी कोर्स पाँच वर्ष, इंजीनियरिंग कोर्स चार वर्ष, इत्यादि। यह अवधि विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार घटायी या बढ़ायी नहीं जा सकती है। इसके दो प्रमुख दोष हैं। प्रथमतः, इस पद्धति के अनुसार एक कमजोर विद्यार्थी को भी अपनी शिक्षा निर्धारित समय में समाप्त करनी पड़ती है। उसे सभी परचों में एक साथ बैठना पड़ता है, एवं वह दो-तीन बार बाह्य परीक्षाओं में लुढ़कता है और सम्भवतः वह कभी पास भी नहीं होता है। यदि उसे यही पाठ्यक्रम कुछ अधिक समय में समाप्त करने को दिया जाय, तो उसके असफलीभूत होने की संभावना कम रहती है। द्वितीयतः, वर्तमान शिक्षा-पद्धति विद्यार्थियों को पढ़ाई के साथ कमाई का अवसर कम देती है। यदि पाठ्यक्रम कुछ निर्धारित समय के बदले अमेरिकी पद्धति के अनुसार पाइण्टों में बाँट दिया जाय, तो विद्यार्थियों की यह कठिनाई दूर होगी।† कारण, काम करते हुए भी, वे अपने अवकाश के समय में कालिज में विद्याध्ययन कर सकेंगे। उन्हें एक पूरा काम करनेवाले विद्यार्थी की अपेक्षा समय अवश्य अधिक लगेगा, पर अन्त में उन्हें पूर्ण शिक्षा का लाभ तो मिलेगा। हमारी उच्च शिक्षा में इस सुधार की बहुत ही ज़रूरत है।

---

† श्रीधरनाथ मुकर्जीः **अमेरिका में शिक्षण**—यूनाइटेड स्टेट्स इनफार्मेशन सर्विस, १९५४, पृष्ठ २३।

अंग्रेजी का स्थान.—आजकल उच्च शिक्षा के माध्यम एवं पाठ्यक्रम में अंग्रेजी को स्थान देने या न देने के सम्बन्ध में घोर वाद-विवाद चल रहा है। यह सत्य है कि हमारे विद्यार्थी यह भाषा खूबी के साथ सीखते हैं तथा अनेक विद्यार्थियों ने इस भाषा में पर्याप्त दक्षता दिखलायी है, पर अंग्रेजी घोंटते-घोंटते अनेक विद्यार्थियों का दम निकल जाता है। इतने पर भी उनका सम्पूर्ण वैयक्तिक विकास नहीं हो पाता है। हमें सदा याद रखना चाहिए कि किसी राष्ट्र की प्रगति निजी भाषाओं द्वारा ही होती है, न कि एक विदेशी भाषा के द्वारा।

राधाकृष्णन आयोग ने सिफ़ारिश की थी कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। इस प्रस्ताव पर घोर वाद-विवाद हुआ। उच्च शिक्षा का माध्यम कोई अंग्रेजी रखना चाहते हैं, कोई हिन्दी अर्थात् राष्ट्र-भाषा, एवं कोई क्षेत्रीय भाषा। अपने मत की पुष्टि के लिए प्रत्येक पक्ष कुछ-न-कुछ न्यायसंगत युक्ति प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण यह विवाद बढ़ता ही जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होना चाहिए। जिस प्रकार एक नवजात शिशु के लिए मातृ-दुग्ध हितकर होता है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र तथा व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए मातृभाषा-द्वारा शिक्षा आवश्यक है। पर इस शिक्षा-माध्यम का एक बड़ा खतरा यह है कि हमारे विश्वविद्यालय संकीर्ण क्षेत्रीय संस्थाएँ न बन जावें। क्षेत्रीय भावनाएँ हमारे देश के लिए हितकारी नहीं हैं। भारत का उत्तरोत्तर विकास तभी सम्भव है जब कि समूचे देश में एकता कायम रहे। इसी कारण, दूसरा दल राष्ट्र-भाषा के माध्यम का समर्थक है।

तीसरा दल अंग्रेजी के पक्ष में है। उनका कथन है कि चूँकि यह भाषा विदेशी है, इस कारण हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। उनका कहना है कि अंग्रेजी ने इस देश में एकता की सृष्टि की है, हमें इसी भाषा के द्वारा विश्व का सन्देश प्राप्त होता है तथा उसीके द्वारा हम समस्त संसार पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। अतएव हमारे द्वारा अंग्रेजी भाषा की उपेक्षा किया जाना एक अपराध है।

इस समस्या को सुलझाने के निमित्त विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने अक्टूबर, १९५५ में एक समिति नियुक्त की। इसके अध्यक्ष थे श्री हृदयनाथ कुंजरू। समिति की जाँच के विषय ये थे : (१) विश्वविद्यालयीय शिक्षा के माध्यम पर विचार करना, तथा (२) अंग्रेजी भाषा के स्तर को ऊँचा रखने के लिए उपाय सुझाना। प्रथम प्रश्न पर पूर्णतः विचार करने के पश्चात्, समिति ने प्रस्ताव किया है कि पूर्ण

तैयारी के पश्चात् विश्वविद्यालयीय शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी से किसी भी भारतीय भाषा में बदला जावे। इस परिवर्तन के बाद भी, विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी एक अनिवार्य विषय रहे। इनके अतिरिक्त समिति ने प्रस्ताव किया :

१. जो विद्यार्थी विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा पाना चाहते हों, उनकी शिक्षा में अंग्रेजी के प्रति विशेष ज़ोर दिया जाय;

२. चूँकि प्रायः सभी विश्वविद्यालयों ने तीन-वर्षीय डिग्री कोर्स अपनाया है, इस कारण पूर्व-विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम में अंग्रेजी शिक्षा पर अधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया है; और

३. नवीन अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का अध्ययन आवश्यक है, और यह ज्ञान शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को दिया जावे।

इस रिपोर्ट पर राज्य सभा में बहस हुई (२६ फ़रवरी, १९५९)। सरकार ने अनुमोदन किया कि उच्च शिक्षा क्षेत्रीय भाषाओं के द्वारा दी जावे। पर उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों के अभाव तथा अन्य कठिनाइयों के कारण यह निर्णय हुआ कि यह कार्य कुछ समय तक स्थगित रखा जाय। इस अवधि में अंग्रेजी ही उच्च शिक्षा का माध्यम रहे, अतएव इस भाषा का स्तर गिरने न पावे।

वैज्ञानिक तथा प्राविधिक पारिभाषिक शब्द.—जहाँ तक हो सके, प्रत्येक भारतीय भाषा के वैज्ञानिक तथा प्राविधिक पारिभाषिक शब्द अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृत शब्द हों। उच्चतर शिक्षा के लिए यह ज्ञान प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक है। हमारी भाषाओं में पारिभाषिक शब्द-कोष निर्माण करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। राधाकृष्णन आयोग ने इस विषय पर कहा ही है, "अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों का उपयोग भारतीय भाषाओं में किया जाय, पर उनके हिज्जे तथा उच्चारण प्रत्येक भाषा के स्वरूप के अनुसार अपनाये जावें।"† यह मानना ही पड़ेगा कि पारिभाषिक शब्द खींचातानी कर अनुवादित होते हैं। अनेक अनुवादित शब्दों का ठीक अर्थ ही नहीं निकलता। इसके अतिरिक्त, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ज्ञान का सम्बन्ध किसी प्रदेश या देश से नहीं है, वरन् सम्पूर्ण विश्व से है। इस कारण, अन्तर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान प्रत्येक विद्यार्थी के लिए हितकर तथा आवश्यक है।

---

† *University Education Commission's Report.* p. 326.

परीक्षा.—भारतीय शिक्षा का एक बड़ा दोष 'उसकी परीक्षा-पद्धति' है। इसके विरुद्ध गत पचास वर्षों से आवाज उठायी जा रही है। सन् १९०२ के विश्वविद्यालय आयोग ने गौर किया कि "विश्वविद्यालयीय शिक्षा का ध्येय है विद्यार्थियों को परीक्षा के लिये तैयार करना। इस कारण, परीक्षा की विशेष छाप अध्यापन तथा अध्ययन पर पड़ती है।" और, सन् १९४९ में राधाकृष्णन-आयोग ने परीक्षा का विश्लेषण करते हुए कहा, "यदि विश्वविद्यालयीय शिक्षा पर हमें केवल एक ही सुझाव देना हो तो हम कहेंगे कि वह परीक्षा-सुधार है।"† पर परीक्षाओं के उन्मूलन का समर्थन न कर कमीशन ने उनमें सुधार वांछनीय बतलाया है। आयोग ने निम्न-लिखित सुझाव उपस्थित किये:

१ शिक्षा-मन्त्रालय शिक्षण-योगता-जाँच-विषयक विविध परीक्षणों का सर्वेक्षण करे।

२ प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक स्थायी, पूर्ण-कालिक परीक्षा-मण्डल संगठित हो। यह मण्डल अध्यापकों को वस्तुगत प्रश्न के निर्माण तथा प्रयोग के संबंध में परामर्श दे।

३. वर्ष में किये गये कक्षा-कार्य को भी परीक्षा की सफलता-असफलता में सम्मिलित किया जावे। प्रत्येक परीक्षा में जो अङ्क निर्दिष्ट रहें, उन अङ्कों का एक-तृतीयांश इस कार्य के लिए सुरक्षित रखा जावे।

४. कालिज की तीन वर्ष की पढ़ाई में, एक अन्तिम परीक्षा के बदले विभिन्न कालिक परीक्षाएँ ली जावें।

५. परीक्षकों का चुनाव काफी सावधानी से किया जाय। कोई भी ऐसा व्यक्ति उस विषय में परीक्षक न बना दिया जाय, जिसे उसने कम से कम पाँच वर्ष तक न पढ़ाया हो।‡

उपर्युक्त सुझाव अति हितकारी हैं। बाह्य-परीक्षा-फल निर्णय करते समय आन्तरिक परीक्षाओं, कक्षा तथा उपकक्षा रेकार्ड पर विचार करना अत्यावश्यक है। परीक्षाओं में निबंध-रूप प्रश्नों के अतिरिक्त, वस्तुगत प्रश्नों का समावेश किया जाय। परीक्षा-सुधार पर सम्प्रति अनेक गोष्ठियाँ हुई हैं। सभी ने परीक्षा-सुधार का प्रयोजन एक मत होकर स्वीकार किया है। प्रश्न केवल यही है कि यह सुधार किस प्रकार किया जाय?

† *Ibid.*, p. 328. ‡ *Ibid.*, pp. 337-42.

विद्यार्थियों की आर्थिक समस्या.—उच्च शिक्षा दिनों-दिन अधिकतर खर्चीली होती जा रही है। इस कारण अनेक निर्धन, किन्तु योग्य विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा नहीं मिल पाती है। सम्प्रति कालिजों में ५ से १५ प्रति शत विद्यार्थियों को मुफ्त शिक्षा अवश्य मिलती है, तथा सरकार ने अनेक छात्र-वृत्तियों का प्रबन्ध भी किया है। सन् १९५६–५७ में छात्रवृत्ति पर कुल सरकारी व्यय प्रायः तीन करोड़ रुपये था।

पर यह व्यय यथेष्ट नहीं है। इंग्लैण्ड में ७२·८ प्रति शत विश्वविद्यालयीय विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति या मुफ्त शिक्षा मिलती है। अनेक पाश्चात्य देशों में सरकारी कालिजों तथा विश्वविद्यालयों में स्थानिक विद्यार्थियों की फीस बहुत ही कम रहती है। पर अर्थाभाव के कारण यह योजना हमारे देश में अभी स्वप्नातीत है। अमेरिका में उच्च शिक्षा के विस्तार का एक प्रधान कारण यह है कि उस देश के अधिकांश विद्यार्थी कमाई भी किया करते हैं और पढ़ते भी हैं। साथ ही कालिज का 'नियुक्त-कार्यालय' विद्यार्थियों को नौकरी दिलाने में उनकी पूर्ण सहायता करता है। हमारे देश में भी ऐसी ही शिक्षा-व्यवस्था की विशेष आवश्यकता है।

अनुसन्धान

राधाकृष्णन-आयोग ने कहा है कि 'अनुसन्धान के बिना अध्ययन मृत हो जायगा'— यह अतीव सत्य है। पर हमारे विश्वविद्यालयों ने अनुसन्धान की ओर हाल ही में ध्यान दिया है। यह अनुसन्धान पर्याप्त रूप में नहीं हो रहा है। इसके अनेक कारण हैं :

१. अर्थाभाव।

२. अध्यापकों पर अधिक दायित्व-भार, जिससे उनका अधिकांश समय क्लास-लेकचरों में व्यतीत हो जाता है। इसीसे अनुसन्धन-कार्य के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिल पाता है।

३. उपयुक्त पुस्तकालय, अजायबघर तथा प्रयोग-शालाओं का अभाव।

४. शोध शिष्य-वृत्ति की अपर्याप्तता।

५. पी० एच० डी० के प्रशिक्षण में अनुसंधान-रीतियों की अनुपस्थिति।

६. विश्वविद्यालयों का अन्य निकायों के साथ सहकारिता का अभाव, जैसे : सरकार, कृषि, वाणिज्य, उद्योग, इत्यादि।

अनुमोदन करे। समिति के निर्णय के अनुसार, कालिज को अपने कार्य-कलाप में कुछ हेर-फेर करने की स्वाधीनता मिले। इस प्रकार संबद्धीय विश्वविद्यालयों के प्रशासन में कुछ लचीलेपन की आवश्यकता है। इन्हें सदा लकीर के फकीर रहकर काम न करना चाहिए।

प्रसारण

भूमिका.—हमारे कालिज तथा विश्वविद्यालय सामान्य जनता के सम्पर्क में बहुत ही कम आते हैं। यह नीति ठीक नहीं है। चूँकि जनता के अर्थ से ये संस्थाएँ स्थापित होती हैं, अतएव इन्हें जनता की आवश्यकता की ओर ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में कालिज तथा विश्वविद्यालय दो प्रकार के काम कर सकते हैं: (१) प्रौढ़ शिक्षा तथा (२) समाज-सेवा।

प्रौढ़ शिक्षा.—प्रौढ़ शिक्षा के प्रोग्राम तीन प्रकार के हैं: (१) सातत्य शिक्षा — यह कार्यक्रम उन व्यक्तियों के लिए है, जो कालिज के साधारण विद्यार्थियों के साथ कुछ विषय पढ़ना चाहते हों। नवीन विद्या पाने की आकांक्षा के कारण, अनेक प्रौढ़ इस कार्यक्रम में भाग लेना चाहते हैं। (२) पुनर्संजीवन कोर्स — अनेक व्यक्तियों की छात्र-जीवन में अर्जित विद्या में जंग लग जाता है, पर वे आधुनिकतम विद्या का लाभ लेना चाहते हैं। ऐसे वयस्क व्यक्तियों के लिए संक्षिप्त कोर्स लाभदायक होते हैं। (३) नेतृत्व कार्यक्रम — इस प्रोग्राम का मुख्य उद्देश्य है, हमारे गाँवों तथा शहरों के अगुओं को संसार के विविध क्षेत्रों की प्रगति से परिचय कराना।

समाज-सेवा.—वर्तमान समय में हमारे विश्वविद्यालय जनता में ज्ञान-प्रसारण के लिए कुछ वक्तृताओं का आयोजन करते हैं। यह पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक मनोरञ्जन तथा वक्तृता कार्य-पीठ की आवश्यकता है। ऐसी संस्थाएँ प्रायः प्रत्येक अमरीकी सरकारी विश्वविद्यालय में रहती हैं। नीचे अमेरिका के वायोमिंग विश्वविद्यालय कार्य-पीठ के कार्यकलाप का वर्णन दिया जाता है:

> कार्य-पीठ अपने राज्य के विभिन्न सामाजिक समूहों से सम्बन्ध रखती है। उनकी आवश्यकताओं तथा उनकी माँगों को पूरा करने के लिए, वह अपने कालिजों तथा विभिन्न शिक्षा-विभागों से उपयुक्त वक्ता भेजती रहती है। साथ ही मनोरञ्जक कार्यक्रम, नाट्याभिनय, प्रदर्शनी आदि का आयोजन भी करती है।†

समाज-सेवा की ओर हमारे कुछ विश्वविद्यालयों का ध्यान अभी-अभी गया है। उदाहरण-स्वरूप डाक्टरी की डिग्री मिलने के पहले अनेक विद्यार्थियों को कुछ समय तक

---

† University of Wyoming, *Bulletin*, 1953–54. Vol. XLX, No. I, p. 405.

गाँवों में काम करना पड़ता है। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने एक ऐसी योजना तैयार की है, जिसके अनुसार प्रत्येक स्नातक के लिए राष्ट्र-सेवा अनिवार्य होगी। शिक्षा-मन्त्रालय इस योजना को तृतीय पंच-वर्षीय योजना के आरम्भ होते ही चलाना सोच रही है। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने पाठ्यक्रम के अनुकूल छः महीने से दो वर्ष उन क्षेत्रों की उन्नति में भाग लेना पड़ेगा, जो पिछड़े हुए हैं। आशा की जाती है कि प्रथम वर्ष अर्थात् १९६१-६२ में ९०,००० विद्यार्थी इस कार्य में जुट जावेंगे। इसीके आधार पर अन्दाज लगाया जाता है कि योजना का वार्षिक खर्च पाँच करोड़ रुपया पड़ेगा।†

उपसंहार

ये हमारे विश्वविद्यालयों की प्रमुख समस्याएँ हुईं। इसके लिए हम किसी को दोष नहीं दे सकते हैं। हमारे वर्तमान विश्वविद्यालयों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य राजकीय कामकाज के लिए कर्मचारी जुटाना था। इनका ध्येय अध्यापन या अनुसन्धान एकदम नहीं था। ये तो छोटे-मोटे दफ्तर थे, जिनका उद्देश्य था परीक्षा चलाना और प्रमाण-पत्र वितरण करना। ये विश्वविद्यालय न हमारे देश के तक्षशिला या नालन्द से मिलते-जुलते थे और न आक्सफोर्ड या पेरिस से। फिर हम उन्हें उनके कार्यकलाप के लिए कैसे दोषी ठहरा सकते हैं?

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने हमारे विश्वविद्यालयों को नवीन जीवन प्रदान किया है, और उनके सामने नया उद्देश्य रखा है। यथार्थ में हमारी विश्वविद्यालयीय शिक्षा केवल चालीस वर्ष पुरानी है। इस अरसे में हमारे विश्वविद्यालयों ने जो कुछ किया है, वह सराहनीय है। इन्होंने सम्पूर्ण देश में एकता की सृष्टि की, और यहाँ से निकले हुए स्नातकों ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध मोर्चा लिया। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारे विश्वविद्यालय कभी सत्य से न डिगें, तथा सदा उच्च आदर्श सामने रखें। जैसा कि राधाकृष्णन-आयोग ने कहा है:

> उच्च शिक्षा के प्रमुख कार्य ज्ञान के संचरण, नवीन ज्ञान के अन्वेषण, जीवन के प्रयोजन की निरन्तर खोज, तथा देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त व्यावसायिक शिक्षा के आयोजन हैं। आदर्श बहुधा स्वप्न होते हैं, किन्तु इनकी ओर निरन्तर प्रयत्न करना प्रत्येक नागरिक तथा राजनीतिज्ञ का कर्तव्य है।‡

---

† *Times of India*, July 25, 1959.

‡ *University Education Commission's Report*, p. 66.

सातवाँ अध्याय

स्त्री-शिक्षा

प्रस्तावना

वर्तमान युग की सबसे उल्लेखयोग्य घटना है, नारी-प्रगति। यदि एक शताब्दी पूर्व का कोई मृत व्यक्ति पुनर्जीवित होकर भारत में लौट आवे, तो वह हमारे देश के महिला-जीवन में आमूल परिवर्तन देखकर निश्चय ही दङ्ग रह जायगा। यहाँ पर एक शताब्दी पूर्व अनेक व्यक्ति स्त्री-शिक्षा के घोर विरोधी थे, पर आज सभी स्वीकार करते हैं कि इस शिक्षा के विस्तार के बिना देश की उन्नति नहीं हो सकती है। स्त्री-शिक्षा को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा : पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, कन्या-शिक्षा के प्रति माता-पिताओं की उदासीनता, पाश्चात्य शिक्षा पर अविश्वास, मध्यम वर्ग की आर्थिक समस्या, लड़कियों के उपयुक्त पाठ्यक्रम का अभाव, शिक्षिकाओं की अपर्याप्तता, इत्यादि। धीरे-धीरे ये कठिनाइयाँ हल होती जा रही हैं। आज देश में कन्या-शिक्षा की चाह बढ़ रही है। राष्ट्रीय संगठन में स्त्रियों का विशेष स्थान है।

स्त्री-शिक्षा का विस्तार

भूमिका.—सब कुछ होते हुए भी, आज केवल १२ प्रति शत भारतीय स्त्रियाँ शिक्षिता गिनी जाती हैं। गत सौ वर्ष में स्त्री-शिक्षा बहुत ही धीरे-धीरे फैली। सरकार तथा जनता की उदासीनता के कारण, इसका विस्तार आशानुरूप न हुआ। इसका पता निम्न-लिखित विवरण से मिलेगा।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में.—स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता के प्रति, कम्पनी का ध्यान कभी नहीं गया। शायद उसे नारी क्लार्क एवं अफ़सरों की आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा के विषय में लोगों में एक भ्रम-भूलक धारणा थी, जो कि परम्परा से चली आ रही थी। स्त्री शिक्षा के विषय में, एडम्स साहब अपनी रिपोर्ट (१८३८) में लिखते हैं, "देश के सभी विद्यालय पुरुषों

के लिए हैं। स्त्रियों की शिक्षा के लिए कुछ भी नहीं है। वे तो अन्धकार में डूबी हुई हैं।"†

इस प्रकार कम्पनी के राजत्व-काल में लड़कियों के लिए एक भी सरकारी स्कूल न था। इनी-गिनी कुछ बालिकाएँ लड़कों के स्कूलों में शिक्षा पाती थीं। इस काल में कतिपय निजी तथा मिशनरी बालिका-विद्यालय अवश्य खोले गये थे। उदाहरण-स्वरूप सन् १८५१ में, प्रोटेस्टेण्ट मिशनरी संघ ८६ सावास स्कूल तथा २८५ साधारण स्कूल चला रहे थे। इनकी छात्र-संख्या क्रमशः २,२७४ और ८,९१९ थी। रोमन कैथलिक संघों ने भी कुछ स्कूल खोले थे, पर इनकी संख्या का कुछ ठीक पता नहीं है। कई उदार सज्जनों तथा सरकारी अफ़सरों ने भी कुछ कन्या-शालाएँ खोलीं। इनमें मुख्य है बेथून स्कूल, जिसकी स्थापना ड्रिंकवाटर बेथून साहब ने सन् १८४९ में की थी। ये भारत-सरकार के कानून-विषयक तत्कालीन सदस्य थे। अपने जीवन की सारी कमाई इन्होंने इस स्कूल में लगा दी थी। इस संस्था ने लोगों में कन्या-शिक्षा के प्रति एक नवीन प्रेरणा दी, और उसीके आदर्श पर बालिका-विद्यालय खुलने लगे।

सन् १८५७ से सन् १९०२ तक.—सन् १८८२ के शिक्षा-आयोग ने कहा: "स्त्री-शिक्षा बहुत ही पिछड़ी हुई है। इसे विस्तार करने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न आवश्यक हैं।" कमीशन ने प्रस्ताव किया कि सरकार स्त्री-शिक्षा पर अधिकतर अर्थ व्यय करे। इस कारण सरकार ने स्वतः कई बालिका-विद्यालय खोले, तथा निजी स्कूलों को अनुदान देना स्वीकार किया। अतएव स्त्री-शिक्षा की यथेष्ट प्रगति हुई। सन् १९०१–१९०२ में बालिका-संस्थाओं की संख्या इस प्रकार थी: १२ कालिज, ४६७ माध्यमिक स्कूल तथा ५,६२८ प्राथमिक स्कूल। इनमें ४,४७,४७० लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं।

सन् १९१२ से सन् १९१७ तक.—शनैः शनैः स्त्री-शिक्षा के प्रति लोगों की उदासीनता दूर होने लगी, तथा जनता स्त्री-शिक्षा में रुचि लेने लगी। इसके कई कारण थे। अनेक माता-पिता अनुभव करने लगे कि उनकी लड़कियों की शिक्षा उतनी ही आवश्यक है, जितनी उनके लड़कों की; एवं लोगों में शिक्षिता स्त्री की चाह बढ़ी। शिक्षा-विभाग भी स्त्री-शिक्षा-विस्तार के लिए प्रयत्न करने लगा: स्वतन्त्र तथा सरकारी बालिका-विद्यालयों की स्थापना, विद्यालयों में बालिकाओं के आवागमन के लिए यान का प्रबन्ध, इन्स्पेक्ट्रसों तथा शिक्षिकाओं की नियुक्ति, लड़कियों के लिए वृत्ति तथा कम

† A. N. Basu, ed., *Adam's Reports*, Calcutta University, 1941, p. 452.

फीस की व्यवस्था, कन्याशालाओं के लिए उदार सरकारी अनुदान-नीति, प्रान्तीय महिला-शिक्षा-समितियों की नियुक्ति, इत्यादि।

उपर्युक्त चेष्टाओं के कारण, स्त्री-शिक्षा फैलने लगी। सन् १९०४ में, श्रीमती एनी बीसेण्ट ने बनारस में 'सेण्ट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय' की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य था बालिकाओं में हिन्दू-धर्म के आधार पर पाश्चात्य विद्या का प्रसार। सन् १९१६ में लेडी हार्डिंग्ज मेडिकल कालेज, दिल्ली स्थापित हुआ। इस देश में चिकित्सा-शास्त्र का यही सर्व प्रथम नारी महाविद्यालय है। इसी वर्ष महिला विश्वविद्यालय भी स्थापित हो गया। सन् १९१७ में बालिकाओं के लिए १२ आर्ट्स कालिज, चार व्यावसायिक कालिज, ६८९ माध्यमिक स्कूल तथा १८,१२२ प्राथमिक स्कूल थे। इन समस्त शालाओं में इसी वर्ष १२,३०,४१९ लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं।

सन् १९१७ से १९४७.—इस अवधि में स्त्री-शिक्षा का सन्तोषप्रद विस्तार हुआ, लोगों के अनेक ग़लत ख्याल दूर हुए तथा स्त्री-शिक्षा की चाह बढ़ी। इसका पता निम्न-लिखित तालिका से मिलेगा :

तालिका २२

स्कूल तथा कालिजों में लड़कियों की संख्या, १९२१–२२ से १९४६–४७†

संस्था	१९२१–२२	१९३१-३२	१९४१–४२	१९४६–४७
प्राथमिक स्कूल ...	१०,५७,१३१	१९,४४,०७०	३१,२३,६४३	२७,१५,२३०
माध्यमिक स्कूल ...	१,२४,९५४	१,९६,१७०	४,१०,१३३	४,४२,५०३
आर्ट्स तथा साइंस कालिज	१,२०७	२,६८५	११,७७८	१६,२८४
व्यावसायिक कालिज ...	२६६	५२१	१,७२५	२,४६८
व्यावसायिक स्कूल ...	१९,५७०	१७,५६८	४०,८६९	३८,३७५

[†नोट : सन् १९२१-२२ से १९४१-४२ तक के अंक तथा १९४६-४७ के अंक ब्रिटिश भारत उत्तर-विभाजित भारत से सम्बन्धित है।]

यह अवधि भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी : इसमें दो विश्व युद्ध हुए, सामाजिक क्रान्ति आयी, आर्थिक स्थिति में घोर परिवर्तन हुआ, समूचे देश में राष्ट्रीय जागृति हुई तथा अन्त में १५ अगस्त, १९४७ के दिन हमारा देश स्वाधीन हुआ। इसी समय अमेरिका तथा अनेक युरोपीय देशों में नारी-स्वाधीनता का आन्दोलन पूरे दम पर चला। इसकी आँच भारत में भी पहुँची। हमारे देश की ललनाएँ भी संगठित होने लगीं। सन् १९१७ में डा० एनी बीसेण्ट तथा श्रीमती मार्गेट कसिन्स के प्रयत्नों के कारण अखिल भारत-महिला-संघ का सूत्रपात हुआ। इसके आठ वर्ष पश्चात्, स्त्री-जातीय-परिषद स्थापित हुई। वर्तमान काल में, भारत में इस परिषद की चौदह राज्यीय शाखाएँ हैं, तथा परिषद विश्व-स्त्री-परिषद से सम्बन्धित है। सन् १९२७ में सर्व प्रथम अखिल भारत-स्त्री-परिषद से सम्मेलन का आदि अधिवेशन हुआ। तबसे यह सम्मेलन वार्षिक हुआ करता है। इसका मुख्य उद्देश्य ही नारी-प्रगति है। इसके साथ ही सामाजिक दोषों का उन्मूलन तथा स्त्री-शिक्षा का विस्तार इस सम्मेलन के लक्ष्य हैं।

इसी समय गान्धीजी का नेतृत्व अस्तित्व में आया। उन्होंने भारतीय नारी जीवन में एक नवीन प्राण का सञ्चार किया। स्वातन्त्र्य-युद्ध के लिए उन्होंने भारतीय ललनाओं को आह्वान किया। राष्ट्रीय भावनाओं से उनका हृदय परिपूर्ण हुआ। वे परदे से निकल कर स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ीं, और पुरुषों की नाईं उन्होंने सभी यातनाओं को सहन किया। उन पर लाठियाँ चलायी गयीं, उन्हें कैद भुगतना पड़ा, उन्होंने अपने स्वामियों तथा सन्तानों का रक्तपात देखा, पर वे न डिगीं। इस प्रकार नवीन जागृति हुई। समाज-सुधार तथा स्त्री-शिक्षा-विस्तार की आकांक्षाएँ बढ़ीं। क्या पुरुष, क्या स्त्री सभी यह अनुभव करने लगे कि बालिका-शिक्षा के द्वारा ही माता तथा कुटुम्ब की शिक्षा हो सकती है। शिक्षिता बालिकाएँ ही सुगृहिणी बन सकती हैं, तथा समाज का अधिकांश सुधार भी उन्हीं पर निर्भर है।

वर्तमान स्थिति

भूमिका.—स्वातन्त्र्योत्तर-काल में स्त्री शिक्षा का काफी विस्तार हुआ। सन् १९४७-४८ में सम्पूर्ण देश में कुल १६,९५१ बालिका-विद्यालय थे, तथा इनकी छात्र-संख्या ३५,५०,५०३ थी।† सन् १९५६-५७ में विद्यालयों की संख्या २६,४२५ पहुँची, तथा इनकी छात्र-संख्या ९९,९७३३९ हुई।‡ छात्र-संख्या की सबसे अधिक

† *Seven Years of Freedom*, p. 25

‡ *Education in the States*, 1956-57, pp. 3-4.

सँस्थाएँ
हज़ार
लाख
करोड़
स्त्री-शिक्षा
१९५५-५६
छात्र-सँख्या
खर्च
शिक्षक
हज़ार
कालिज
उच्च तथा उच्चतर माध्यमिक स्कूल
मिडिल स्कूल
प्रारम्भिक स्कूल
व्यावसायिक स्कूल
विशेष शिक्षावाले स्कूल

चित्र १२
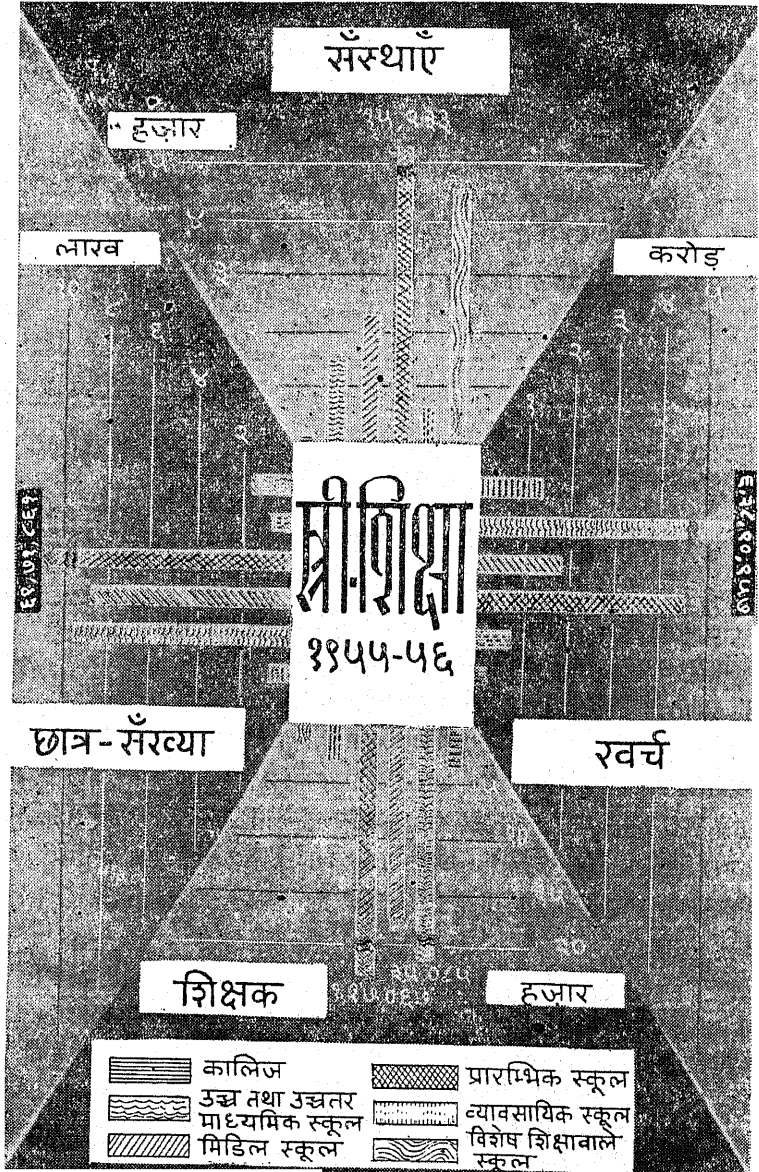
वृद्धि कालिज-स्तर में व्यावसायिक और विशेष शिक्षा के क्षेत्र में हुई। इसके बाद विश्व-विद्यालय और कालिज की सामान्य शिक्षा का स्तर आता है। इसके सिवा, माध्यमिक शिक्षा के छात्रों की संख्या दुगुनी तथा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में यह डेढ़ गुनी हुई।†

प्रशासन.—कहा जाता है कि उपयुक्त प्रशासन के अभाव के कारण, स्त्री-शिक्षा का प्रबन्ध ठीक नहीं हो रहा है। किसी भी राज्य में अब डिपुटी डाइरेक्ट्रेस आफ एजुकेशन अर्थात् शिक्षा-उप संचालिका का पद नहीं है, एवं सम्पूर्ण देश में निरीक्षिकाओं की संख्या ६९ है।‡ अतएव स्त्री-शिक्षा का प्रशासन अधिकतर पुरुषों के हाथ में है। इन्हें बालिकाओं की विशेष ज़रुरतों की ओर ध्यान देना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए मई, १९५८ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय नारी शिक्षा-समिति नियुक्त की थी। समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत है। इसमें यह सुझाव दिया गया है कि केन्द्रीय तथा प्रत्येक राज्य-सरकार में एक प्रशासन-मण्डल की आवश्यकता है जो कि स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न मामलों की देख-भाल करे। समिति के सुझाव के कारण, केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के मातहत राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा-परिषद की स्थापना सन् १९५९ में हुई। परिषद में एक अध्यक्ष, चौदह राज्य सरकारों के प्रतिनिधि, दो संसद सदस्य तथा योजना-आयोग, सामुदायिक विकास तथा सहकार मन्त्रालय, स्वास्थ्य मन्त्रालय, श्रम मन्त्रालय, तथा केन्द्र-शासित प्रदेशों का एक-एक प्रतिनिधि और शिक्षा-मन्त्रालय के दो प्रतिनिधि होंगे। गैर-सरकारी व्यक्तियों का कार्य-काल दो वर्ष रहेगा।*

परिषद की पहली बैठक १६ अक्टूबर, १९५९ में भरी। इसमें यह स्थिर हुआ कि स्त्री-शिक्षा के कार्यक्रमों की देखरेख के लिए केन्द्रीय सरकार में एक संयुक्त शिक्षा सलाहकार नियुक्त किया जाना चाहिए तथा शिक्षा मंत्रालय में स्त्री-शिक्षा का एक अलग युनिट बना देना चाहिए। प्रत्येक राज्य में सलाहकार परिषदों के अतिरिक्त एक संयुक्त निर्देशक भी नियुक्त किया जाय, जो स्त्रियों तथा लड़कियों की शिक्षा के काम की देखरेख करे।§

---

† शिक्षा-मन्त्रालय: **भारत में शिक्षा—लेख चित्रों में**। दिल्ली, मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन्स, १९५७, पृष्ठ २०।

‡ *Education in India*, 1955-56, Vol. I. p. 123.

* **भारतीय समाचार,** १ अगस्त १९५९, पृष्ठ ४०७।

§ **तदैव,** १६ नवम्बर, १९५९, पृष्ठ ६५९।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त, प्रत्येक राज्य में एक शिक्षा उप-संचालिका तथा प्रत्येक ज़िले में एक निरीक्षिका की आवश्यकता है। स्थानीय मण्डलों को चाहिए कि प्राथमिक शिक्षा की देखरेख के लिए कुछ पर्यवेक्षिकाएँ नियुक्त करें। सार अर्थ यह है कि स्त्री-शिक्षा की प्रगति के लिए उपयुक्त सलाह, प्रबन्ध तथा निरीक्षण की आवश्यकता है।

प्राथमिक शिक्षा.—भारतीय स्त्रियों को सार्वजनीन शिक्षा के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अभी एक लम्बा मार्ग तय करना है। आज लगभग एक-तिहाई लड़कियों को प्राथमिक शिक्षा मिल रही है। सन् १९५०-५१ में ६-११ वयोवर्ग के पढ़नेवाले बालक तथा बालिकाओं की संख्या क्रमशः ५९ तथा २५ प्रति शत थी। १९५५-५६ में यह संख्या ६९ लड़कों के लिए तथा ३३ लड़कियों के लिए हो गयी। द्वितीय आयोजन के अंत तक संभवतः ८६ प्रति शत बालक तथा ४० प्रति शत बालिकाएं शिक्षा पाने लगेंगी। प्रथम पंचव-र्षीय आयोजना के दौरान में ११-१४ वयोवर्ग के छात्रों तथा छात्राओं की संख्या २२ तथा ५ प्रति शत से बढ़कर क्रमशः ३० और ८ हुई, एवं दूसरी आयोजना में ३६ और १० प्रति शत लड़कों तथा लड़कियों को शिक्षा की सुविधाएँ देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

सारांश यह है कि लड़कियों की शिक्षा लड़कों की अपेक्षा बहुत ही पिछड़ी हुई है। इसके सिवाय लड़कियाँ स्कूलों में ज्यादा दिन नहीं ठहरतीं। स्कूलों की पहली कक्षा में भरती किये हुए प्रति १०० बच्चों में से प्रायः ४३ चौथी कक्षा में पढ़ना छोड़ देते हैं, पर १०० में से केवल ३० लड़कियाँ चौथी कक्षा में पहुँचती हैं। इस प्रकार लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में, प्राथमिक अवस्था में व्यर्थता अधिकतर है। लड़कियों में अनिवार्य शिक्षा भी अधिक नहीं फैली। सन १९५५-५६ में अनिवार्य शिक्षा की स्थिति इस प्रकार थी : २८४ शहर (केवल लड़कों के लिए) तथा ७९९ शहर (बालक-बालिकाओं के लिए), एवं ८,९५९ गाँव (केवल लड़कों के लिए) तथा ३०,३१७ (बालक-बालिकाओं के लिए)।†

माध्यमिक शिक्षा.—लड़कियों की माध्यमिक शिक्षा में आशातीत प्रगति हुई है। अनेक बालिका-विद्यालय खुले, छात्राओं की संख्या में वृद्धि हुई, बालकों के स्कूलों में पढ़नेवाली बालिकाओं की तादाद बढ़ी तथा शालान्त परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाली बालिकाओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। तालिका तेईस से इस प्रगति का स्पष्टीकरण होता है :

† *Education in India*, 1955-56, Vol. II, p. 90

तालिका २३

बालिका माध्यमिक शिक्षा में प्रगति

वर्ष	स्कूल	छात्रा-संख्या	बालक विद्यालयों में पढ़नेवाली बालिकाओं का कुल प्रति शत	शालान्त परीक्षा में उत्तीर्ण बालिकाओं की संख्या
१९५१–५२	२,८६३	९,०८,७७५	२९·६	३६,२९५
१९५२–५३	३,००७	९,८७,६४५	२९·७	४५,५०८
१९५३–५४	३,२६८	१०,९२,६२१	३०·७	५८,८८८
१९५४–५५	३,४०२	११,९७,७००	३२·७	६५,४८१
१९५५–५६	३,९२०	१३,४०,०७१	४०·२	७२,३२८

संख्या-वृद्धि के साथ ही, स्त्री-शिक्षा में गुणात्मक उन्नति भी हुई है। लड़कियाँ अब स्कूलों में पहले की अपेक्षा अधिक ठहरने लगी हैं। शालान्त परीक्षा में उत्तीर्ण बालिकाओं की संख्या प्रायः दुगुनी हो गयी है। तथापि अभी भी स्थिति संतोषदायक नहीं कही जा सकती है। आज देश में १४–१७ वयोवर्ग की लड़कियों की संख्या १२० लाख है। इस संख्या के ३ प्रति शत को शिक्षा मिल रही है। वर्तमान पाठ्यक्रम भी दूषित है। इसमें लड़कियों की आवश्यकता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। लड़कियाँ भी प्रायः उन्हीं विषयों का अध्ययन करती हैं, जिन्हें बालक पढ़ते हैं।

उच्च शिक्षा.—उच्च शिक्षा की माँग भी स्त्रियों में बढ़ रही है। सन् १९५६-५७ में लड़कियों के लिए ११५ कला तथा विज्ञान के कालिज, ३४ विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा देनेवाले कालिज तथा १६ विशेष शिक्षावाले कालिज थे। इस वर्ष ८५,८१७ बालिकाएँ उच्च शिक्षा पा रही थीं। विभिन्न विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं में उत्तीर्ण छात्राओं की संख्या तालिका चौबीस में देखिए :

तालिका २४

विभिन्न विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं में उत्तीर्ण छात्रा-संख्या

परीक्षा	१९४९–५०	१९५५–५६
इण्टरमीडिएट	८,२५२	१९,९२१
बी. ए. तथा बी. एससी.	४,६९४	८,९४८
एम. ए. तथा एम. एससी	६४०	२,१६६
व्यावसायिक विषय (केवल डिग्री)	१,१६८	३,८२१

इस प्रकार गत पाँच वर्षों में उत्तीर्ण छात्राओं की संख्या दुगुनी से अधिक हो गयी है। इतना होते हुए भी, सम्पूर्ण देश में १७–२३ वयोवर्ग की स्त्रियों में से केवल एक प्रति शत ही को शिक्षा मिल रही है। पाठ्यक्रम भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि लड़कों और लड़कियों का पाठ्यक्रम एक-सा ही है। हाँ, कहीं-कहीं संगीत तथा नृत्य को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिया गया है। सम्प्रति कुछ गृह-विज्ञान महाविद्यालय खोले गये हैं, जैसे : लेडी इरविन कालिज, दिल्ली; होम साईन्स फेकल्टी, बड़ौदा; मोहनलाल हरगोविन्ददास महिला गृह-विज्ञान कालिज, जबलपुर, इत्यादि। इनके सिवा कुछ संस्थाएँ केवल महिलाओं के लिए ही हैं, जैसे : एस० एन० डी० टी० महिला महाविद्यालय, बम्बई; प्रयाग महिला विद्यापीठ, अलाहाबाद; आर्यकन्या महाविद्यालय, बड़ौदा, इत्यादि।

व्यावसायिक और विशेष शिक्षा.—इस क्षेत्र के कालिज स्तर में विशेष उन्नति हुई है। सन् १९५६-५७ में १२,७७३ लड़कियाँ यह शिक्षा पा रही थीं। इनमें से सर्वाधिक छात्रा-संख्या ४,६६१ और शिक्षिका प्रशिक्षण महाविद्यालयों की थी। इसके पश्चात् डाक्टरी कालिजों की छात्रा-संख्या ४,५७७ और ललित कला महाविद्यालयों की छात्रा-संख्या २,११० थी। स्कूल-स्तर में छात्राओं की संख्या निरन्तर बढ़ती ही रही। आज लगभग तीस हजार महिलाएँ शिक्षिका-प्रशिक्षण स्कूलों में प्रशिक्षित हो रही हैं। स्वाधीन भारत में, स्त्रियोचित एक नवीन शिक्षण-संस्था अर्थात् 'ग्राम-सेविका-

प्रशिक्षण केन्द्र' का आविर्भाव हुआ है। आज भारत में ऐसे ४३ केन्द्र हैं। इनमें मैट्रिक पास छात्राएँ प्रविष्ट होती हैं। पाठ्यक्रम डेढ़ वर्ष का होता है। प्रथम वर्ष में कृषि तथा गृह-विज्ञान सिखलाया जाता है, और अन्तिम वर्षार्द्ध में प्रसारण पद्धति का साधारण ज्ञान दिया जाता है। प्रशिक्षण समाप्त होने पर प्रशिक्षित ग्राम-सेविकाएँ सामुदायिक विकास खण्डों में सेवार्थ नियुक्त होती हैं।

प्रौढ़ शिक्षा—सन् १९४७–५७ में स्त्री-प्रौढ़-शिक्षा की सबसे अधिक उल्लेख्य उन्नति हुई है। सन १९५७ में एकत्र १,४५,१३९ महिलाएँ ४,७१६ शिक्षा-केन्द्रों में शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। एक सरकारी रिपोर्ट का कथन इस प्रकार है :

> देखा गया है कि क्या शहर और क्या गाँव—सर्वत्र—विवाहिता स्त्रियों में समाज शिक्षा पाने की उत्कट आकांक्षा है। जहाँ कहीं उन्हें ऐसी शिक्षा का अवसर प्राप्त हुआ, उसका लाभ उन्होंने पूरा लिया। †

सह-शिक्षा—बालिका-विद्यालयों की संख्या अपर्याप्त होने के कारण, हमारे देश में सह-शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है। सन् १९५५–५६ में विभिन्न शिक्षा-स्तरों में सह-शिक्षा पानेवाली छात्राओं की संख्या का कुल छात्राओं की संख्या का इस प्रकार प्रति शत था : प्राथमिक—७९.२, माध्यमिक—४०.२, कला तथा विज्ञान कालिज—५३.१, एवं व्यावसायिक तथा विशेष शिक्षावाले कालिज—६४.३। प्राथमिक तथा कालिज स्तरों में, सह-शिक्षा का विशेष विरोध नहीं है। कारण प्राथमिक शालाओं में बालिकाएँ निरी बच्चियाँ रहती हैं, तथा कालिजों में पहुँची हुई लड़कियाँ अपने आपको बहुत कुछ नियन्त्रित रखना सीख जाती हैं। पर माध्यमिक स्तर में सह-शिक्षा वाञ्छनीय नहीं है। किशोर अवस्था के कारण बहुधा बालक-बालिकाएँ इस स्तर में अनेक नैतिक त्रुटियाँ कर बैठती हैं। पर जब तक लड़कियों के लिए स्वतन्त्र स्कूल एवं कालिज पर्याप्त नहीं हो जाते है, तब तक सह-शिक्षा का विरोध नहीं करना चाहिए।

आलोचना

एक नवीन दृष्टि-कोण.—यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि भारतीय नारी-प्रगति राष्ट्रीय जागृति के फल-स्वरूप हुई है। देशोद्धार का बीड़ा लेकर भारत के अनेक सुपुत्र तथा सुपुत्रियाँ एक रङ्ग में रँग गयीं। उन्होंने इस देश की रमणियों के समक्ष एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया, तथा पंकिल समाज को कर्दममुक्त किया। यद्यपि यह प्रयत्न राजनैतिक आन्दोलन से संबद्ध था, तथापि वह शीतल एवं शान्तिमय था। इसमें वह ज्वाला तथा भभक न थी, जो पाश्चात्य नारी-आन्दोलन में पायी जाती है।

† *Seven Years of Freedom*, p. 25.

आज इस देश में नारी और पुरुष का समान अधिकार है। भारतीय संविधान की शर्तों के अनुसार सरकार का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक नागरिक (नर अथवा नारी) को जीवन यापन के लिए यथेष्ट और समान अवसर दे, समान कार्य के लिए समान पारिश्रमिक की व्यवस्था करे, और अपनी आर्थिक क्षमता तथा विकास की सीमा के अनुसार सभी को काम करने का समान अधिकार दे। गत दो विश्व युद्धों ने स्पष्ट कर दिया है कि नारी अब अबला नहीं है, वह 'बहुबल धारिणी' है। वह पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर अब जीविकोपार्जन करने लगी है। आज वह पिछड़ी नहीं, वरन् अग्रगामिनी है। कार्यालयों में नारी-वाहिनी देखकर लोगों को दङ्ग रह जाना पड़ता है। निम्न-लिखित तालिका में कुछ क्षेत्रों में कार्य-रत महिला-कर्मचारियों की (सन् १९५७ की) संख्या दी जाती है :

तालिका २५

कतिपय क्षेत्रों में नारी†

क्षेत्र	संख्या
राजकीय प्रशासन	२,७२,४८३
डाक्टरी तथा स्वास्थ्य	७९,६२५
शिक्षा तथा अनुसन्धान	१,१८,४९१
डाक विभाग	२,०४७
टेलीफोन विभाग	२,६२३
पुलिस	४,१२९
कानून तथा वाणिज्य	८,९५९

† Tar Ali Beg, ed. *Women of India*, Delhi, Publications Division, 1958. pp. 260.

स्त्री-शिक्षा का आदर्श.—उपर्युक्त विवरण इस बात का सूचक है कि महिलाएँ पुरुषों के साथ जीवन-यापन के लिए मुकाबला कर रही हैं। वे पुरुषों से किसी भी अङ्ग में हीनतर नहीं हैं। राधाकृष्णन-आयोग ने कहा ही है, "वे कोई भी साहित्यिक कार्य उसी प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्न कर सकती हैं, जिस प्रकार पुरुष करते हैं। नर और नारी की योग्यता में विशेष कुछ प्रभेद नहीं है।"† पर इसके साथ-ही प्रश्न उठता है कि स्त्रियों की शिक्षा का आदर्श क्या होना चाहिए ? इस विषय में दो विरुद्ध मत हैं। प्रथम पक्ष का मत है कि नारी का स्थान गृह में है। इस कारण उनकी शिक्षा पुरुषों से भिन्न हो। द्वितीय पक्ष का मत है कि मनुष्य-जीवन एक गाड़ी के समान है, जिसके नर और नारी दो पहिये हैं, अतएव दोनों की शिक्षा समान हो।

दोनों पक्षों का कथन बहुत कुछ सत्य है। परम्परा से भारत में रमणी सद्गृहिणी बन कर जाया और जननी के रूप में इस देश की उन्नति करती रही हैं, अतएव गृह ही उसका प्रधान रंग-मंच है। ऐसी स्थिति में स्त्री-शिक्षा के पाठ्य-क्रम का ध्येय गृह एवं परिवार की उन्नति होना चाहिए। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे गृह-रूपी कबूतरखाने में बन्द रहा करें, उन्हें मुक्त-वायु सेवन करने न दिया जाय, एवं पारिवारिक आर्थिक अवस्था शोचनीय होने पर भी, उन्हें कमाने का अवसर न दिया जाय। जो स्त्रियाँ पुरुषों के साथ-साथ एक ही पाठ्यक्रम का अभ्यास कर जीवन-यात्रा में उनसे प्रतियोगिता करना चाहती हैं, उनके लिए भी कोई रुकावट न हो। वर्तमान शिक्षा में अनेक दोषों के रहते हुए भी इस शिक्षा ने सरोजिनी नायडू, विजयालक्ष्मी पण्डित, राजकुमारी अमृतकौर सरीखी देवियों को समुद्भूत किया है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ऐसी शिक्षित नारियाँ अपने गृह के प्रति उदासीन हों। नारी गृह की अधिष्ठात्री देवी है। नारी ही पत्नी-रूप में पति की सहयोगिनी और परामर्श-दात्री बनकर उसे कर्तव्य-पथ पर अग्रसर करती है, तथा गृह-रथ का सुसञ्चालन करती हुई राष्ट्र-निर्माण का मार्ग परिष्कृत करती है।

हम यह कदापि नहीं चाहते हैं कि आज शिक्षिता नारी बेकारी के दलदल में फँस जावे। बंगाल की एक शिक्षा रिपोर्ट ने बीस वर्ष पूर्व चेतावनी दी थी : "हमें शिक्षित पुरुषों की बेकारी से शिक्षा लेनी चाहिए, ताकि स्त्री-शिक्षा का भी वही परिणाम न निकले। हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली के दोषों को हमें दूर करना चाहिए।"

† *University Education Commission's Report.* p. 393.

भगवान् इस देश को इस समस्या से बचावें। यों तो पुरुषों की बेकारी ही दुःखदायिनी है, उस पर नारियों की बेकारी तो अत्यन्त भयावह होगी ! !

स्त्री-शिक्षा की कतिपय समस्याएँ : भूमिका.—हर्ष की बात है कि लोगों में स्त्री-शिक्षा की चाह बढ़ रही है। पर देश की आवश्यकताओं को देखते हुए, बालिका विद्यालयों की संख्या यथेष्ट नहीं है। बालिकाओं की शिक्षा बालकों की शिक्षा की अपेक्षा बहुत पिछड़ी हुई है। इस प्रश्न की चर्चा करते हुए राष्ट्रीय नारी-शिक्षा-समिति ने कहा ही है :

> यद्यपि देश में स्त्री तथा पुरुषों की संख्या समान है; पर लड़कों तथा लड़कियों की छात्र-संख्या एकसी नहीं है। प्राथमिक, मिडिल, हाई स्कूल तथा कालिजों की कुल संख्या का क्रमशः '२८', '१८', '१३' तथा '१०.४' प्रति शत भाग लड़कियों का है।†

समिति ने सिफ़ारिश की है कि द्वितीय योजना-काल की शेष अवधि में स्त्री-शिक्षा के लिए निर्धारित रक़म के ऊपर दस करोड़ रुपये खर्च किये जावें, एवं तृतीय योजना के दौरान में कम-से-कम सौ करोड़ रुपये नारी-शिक्षा के लिए व्यय हों। अब नारी-शिक्षा के मूल प्रश्नों पर विचार किया जाय।

प्राथमिक शिक्षा.—प्राथमिक शिक्षा की मूल समस्या ६-११ वयोवर्ग की बालिकाओं को स्कूलों में खींचने की है तथा वहाँ उन्हें रोक कर इस योग्य बनाने की है कि वे जो कुछ भी सीखें, उसे न भूलें। यह सब तभी सम्भव है, जब कि माता पिता एवं अभिभावक अपनी कन्याओं की शिक्षा में दिलचस्पी लें। साथ ही, विशेषकर ग्रामस्थ बालिका-विद्यालयों तथा ग्राम्य-गृहों का निकटतर सम्पर्क स्थापित होवे। इसके अतिरिक पाठ्यक्रम में लड़कियों के उपयोगी किसी उद्योग या क्राफ्ट का होना आवश्यक है।

माध्यमिक शिक्षा.—अनेक माता-पिता अपनी किशोरी बालिकाओं को लड़कों के विद्यालयों में शिक्षार्थ भेजने में हिचकते है, क्योंकि वे सह-शिक्षा को हानिकारक समझ उसका विरोध करते हैं। अतएव स्वतन्त्र कन्या माध्यमिक स्कूल काफी तादाद में खोले जावें। इन बालिकाओं के सिवा, हमें अनेक विधवाओं तथा वयस्का गृहणियों की ज़रूरतों का ख्याल रखना पड़ेगा। इनमें से सम्भवतः कितनों को किशोरावस्था में माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग न मिल पाया हो। हो सकता है कि वे अब

† **भारतीय समाचार**, १५ नवम्बर, १९५९, पृष्ठ ६६०।

शिक्षार्जन करना चाहें, और उसके द्वारा अपनी आर्थिक उन्नति तथा अपना मानसिक विकास करने का विचार रखती हों। ऐसी महिलाओं को माध्यमिक स्कूलों में भरती करने की बाधाओं को एकदम हटाना चाहिए तथा उन्हें शालान्त परीक्षा में प्राइवेट बैठने देना चाहिए। अनेकों को आर्थिक सहायता की भी ज़रूरत हो सकती है, अतएव उनके लिए उचित वृत्ति एवं मुफ्त शिक्षा वाञ्छनीय है। राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा-परिषद् की पहली बैठक में यह तय हुआ कि प्रौढ़ स्त्रियों को मिडिल तथा मैट्रिक शिक्षा देने के लिए छोटे पाठ्यक्रम तैयार करके ऐसी सुविधाएँ देनी चाहिए, जिससे १०० गांवों के एक खंड में इस प्रकार के दो पाठ्यक्रम पूरे किये जा सकें।

उच्च शिक्षा.—उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में विशेष सुधार की आवश्यकता है। कई विश्वविद्यालयों में गृह-विज्ञान का अध्ययन आरम्भ हुआ है, पर इस विषय के इनेगिने कालिज ही हैं। इसके सिवा, पाठ्यक्रम में विविध ललित-कलाओं के समावेश की आवश्यकता है, जैसे : चित्रकारी, संगीत, नृत्य, नाट्य-कला, इत्यादि। ऐसे विषयों के अभ्यास से नारीत्व प्रस्फुटित होने की विशेष सम्भावना है।

तृतीय योजना-काल के दौरान में साढ़े आठ लाख स्त्री-कर्मचारियों की ज़रूरत पड़ेगी। इस कार्य के लिए ऐसी वयस्का नारियों की आवश्यकता होगी, जिनकी माध्यमिक शिक्षा समाप्त हो चुकी हो। इनके लिए अल्प-कालिक ठोस कोर्सों का आयोजन किया जावे। स्त्रियों के उपयुक्त नौकरियों के अनेक मार्ग खुलते जा रहे हैं, जैसे : क्राफ्ट-शिक्षिका, धात्री, धाय, ग्राम-सेविका, स्टेनोग्राफर, आदि। इस ओर महिलाओं को अधिकतर खींचना चाहिए, क्योंकि अभी तक इस ओर महिलाओं का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है।

शिक्षिका-प्रशिक्षण.—नारियाँ स्वभावतः अध्यापन-कार्य सुचारुता-पूर्वक कर सकती हैं, परन्तु देश में स्त्रियों का अत्यल्प प्रति शत शिक्षिकायों का है : प्राथमिक स्तर १६·८ प्रति शत, मिडिल स्तर १७·७ प्रति शत, एवं हाईस्कूल स्तर १९ प्रति शत। इनमें से अनेक शिक्षिकाएँ तो बालकों के विद्यालयों में काम कर रही हैं, अतएव बालिकाओं के अधिकांश शिक्षक पुरुष हैं। वे लड़कियों की आवश्यकताओं को पूर्णतः नहीं समझ सकते हैं।

नारी का हृदय वात्सल्य से ओत-प्रोत रहता है। प्राथमिक तथा पूर्व-प्राथमिक स्तरों का अध्यापन-कार्य स्त्रियों को ही सौंपना चाहिए। अन्दाज लगाया गया है कि तृतीय योजना के दौरान में पन्द्रह लाख शिक्षिकाओं की आवश्यकता है, यदि पूर्व-प्राथमिक

तथा प्राथमिक स्कूलों में केवल महिलाएँ हीं नियुक्त हों।† परन्तु शिक्षित महिलाएँ शिक्षिका बनना पसन्द नहीं करतीं। इसके कई कारणा हैं। प्रथमतः, शिक्षकों का वेतन आकर्षक नहीं है। द्वितीयतः, महिलाएँ घर छोड़कर बाहर, विशेषकर देहात में, नहीं जाना चाहती हैं। तृतीयतः, शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण का पर्याप्त रूप में प्रबन्ध नहीं है। इन असुविधाओं को देखते हुए यह आवश्यक है कि शिक्षिकाओं को ठीक वेतन दिया जाय, ताकि शिक्षित ललनाएँ इस ओर आकर्षित हों। यदि वे पूर्ण समय तक कार्य न करना चाहें, तो वे आंशिक काल के लिए ही नियुक्त की जावें। इसके अतिरिक्त शिक्षकों की पढ़ी-लिखी स्त्रियों कोभी इस कार्य के लिए खींचना हितकर है। यह भी देखा गया है कि अध्यापिकाएँ बहुधा अकेली रहने के लिए हिचकिचाती हैं। यह ठीक ही है। इस कारण स्थान स्थान पर संयुक्त-गृहों की व्यवस्था की जानी चाहिए, जहाँ कुछ शिक्षिकाएँ एक साथ रह सकें।

प्रौढ़ शिक्षा.— इस विषय की विवेचना दसवें अध्याय में की जावेगी। यहाँ यह बतलाना उचित है कि प्रौढ़ाओं की शिक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कारण, पुरुष की शिक्षा एक व्यक्तिमात्र की ही शिक्षा है, किन्तु नारी की शिक्षा सम्पूर्ण परिवार की शिक्षा है। स्त्रियों को चाहिए बच्चों के पालन-पोषण, सुचि-कर्म तथा परिवारिक कार्य का ज्ञान। उन्हें घर संभालना तथा सुधारना है। वह गृहिणी है, जननीं है। राष्ट्र के निर्माण में उसका बहुत बड़ा हाथ है।

उपसंहार

इस देश में नारी—जागरण पूर्ण रूप से हो चुका है। सैकड़ों वर्षों की सुषुप्ता नारी ने पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होकर शुभ जागरण को प्राप्त किया है। इस सभ्यता से वह इतनी प्रभावित हुई है कि वह घर की चहार दीवारी से निकलकर सामाजिक राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण करने लगी है। वह पुरुष की सहयोगिनी बनकर प्रति पल कदम बढ़ाती हुई, उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँची रही है।

पाश्चात्य सभ्यता की आँच हमारे देश की स्त्री—शिक्षा पद्धति पर लग रही है। भारतीय रमणियाँ स्कूलों तथा कालिजों की ओर दौड़ रही हैं, जहाँ उन्हें पुरुषोचित पाठ्यक्रम सिखाया जा रहा है। पाश्चात्य देश भी शिक्षा के इस दोष को अनुभव कर रहे हैं। इंग्लैण्ड की एक सरकारी रिपोर्ट का कथन है, "यद्यपि इस शिक्षा के द्वारा नारी में एक नवीन जीवन का संचार हुआ है, पर वह अपनी सुकुमार, सुकोमल

† तदैव, पृष्ठ ६५९।

प्रवृत्ति धीरे धीरे खो रही हैं।"† हमें इस चेतावनी का लाभ उठाना चाहिए। हम नहीं चाहते कि स्त्री अपनी नारी–सुलभ लज्जा को खो बैठे। पंतजी ने कहा ही है, "आधुनिके! तुम नहीं कुछ अगर नहीं सिर्फ तुम नारी।"

और न हम यही चाहते हैं कि पाश्चात्य सभ्यता के परिणाम-स्वरूप नारी अब स्वच्छन्द-विहारिणी तितली-का-सा रूप धारण कर यहाँ-वहाँ विहार करने लगे। भारतीय नारियों का सदा आदर्श रहा है सद्‌गृहिणी बनकर माता एवं स्त्री के रूप में राष्ट्र की सेवा करना। सारल्य-प्रिय भारतीय ललना गार्हस्थाश्रम को कैसे भूल सकती है! हमें पाश्चात्य देशों के दृष्टान्त से लाभ उठाना चाहिए। इन देशों में तो जैसे पारिवारिक जीवन लुप्त हो रहा है, और उसके बदले क्लब तथा होटेल-जीवन का प्रसार हो रहा है। हमें नीर-क्षीर-विवेकी बनकर कर्तव्य-पथ का अनुकरण करते हुए, पश्चिम से ही नहीं वरन् विश्व के किसी भी कोने से किसी भी सद्भाव को ग्रहण करना है।

परम्परा से हमारे देश में नारी के जीवन-ग्रन्थ के चार अध्याय रहे हैं: पुत्री, भगिनी, भार्या तथा माता। वर्तमान काल तक नारी ने स्वयं व्यक्तिगत रूप में अथवा सुयोग्य सन्तति-सुमनों-द्वारा राष्ट्र-निर्माण के हेतु न जाने कितना कीर्ति-मकरन्द विकीर्ण किया है। आज वर्तमान की झांकी भी समुज्ज्वल दृष्टिगोचर हो रही है। नारी स्वातंत्र्य सोपान पर आरोहण कर राष्ट्रोन्नति की ओर शनैः शनैः अग्रसर हो रही है। अपनी श्रद्धाञ्जलि हम नारी को सादर अर्पित करते हैं। कविवर 'प्रसाद' की अमृतमयी उक्ति हमारे कर्ण-कुहर में ध्वनित हो उठती है:

> नारी, तुम केवल श्रद्धा हो,
> विश्वास-रजत-नभ-पद-तल में;
> पीयूष स्रोत-सी बहा करो,
> जीवन के समतल हृद्-तल में।

---

† H. M. S. O. *Differentiation of Curricula, etc.* London, H. M. S. O. 1923, p. 13.

आठवाँ अध्याय

प्राविधिक शिक्षा

प्रस्तावना

किसी समय भारत अपने शिल्प एवं विज्ञान के लिए प्रसिद्ध था। महेञ्जोदारो ध्वंसावशेषों के अवलोकन से पता चलता है कि हजारों वर्ष पहले भी हमारे पूर्वजों को शहर-निर्माण, सिविल इञ्जीनियरिंग तथा भवन-निर्माण का विशेष ज्ञान था। ऋग्वेद में बाँध तथा नहर का उल्लेख है। अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व हमारे देश का इस्पात सारे विश्व में विख्यात था। स्वदेश लौटते समय सिकन्दर यहाँ से इस्पात लाद कर यूनान ले गया था। तत्पश्चात् इस देश के प्राविधिक ज्ञान का धीरे धीरे ह्रास होता गया।

जहाँ एक ओर भारत की क्रमशः अवनति होती गयी, वहाँ दूसरी ओर अन्य देशों की क्रमोन्नति हुई। दो सौ वर्ष पूर्व अमेरिका एक बर्बर देश गिना जाता था। आज वही देश विश्व का सिरमौर है। वहाँ पर खाद्य-सामग्री के उत्पादन की इतनी प्रचुरता है कि ऊँची कीमत कायम रखने के लिए ज्वार और भुट्टा जला दिये जाते हैं तथा दूध नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। पचास वर्ष पूर्व जापान भी हमारे देश से बहुत पिछड़ा हुआ था। इस स्वल्पावधि में ही जापान ने अपनी कृषि-उद्योग विषयक अतीव उन्नति की और हम सोते ही रहे। देखते-ही-देखते सोवियट रशिया का रूप बदल गया। एक पिछडे हुए कृषि-प्रधान देश ने अपनी उन्नति करके सारे संसार को चन्द्रमा तक पहुँचने का मार्ग दिखा दिया है।

हमारी अवनति के अनेक कारण हैं। प्रथमतः, यहाँ औद्योगिक ज्ञान वंश या परिवारगत ही हुआ करता था। द्वितीयतः, वर्तमान युग में प्राविधिक शिक्षा की पर्याप्त उपेक्षा की गयी थी। इस ओर सरकार का ध्यान अभी-अभी गया है। सन् १९४७ तक इस शिक्षा का उद्देश्य सरकारी प्रशासन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना मात्र था। तृतीयतः, अभी अभी तक प्राविधिक शिक्षा अल्प-मति बालकों के लिए ही उपयुक्त समझी जाती थी। विश्वविद्यालयीय शिक्षा सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती

थी, फिर माध्यमिक शिक्षा का, और उसके बाद प्राविधिक शिक्षा का नम्बर आता था। युरोप में भी यही स्थिति थी। आरम्भ में तकनीकी शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं जाता था। कार्डिनल न्यूमेन का कथन है कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा में व्यावसायिक शिक्षा का विशेष स्थान न हो।

आज समय ने पल्टा खाया है। फलतः हमारे देश में इस समय प्राविधिक शिक्षा की सर्वाधिक माँग है। अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए माता-पिता अपनी सन्तान को यही—प्राविधिक—शिक्षा देना चाहते हैं। कारण, शिल्पी तथा प्राविधिज्ञों की मासिक आय पर्याप्त उच्च होती है। आधुनिक सभ्यता मशीन, शक्ति तथा ऊर्जा पर निर्भर है। यह जमाना एटम बम का है। एक शक्तिशाली राष्ट्र भी इसका सामना नहीं कर सकता है। इस प्रकार शारीरिक बल का मान घट रहा है तथा वैज्ञानिक ज्ञान का आदर बढ़ रहा है।

भारत भी आज उठकर खड़े होने का प्रयत्न कर रहा है। हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं में प्राविधिक शिक्षा का विशिष्ट स्थान है। आज यह सभी अनुभव कर रहे हैं कि देश की गरीबी दूर करने के लिए तथा बेकारी की समस्या के निवारण के लिए इस शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना न हम कृषि की उन्नति कर सकते हैं, न उद्योग बढ़ा सकते हैं और न अन्य राष्ट्रों का मुकाबिला ही कर सकते हैं। प्राविधिक शिक्षा के विस्तार एवं सुधार की अनेक योजनाएँ, देश के सामने हैं। इस अध्याय में इन सब बातों पर विचार किया जायगा।

ब्रिटिश शासन-काल में प्राविधिक शिक्षा

भूमिका.—प्राविधिक शिक्षा के कई रूप हैं — औद्योगिक, इंजीनियरिंग तथा शिल्प-विज्ञान। यह शिक्षा दो स्तरों में दी जाती है : कालेज तथा विश्वविद्यालय, और स्कूल। अंग्रेजों के शासन-काल में, इस शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। यह काल मुख्य तीन समयों में विभक्त किया जा सकता है : (१) १८००–१८५७, (२) १८५७–१९०२ और (३) १९०२–१९४७।

प्रथम उपकाल (१८००-१८५७).—ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में कुछ इनी-गिनी संस्थाएँ स्थापित हुईं। इनके खोलने का मुख्य उद्देश्य सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र था। अपने शासन-काल में कम्पनी को डाक्टरों, इंजीनियरों तथा परिदर्शक कर्मचारियों की आवश्यकता थी। इसी प्रेरणा के कारण इन संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ, न कि जन-हित के लिए। इस अवधि में रुड़की, कलकत्ता तथा मद्रास में इंजीनियरिंग

कालिज क्रमशः १८४७, १८५७ तथा १८५८ में स्थापित हुए। पूने में एक इंजीनियरिंग क्लास सन् १८५४ में खोला गया।

द्वितीय उपकाल (१८५७–१९०२).—प्राविधिक शिक्षा का क्रमबद्ध विकास सन् १८५७ के बाद हुआ। सन् १८६६ में, पूना इंजीनियरिंग क्लास एक कालिज के रूप में वर्द्धित हुआ। सन् १८५७ में विक्टोरिया जुबली टेकनिकल इंस्टीटयूट की स्थापना बम्बई में हुई। यह संस्था बम्बई म स्थित पुतलीघरों के लिए कुशल कारीगरों के प्रशिक्षण के निमित्त उद्घाटित हुई थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी औद्योगिक शिक्षा के प्रति भी उदासीन थी। हाँ, ईसाई मिशनों ने कई औद्योगिक स्कूल अवश्य स्थापित किये थे। सन् १९०१–१९०२ में भारत भर में कुल चार इंजीनियरिंग कालिज तथा अस्सी तकनीकी या औद्योगिक स्कूल थे। स्कूलों में पुरानी परिपाटी के अनुसार कई देशी कारीगरी (बढ़ईगिरी, लुहारी, आदि) सिखायी जाती थी।

तृतीय उपकाल (१९०२-४७).—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में देश में प्राविधिक शिक्षा की माँग आरम्भ हुई। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन (सन् १८८७) में यह प्रस्ताव पारित हुआ कि देश की औद्योगिक उन्नति के लिए सरकार तकनीकी शिक्षा की ओर ध्यान देवे। तब से कई परवर्ती अधिवेशनों में भी प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था की माँग बुलन्द की गयी। सरकार हाथ-पर-हाथ रखकर मौन न रह सकी। उसने वजीफे देकर कुछ चुनिन्दे विद्यार्थियों को तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए युरोप तथा अमेरिका भेजना आरम्भ किया।

तथापि अनेक प्रगतिशील भारतवासी इस वृत्ति-व्यवस्था मात्र से सन्तुष्ट न हुए। सन् १९०४ में कलकत्ता में 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शिक्षा-प्रसार-संघ' नामक एक संस्था की स्थापना हुई। कुछ चुने हुए सुयोग्य भारतीय विद्यार्थियों को शिल्प एवं उद्योग सम्बन्धी उच्चतर शिक्षा की प्राप्ति के लिए विदेश भेजना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। बंगाल में 'राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद्' ने जादवपुर में इंजीनियरिंग और टेकनोलोजिकल कालिज की स्थापना की। इस संस्था ने मैकेनिकल तथा इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग का डिप्लोमा कोर्स सन् १९०५ में शुरू किया, तथा केमीकल इंजीनियरिंग डिप्लोमा कोर्स सन् १९२१ में प्रारम्भ किया। पर डिग्री कोर्स आरम्भ करने का श्रेय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कालिज को मिलता है, जिसने सन् १९१७ में मैकेनिकल तथा इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग एवं मेटलार्जी का अध्यापन आरम्भ किया। स्वतन्त्रता-

प्राप्ति के समय भारत में अट्ठाईस इंजीनियरिंग तथा प्राविधिक कालिज थे। इसी अवधि में कई टैकनोलौजीकल कालिज स्थापित हुए। इनमें से मुख्य हैं : इंडियन स्कूल ऑफ् माईन्स, धानबाद; हारकोर्ट बटलर टेकनोलौजीकल इन्स्टीट्युट, कानपुर; स्कूल ऑफ केमीकल टेकनौलाजी, बम्बई, इत्यादि।

इस प्रकार राज्य तथा जनता—दोनों-के प्रयास-स्वरूप प्राविधिक शिक्षा का विस्तार हो चला। इस कार्य को दो अन्य घटनाओं के कारण और भी प्रेरणा प्राप्त हुई। शिक्षित व्यक्तियों में बेकारी-समस्या की बाढ़ के कारण, लोगों का ध्यान तकनीकी तथा औद्योगिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इस शिक्षा के प्रति लोगों के जो संकीर्ण विचार थे, वे बदल गये, और लोगों में इस शिक्षा की प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा प्रादुर्भूत हुई। दूसरी घटना द्वितीय विश्व-युद्ध की थी, जिसने इस देश की प्राविधिक शिक्षा में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस युद्ध की तात्कालिक माँगों को पूरा करने के लिए, ब्रिटिश सरकार को प्रत्येक फेक्टरी को तकनीकी प्रशिक्षण-केन्द्र के रूप में व्यवहृत करना पड़ा। इस प्रकार इस देश में प्राविधिक शिक्षा की बुनियाद तैयार हुई।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ ही वर्ष पूर्व भारत सरकार ने एक देश-व्यापी प्राविधिक शिक्षा योजना चलाना आरम्भ किया। उसकी प्रमुख संस्थाएँ निम्नांकित हैं :

१. औद्योगिक शोध-कार्य की सहायता के लिए 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध-परिषद्' की स्थापना (सन् १९४०)।

२. दिल्ली पॉलीटेकनीक का आरम्भ (सन् १९४१)।

३. उच्च तकनीकी शिक्षा के आयोजन के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए श्री नलिनीरंजन सरकार की अध्यक्षता में टैकनोलौजिकल समिति की नियुक्ति (सन् १९४५)। यह समिति 'सरकार कमैटी' के नाम से मशहूर है।

४. ३० नवम्बर, १९४५ में 'अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा-परिषद्' की स्थापना।

५. सम्पूर्ण देश की जरूरतों को देखते हुए विभिन्न स्तर के वैज्ञानिक शिल्पी, यंत्री तथा प्राविधिज्ञों की एक सूची तैयार करके लिए 'वैज्ञानिक तथा मानवीय शक्ति समिति' की नियुक्ति (सन् १९४७)।

स्वाधीन भारत में प्राविधिक शिक्षा

भूमिका—स्वाधीनता मिलने के पश्चात् प्राविधिक शिक्षा के विस्तार की पूरे दम से चेष्टा हो रही है। कारण, यह स्पष्ट है कि देश के प्रत्येक क्षेत्र की प्रगति—क्या कृषि, क्या खाद्य, क्या सिंचाई, क्या उद्योग, क्या व्यापार, क्या यातायात–इसी शिक्षा पर निर्भर है। प्रथम योजना का उद्देश्य था, देश के प्रत्येक राज्य में डिग्री स्तर पर प्राविधिक शिक्षा बढ़ाना तथा इंजीनियरिंग एवं टेकनोलौजीकल के उन पाठ्य-क्रमों का आरंभ करना, जिनकी व्यवस्था इस देश में नहीं थी। द्वितीय योजना-काल में औद्योगिक प्रसार-विषयक दो प्रकार के कार्य-क्रम हैं। एक के द्वारा पहली योजना में जो कार्य शुरू किये गये, उन्हें विकसित, समुन्नत तथा विस्तृत करना है; और दूसरे कार्य-क्रम के अनुसार इस अवधि में औद्योगिक शिक्षा के नये कार्य शुरू करना तथा नयी संस्थाएँ स्थापित करना है। द्वितीय योजना-काल में ५२ करोड़ रुपये तकनीकी शिक्षा के लिए निर्धारित किये गये हैं। प्रथम योजना-काल में इस शिक्षा पर केवल तेईस करोड़ रुपये खर्च हुए थे। अब तृतीय पंच-वर्षीय योजना की चर्चा हो रही है। उसमें भी तकनीकी शिक्षा का महत्व-पूर्ण स्थान है।

स्वाधीन भारत में प्राविधिक शिक्षा के यथार्थ रूप को समझने के लिए, हमें इन विषयों का ज्ञान आवश्यक है : (१) प्रशासन, (२) शिक्षा-व्यवस्था, (३) प्राविधिक शिक्षा का विस्तार और (४) नवीन योजनाएँ।

प्रशासन—१० फरवरी, १९५८ तक प्राविधिक शिक्षा का प्रशासन केन्द्रीय शिक्षा एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान मन्त्रालय के एक विभाग के मातहत था। पर अब इसका सम्बन्ध केन्द्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मंत्रालय से है। प्राविधिक शिक्षा समस्याओं पर विचार करने के लिए तथा नवीन योजनाओं को चलाने के निमित्त भारत-सरकार समय-समय पर विशेषज्ञों की समितियाँ नियुक्त करती रहती है।

तकनीकी शिक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा राज्यीय सरकारों को 'अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद' (अभाप्रशिप) परामर्श देती है।† यह परिषद विविध क्षेत्रों के प्रतिनिधियों-द्वारा संगठित होती है : संसद, विभिन्न केन्द्रीय मन्त्रालय, राज्य सरकारें, अन्तर्विश्वविद्यालयीय मण्डल तथा प्राविधिक शिक्षा से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न गैरसरकारी संस्थाएँ (उद्योग, वाणिज्य, श्रम, व्यवसाय, इत्यादि)। कुल सदस्यों की संख्या ६० है। दैनिक कामकाज एक समन्वय मण्डली चलाती है।

---

† देखिए पृष्ठ ३३।

प्राविधिक शिक्षा के प्रबन्ध के लिए, परिषद् ने चार विभागीय समितियाँ—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—नियुक्त की हैं। ये अपने-अपने विभागों की ज़रूरतों का अध्ययन करती हैं एवं उनके अनुसार अपनी योजनाएँ चलाती हैं। इन समितियों के अतिरिक्त परिषद् ने सात पाठ्यक्रम-मण्डल विविध विषयों के सुधार के लिए स्थापित किये हैं : सिव्हिल, इलेक्ट्रिकल, मैकेनिकल तथा कैमिकल इंजीनियरिंग, वाणिज्य, केमीकल टेकनोलौजी एवं एप्लाईड आर्ट्स। प्रत्येक विषय के राष्ट्रीय डिप्लोमा तथा सर्टीफिकेट पाठ्यक्रम अब तैयार हैं। परिषद् ने एक विशेषज्ञ समिति स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त की है।

परिषद् की बैठक प्रति वर्ष एक बार होती है। लेकिन समन्वय समिति तथा विभागीय समितियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ये अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी भी समय बैठ सकती हैं।

शिक्षा-व्यवस्था.—प्रत्येक उद्योग में तीन प्रकार के व्यक्तियों की ज़रूरत पड़ती है : (१) मैनेजर (२) परिदर्शक कर्मचारी एवं (३) कारीगर। इसीके अनुसार प्राविधिक शिक्षा तीन स्तर में दी जाती है : डिग्री, डिप्लोमा तथा सर्टीफिकेट।

डिग्री कोर्स.—डिग्री कोर्स की शिक्षा कालिज तथा विश्वविद्यालय में दी जाती है। इस पाठयक्रम में इण्टरमीडिएट या उच्च-माध्यमिक पास विद्यार्थी भरती किये जाते हैं। स्नातक कोर्स ३½-४ वर्ष का होता है, पर इस कोर्स में प्रवेश के पूर्व उच्च-माध्यमिक विद्यार्थियों को एक वर्ष पूर्व-व्यावसायिक पाठयक्रम का अध्ययन करना पड़ता है।

स्नातकोत्तर कोर्स की अवधि दो साल की होती है। कुछ वर्ष पूर्व हमारे देश में इस पाठयक्रम का अभाव था। इस कमी को दूर करने के लिए 'अभाप्रशिप' ने एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की थी। इस समिति की सिफारिशों पर 'अभाप्रशिप' ने चुने हुए बीस संस्थानों में तैंतीस विषयों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम लागू करना स्वीकार कर लिया है।† हाल ही मे 'अभाप्रशिप' की सिफ़ारिश पर भारत सरकार ने इंजीनियरिंग और शिल्प-विज्ञान की पढ़ाई की प्रगति की समीक्षा करने और स्नातकोत्तर ट्रेनिंग तथा अनुसन्धान की व्यवस्था के बारे में सिफारिशें करने के लिए एक उच्च अधिकार-प्राप्त-

† भारत, १९५९, पृष्ठ ८३।

समिति नियुक्त की है। वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मंत्रालय के सचिव प्रो० एस० एस० थैकर इस समिति के अध्यक्ष हैं। समिति स्नातकोत्तर ट्रेनिंग-केन्द्रों और अनुसन्धान शालाओं का दौरा करेगी तथा वहाँ के प्रधानों एवं अनुभवी प्रोफेसरों से विचार-विमर्श करेगी।†

डिप्लोमा कोर्स.—डिप्लोमा कोर्स में विद्यार्थी मेट्रिक परीक्षा के बाद भरती किये जाते हैं। इसका दौरान तीन वर्षों का होता है। यह शिक्षा बहुधा पॉलीटेकनीक तथा तकनीकी स्कूलों में दी जाती है। सफलीभूत विद्यार्थीगण विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों में परिदर्शक कर्मचारी नियुक्त होते हैं।

सर्टीफिकेट कोर्स.—कारीगर दो प्रकार के होते हैं: (१) कुशल कारीगर और (२) अर्द्ध-कुशल और सामान्य श्रमिक। पहले प्रकार के व्यक्तियों को तकनीकी हाई स्कूल, अवर तकनीकी स्कूल, आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स स्कूल एवं उत्तर-बुनियादी स्कूलों में ट्रेनिंग मिलती है। पर अर्द्ध-कुशल अथवा सामान्य श्रमिकों के प्रशिक्षण के लिए, हमारे देश में कोई विशेष व्यवस्था नहीं है। आशा है कि प्रवर बुनियादी स्कूल इस माँग को पूरा करेंगे। किसी-किसी उद्योग संस्था ने अपने श्रमिकों के लिए अंश-कालिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की है।

प्राविधिक शिक्षा का विस्तार.—स्वाधीनता मिलने के पश्चात् भारतीय शिक्षा में सबसे उल्लेखयोग्य विस्तार प्राविधिक शिक्षा का हुआ। सन् १९४७ तक, हमारी तकनीकी संस्थाओं से पर्याप्त रूप में शिक्षार्थी नहीं निकलते थे, तथा शोध एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम का नाम निशान नहीं था। उस वर्ष पूरे देश में इंजीनियरिंग तथा प्राविधिक शिक्षावाले २८ डिग्री-संस्थान तथा ४१ पॉलीटेकनीक संस्थान थे। सन् १९५७ में डिग्री तथा डिप्लोमा संस्थानों की संख्या क्रमशः ७४ तथा १२९ पहुँची।

इसी अवधि में छात्र-संख्या में भी विशेष वृद्धि हुई। सन् १९४७ में डिग्री तथा डिप्लोमा कोर्सों में क्रमशः २,९४० तथा ३,६७० विद्यार्थियों के प्रवेश की स्वीकृति दी जा चुकी थी। सन् १९५७ में यही संख्या तिगुनी हो गयी। याने ९,७७८ डिग्री कोर्स के तथा १५,९९५ डिप्लोमा कोर्स के हो गये।‡ यह अनुमान लगाया गया है कि द्वितीय योजना-काल के अन्त में प्राविधिक संस्थाओं में डिग्री-पाठ्यक्रमों तथा डिप्लोमा पाठ्यक्रमों के लिए प्रति वर्ष क्रमशः १३,००० तथा २४,००० विद्यार्थियों को प्रवेश

† **भारतीय समाचार**, १५ सितम्बर, १९५९, पृष्ठ ५१९।
‡ **भारत**, १९५९, पृष्ठ ८३।

प्राविधिक शिक्षा की प्रगति
१९४७ से १९५७
(अ) डिग्री कोर्स
१०
८
६
४
२
०
१९४७
१९४९
१९५१
१९५३
१९५५
१९५७
(आ) डिप्लोमा कोर्स
१६
१४
१२
१०
८
६
४
२
०
१९४७
१९४९
१९५१
१९५३
१९५५
१९५७
सँस्थाएँ
(दस)
स्वीकृत छात्र-सँख्या
(हज़ार)
उत्तीर्ण छात्र-सँख्या
(हज़ार)
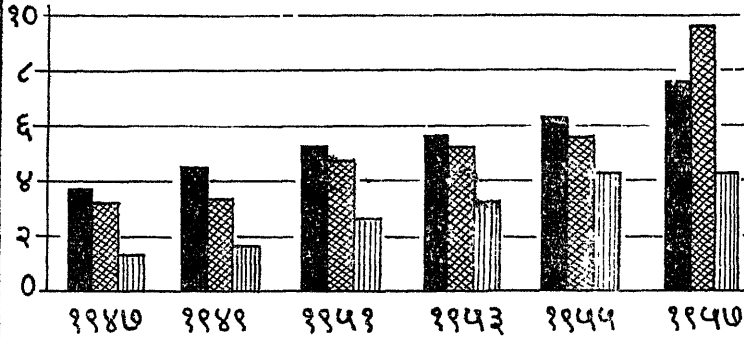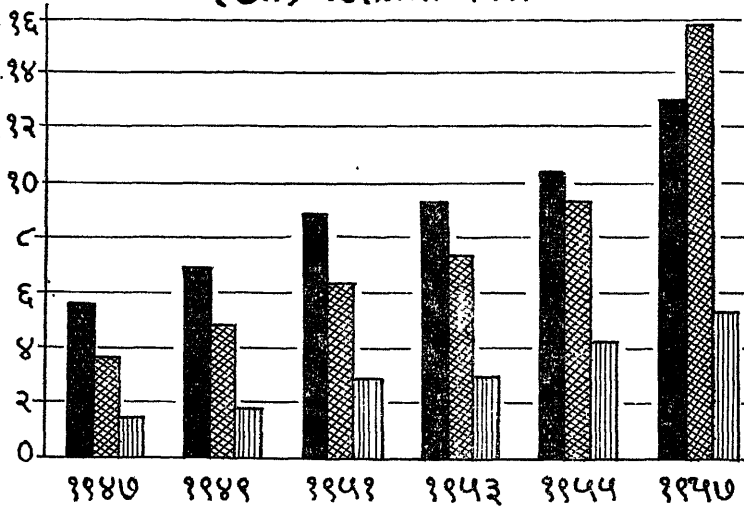
चित्र १४

दिया जा सकेगा। इतना होते हुए भी योजना-आयोग का अन्दाज है कि द्वितीय योजना के अन्त में १५,००० इंजीनियरिंग स्नातक तथा ३०,००० डिप्लोमा-प्राप्त व्यक्तियों की कमी पड़ेगी।†

अनुमान है कि तीसरी योजना में डिग्री और डिप्लोमा प्राप्त क्रमशः ४५,००० और ९०,००० इंजीनियरों की और जरूरत पड़ेगी, अर्थात् वर्तमान संख्या को तिगुना करना पड़ेगा। इस लक्ष्य को कार्यान्वित करने के लिए नौ नये टेकनोलोजीकल कालिजों की स्थापना विभिन्न शहरों में होगी : मँगलोर, वारंगल, नागपुर, भोपाल, दुर्गापुर, जमशेदपुर, अलाहाबाद, श्रीनगर एवं दिल्ली। प्रत्येक संस्थान से प्रति वर्ष ५०० अर्थात् कुल मिलाकर ४,५०० स्नातक निकलेंगे। शेष ४,५०० स्नातक मौजूदा सस्थानों से निकलेंगे। यह निश्चित है कि इन कालिजों को विशेष रूप से बढ़ाना पड़ेगा।

डिप्लोमा-शिक्षा के प्रसार के लिए 'अभाप्रशिप' ने अपनी २४ मार्च, १९५८ की बैठक में सिफ़ारिश की है कि भारत सरकार द्वितीय योजना-काल में २७ पॉलीटेकनीक़ भारत के विभिन्न राज्यों में खोले : बङ्गाल (३), बम्बई (३), उत्तर प्रदेश (३), पञ्जाब (३), बिहार (२), मध्य प्रदेश (२), मद्रास (२), मैसूर (२), आन्ध्र (२), राजस्थान (२), आसाम (१), उड़ीसा (१) तथा केरल (१)।‡ इन संस्थानों में प्रतिवर्ष सिह्विल, मैकेनिकल तथा इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के ४,०२० विद्यार्थी भरती किये जावेंगे। तृतीय योजना-काल में भारत-सरकार प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय प्राविधिक संस्थान स्थापित करने का विचार कर रही है। प्रत्येक संस्थान से सम्बन्धित अनेक तकनीकी स्कूल रहेंगे। स्कूलों की स्थापना किसी उद्योग-केन्द्र के पास होगी, और वे उससे मिल जुल कर ये काम करेंगे।

कारीगरों के प्रशिक्षण के प्रति भी ध्यान दिया गया है। श्रम तथा नियोजन मंत्रालय के १९५८-५९ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार शिल्प-प्रशिक्षण-केन्द्रों में १०,५०० कारीगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत-सरकार ने द्वितीय योजना-काल में, २६,००० अतिरिक्त कारीगरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था का निश्चय किया है। इनमें से २१,६३० जगहों का प्रबन्ध विभिन्न राज्यों में हो चुका है।

---

† *Times of India*, March 19, 1959.

‡ *Ibid.*, March 27, 1958.

नवीन योजनाएँ.—स्वातन्त्र्योत्तर-काल में, प्राविधिक शिक्षा की उन्नति के लिए भारत सरकार ने अनेक योजनाएँ चलायी हैं। इनमें से मुख्य ये हैं: (१) भारतीय विज्ञान-संस्था, बंगलोर की क्रमोन्नति, (२) उच्चतर प्रौद्योगिकी संस्थाओं की स्थापना, (३) नवीन पाठ्यक्रमों का आरम्भ, (४) वृत्ति की व्यवस्था, (५) विज्ञान मन्दिरों की स्थापना एवं (६) अनुसन्धान।

भारतीय विज्ञान-संस्था, बंगलोर.—इस प्रसिद्ध संस्थान की स्थापना सन् १९११ में हुई, और तभी से यहाँ उच्चतर विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। इस संस्था से ३,००० से अधिक रसायन-शास्त्री, भौतिकविद्, इंजीनियर, भूगर्भ-शास्त्री इत्यादि अभी तक निकले हैं। ये भारत की उच्चतम शिक्षा-संस्थाओं, सरकारी ओहदों तथा औद्योगिक केन्द्रों में काम कर रहे हैं। सन् १९४६ से भारत-सरकार इस संस्थान को उदार अनुदान दे रही है। मई, १९५८ में, यह संस्था विश्वविद्यालय के रूप में स्वीकृत हुई। इस विश्वविद्यालय में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों के स्नातकोत्तर प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान का समुचित प्रबन्ध है।

उच्चतर प्रौद्योगिक संस्थाएँ.—हमारी पंचवर्षीय योजनाओं ने बड़े उद्योगों के विस्तार पर बल दिया है। इस कार्य के लिए उच्चतर प्राविधिज्ञों की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए 'सरकार-समिति' ने चार उच्चतर प्रौद्योगिकी संस्थाओं — भारत के प्रत्येक विभाग में एक — की स्थापना की सिफ़ारिश की थी। 'अभाप्रशिप' ने इस सुझाव का अनुमोदन किया। सन् १९५१ में सर्व प्रथम भारतीय प्रौद्योगिकी संस्था कलकत्ते के पास खड़गपुर में स्थापित हुई। बम्बई की भारतीय प्रौद्योगिकी संस्था में विद्यार्थीगण सबसे पहले सन् १९५८ में प्रवेश हुए। कानपुर तथा मद्रास में दो और संस्थान स्थापित किये जा रहे हैं। इन दोनों संस्थाओं में कुल मिलाकर २,००० से अधिक विद्यार्थियों को शिक्षा दी जा सकेगी।

नवीन पाठ्यक्रम.—'अभाप्रशिप' की सिफारिश के फल-स्वरूप कुछ नवीन पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण प्रारम्भ किया गया है: मुद्रण-कला, प्रबन्ध-व्यवस्था तथा शहर-ग्राम-कल्पना। देश में इन विषयों के अध्ययन की माँग है, पर इनके प्रशिक्षण का यथोचित प्रबन्ध नहीं है। केन्द्रीय सरकार तथा राज्यीय सरकारों के द्वारा संयुक्त रूप से अलाहाबाद, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थापित चार मुद्रण-स्कूलों में से प्रत्येक में प्रति वर्ष २०० विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देने का उद्देश्य रखा गया है। इसके अतिरिक्त आठ संस्थाओं में प्रबन्ध-व्यवस्था-सम्बन्धी पाठ्यक्रम लागू किये जा चुके हैं। इनके

नाम हैं : भारतीय प्रौद्योगिकी संस्था, खड़गपुर; अर्थशास्त्र-स्कूल, दिल्ली; अर्थशास्त्र विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय; अर्थशास्त्र तथा समाज-विज्ञान स्कूल, बम्बई; भारतीय विज्ञान-संस्था, बंगलोर; समाज-कल्याण तथा कारोबार-प्रबन्ध-संस्था, कलकत्ता; और विक्टोरिया जुबली प्राविधिक सस्था, बम्बई।

दिल्ली में एक 'शहर-ग्राम-कल्पना' विद्यालय (स्कूल आफ टाऊन एण्ड कण्ट्री प्लेनिंग) स्थापित हुआ है। इसमें उत्तर-स्नातक स्तर पर दो प्रकार के पाठ्यक्रम का आयोजन किया गया है : (१) दो वर्षीय डिप्लोमा कोर्स तथा (२) एक गहन कोर्स, उन शिल्पी, इजीनियर इत्यादि के लिए जिन्हें अपने विषय का कुछ व्यावहारिक अनुभव हो।

इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार की ओर से बंगलोर में एक 'औद्योगिक अध्यापक प्रशिक्षण संस्था' स्थापित होनेवाली है। यहाँ औद्योगिक उत्पादन का उच्चतर ज्ञान दिया जावेगा। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस संस्था को ९,००० डालर अनुदान देना स्वीकार किया है।

वृत्ति.—तकनीकी शिक्षा तथा वैज्ञानिक शोध की उन्नति के लिए भारत सरकार ने गत दस वर्षों में तीन प्रकार की वृत्तियों का आयोजन किया है : प्रेक्टिकल ट्रेनिंग स्टाइपेण्ड, राष्ट्रीय शोध शिष्य-वृत्ति-योजना तथा विश्वविद्यालयीय शोधवृत्ति। प्रथम योजना के अनुसार, चुने हुए स्नातकोत्तर तथा डिप्लोमा प्राप्त व्यक्तियों को अपनी शिक्षा समाप्त करने पर प्रेक्टिकल प्रशिक्षण के लिए मासिक स्टाइपेण्ड मिलता है--प्रति स्नातक १५० रु. तथा डिप्लोमा प्राप्त-यंत्री १०० रु.। इनके ट्रेनिंग का बन्दोबस्त सरकारी तथा विशेष गैरसरकारी केन्द्रों में किया जाता है। अभी तक १,००० स्टाइपेण्ड दिये गये हैं। द्वितीय योजना के अधीन ४०० रु. मासिक की ८० शिष्य-वृत्तियाँ तथा प्रति वर्ष यंत्र तथा अन्य साधनों के लिए एक हज़ार रुपये के अनुदान की व्यवस्था की गयी है। यह योजना सन् १९५५–५६ में शुरू की गयी थी। इनके अतिरिक्त २०० रु. मासिक की ८०० शोध-वृत्तियाँ विश्वविद्यालयों तथा इंजीयनिरिंग एवं तकनीकी संस्थाओं को दी गयी हैं।

विज्ञान-मंदिर.—सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्षेत्रों में 'विज्ञान-मन्दिर' नामक २१ ग्रामीण वैज्ञानिक केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं। प्रत्येक केन्द्र में एक प्रयोगशाला और योग्य तथा प्रशिक्षित कर्मचारी होते हैं। ये केन्द्र ग्रामीण लोगों में वैज्ञानिक जानकारी का प्रसार करते हैं, तथा उन्हें इसके उपयोग की सार्थकता के विषय में समझाते हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मँत्रालय के मन्त्री श्री हुमायूँ कबीर

का ध्येय 'सम्पूर्ण देश में ३२० विज्ञान-मन्दिर--अर्थात् प्रत्येक जिले के लिए एक--स्थापित करना' है। प्रत्येक सस्था का सम्बन्ध एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय से रहेगा।

अनुसन्धान.—वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध के लिए भारत सरकार ने, सन् १९४२ में, 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध-परिषद' की स्थापना की थी। आज यह परिषद वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मन्त्रालय का भाग है। परिषद शोध-संस्थानों में लगे वैज्ञानिकों को साहाय्य-अनुदान और योग्य व्यक्तियों को छात्र-वृत्तियाँ देने तथा विज्ञान-सम्बन्धी जानकारी के प्रसार का कार्य भी करती है। सन् १९५८-५९ में परिषद का आवर्तक व्यय ३·३१ करोड़ रुपये तथा अनुमानित पूँजीगत व्यय १·७८ करोड़ रुपये हुआ।†

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से परिषद देश के विभिन्न केन्द्रों में राष्ट्रीय प्रयोग शालाएँ स्थापित कर चुकी है। इनका विवरण इस प्रकार है: (१) केन्द्रीय ईंधन शोध संस्था, जीलगोड़ा (बिहार); (२) केन्द्रीय काँच तथा कुम्भकार-कार्य-शोध-संस्था, जादवपुर; (३) केन्द्रीय खनन-शोध-केन्द्र, धानबाद; (४) केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी शोध संस्था, मैसूर; (५) केन्द्रीय चर्म-शोध-संस्था, मद्रास; (६) केन्द्रीय नमक शोध संस्था, भावनगर; (७) केन्द्रीय भवन-शोध-संस्था, रुड़की; (८) केन्द्रीय भेषज शोध संस्था, लखनऊ; (९) केन्द्रीय मशीनी इजीनियरिंग शोध संस्था, दुर्गापुर (पश्चिम बंगाल); (१०) केन्द्रीय विद्युत इंजीनियरिंग शोध-संस्था, पिलानी; (११) केन्द्रीय विद्युत रसायन शोध-संस्था, कराइकुडी (मद्रास); (१२) केन्द्रीय सड़क शोध-संस्था, नयी दिल्ली; (१३) केन्द्रीय सार्वजनिक स्वास्थ्य-शोध संस्था, नागपुर; (१४) प्रादेशिक शोध-प्रयोग-शाला, हैदराबाद; (१५) प्रादेशिक शोध-प्रयोग-शाला, जम्मू-तावी (जम्मू तथा काश्मीर); (१६) बिड़ला-औद्योगिक तथा प्रौद्योगिकी संग्रहालय, कलकत्ता; (१७) भारतीय जीव-रसायन तथा परीक्षात्मक औषधि-संस्था, कलकत्ता; (१८) राष्ट्रीय धातु-कर्म प्रयोग-शाला, जमशेदपुर; (१९) राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नयी दिल्ली; (२०) राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, पूना; एवं (२१) राष्ट्रीय वनस्पति-विज्ञान उद्यान, लखनऊ।†

कतिपय समस्याएँ

भूमिका.—इस प्रकार हमारे देश की प्राविधिक शिक्षा की प्रगति गत दस वर्षों में हुई। पूर्व स्वातन्त्र्योत्तर-काल में इस शिक्षा के प्रति विशेष ध्यान नहीं दिया गया

---

† भारत १९५९, पृष्ठ ९३।

था। इसके फलस्वरूप हमारे देश का औद्योगिक विकास उचित रूप से नहीं हुआ था। छोटे-मोटे यन्त्रों की बात छोड़ दीजिए। हमने सुई तक बनाना नहीं सीखा था। हमारा देश विदेशी मालों से छा गया था, तथा प्रत्येक वस्तु के लिए हमें विदेशों का मुँह ताकना पड़ता था।

अब समय में परिवर्तन व्याप्त हो गया है। हमारे उद्योगों की दिन-प्रति-दिन उन्नति होती जा रही है। साथ ही, प्राविधिक शिक्षा के विस्तार की पूर्णतः चेष्टा हो हो रही है। परन्तु एक विशाल भवन खड़ा होने के लिए समय लगता है, तथा पग-पग पर विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। हमारी प्राविधिक शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के सामने आज मुख्य समस्याएँ ये हैं : (१) मानव-शक्ति की आवश्यकता, (२) कुशल तकनीकी कारीगरों की अपर्याप्तता, (३) प्रशासकों का अभाव, (४) संकीर्ण पाठ्यक्रम, (५) नये कालिजों की माँग, (६) शिक्षकों की कमी, (७) शिक्षा का माध्यम, (८) कर्मशाला-अभ्यास, (९) उत्तर-विद्यालय शिक्षा, (१०) अनुसन्धान एवं (११) सरकार, उद्योग तथा प्राविधिक शिक्षा में सहयोग।

मानव-शक्ति की आवश्यकता.—भारत की प्रगति एवं औद्योगिक विकास के लिए विविध क्षेत्रों में प्रशिक्षित तकनीकी मानव-शक्ति की आवश्यकता है। आज प्राविधिक शिक्षा का विस्तार, इस देश में. द्रुतगति से हो रहा है। तिस पर भी योजना-आयोग को आशङ्का है कि तृतीय योजना-काल में तकनीकी मानव शक्ति का अभाव रहेगा।† इस कारण प्राविधिक शिक्षा का और भी प्रसार करना पड़ेगा।

तकनीकी मानव-शक्ति के ट्रेनिंग में तीन विषयों पर ध्यान देना ज़रूरी है। प्रथमतः, इसे प्रत्येक क्षेत्र की राष्ट्रीय आवश्यकताओं की सम्पूर्ति करनी पड़ेगी। द्वितीयतः, प्राविधिक शिक्षा का मान-दण्ड न गिरने पावे। तृतीयतः, शिक्षा-संस्थाओं से निकलनेवाले यंत्रियों की संख्या तथा देश की प्रशिक्षित मानव-शक्ति की माँग में एक सन्तुलन रहे। लेकिन जब किसी देश का औद्योगिक विकास शीघ्र किया जाता है, तब प्रायः केवल पहले ही विषय पर ध्यान दिया जाता है। बहुसंख्यक प्रशिक्षित शिल्पी तकनीकी संस्थाओं से निकाले जाते हैं। पर यदि इस संख्यात्मक विस्तार के साथ शिक्षा-स्तर गिर जाय, तो औद्योगिक विकास को भारी धक्का लगता है। सदा याद रहे कि तकनीकी शिक्षा में कोई भी छोटे रास्ते की गुंजाइश नहीं है।

† देखिए पृष्ठ २०२।

उद्योग के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं का पूर्ण रूप से अध्ययन करने के पश्चात् प्राविधिक शिक्षा का आयोजन सावधानी से किया जावे। श्री एब्बट की यह चेतावनी हमें सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए :

> देश की यह बदनसीबी होगी, यदि अपनी लम्बी प्राविधिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् अनेक व्यक्तियों को अपने ज्ञान का उपयोग करने का सुअवसर ही प्राप्त न हो।†

गत दस वर्षों में प्राविधिक शिक्षा-विस्तार तथा देश की तकनीकी मानव-शक्ति की आवश्यकता का अनुमान करने के लिए यथेष्ट चेष्टा की गयी है। पर सरकार माँग और प्रदान का समुचित सन्तुलन न कर सकी। किसी औद्योगिक क्षेत्र में बेकारी देखी जा रही है और किसी क्षेत्र में उपयुक्त प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी है। यदि पंचवर्षीय योजनाओं के अनुसार देश का आर्थिक विकास न हुआ तो तकनीकी व्यक्तियों में बेकारी बढ़ती ही जायगी।‡

कुशल तकनीकी कारीगरों की अपर्याप्तता.—प्राविधिक शिक्षा-विस्तार में, सरकार का ध्यान अधिकतर स्नातक तथा डिप्लोमा कोर्सों की ओर गया है, पर देश में सबसे अधिक आवश्यकता कुशल कारीगरों की है। कल-कारखानों में नये रँगरूट भरती होते हैं। उन्हें उत्पादन का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। इन हुनरवाले मजदूरों के प्रारम्भिक प्रशिक्षण की यथोचित आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, हमारे देश के कुटीर-शिल्प की पर्याप्त प्रगति हो रही है; पर सभ्यता के विकास के साथ, इनमें एक नवीनता प्रयोजनीय है। इसके लिए यह आवश्यक है कि इन कारीगरों को परिवर्तित स्थितियों के अनुकूल बनने के लिए प्रशिक्षित किया जाय।

प्रशासकों का अभाव.—हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य उद्देश्य है 'विकास-कार्य आरम्भ करना', जिससे लोगों के रहन-सहन का स्तर उठाया जा सके, और उन्हें उन्नत जीवन बिताने के लिए नये अवसर प्रदान किये जा सकें। प्रथम योजना-काल में सिंचाई तथा विद्युत-उत्पादन के साथ-साथ कृषि के विकास को भी प्राथमिकता मिली। द्वितीय योजना का मुख्य उद्देश्य है 'मूलभूत तथा भारी उद्योगों के विकास के साथ द्रुतगति से औद्योगीकरण'। इन योजनाओं के फल-स्वरूप नये-नये बाँध

---

† *Abbott-Wood Report*, p. 38.

‡ *Times of India*, February 3, 1959.

बाँधे जा रहे हैं, बड़े-बड़े कारखानों की सृष्टि हो रही है, आवागमन के साधनों में उन्नति हो रही है, नगर-पुनर्रचना चल रही है, परिवहन का विकास हो रहा है, इत्यादि, इत्यादि।

पर इन योजनाओं को कौन तैयार कर रहा है? इन्हें कौन चला रहा है? खेद के साथ हमें उत्तर देना पड़ता है कि "विदेशी विशेषज्ञ"। हमें उस समय हताश होना पड़ता है, जब हम देखते हैं कि स्वाधीन होते हुए भी, ऐसे कार्यों के लिए हमें विदेशी परामर्श-दाताओं का मुँह ताकना अनिवार्य होता है। विशेषज्ञों की बात जाने दीजिए। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के अनुसार विकास-कार्य बहुत कुछ हो रहा है; पर प्रत्येक क्षेत्र की वृद्धि के अनुपात में, प्रौद्योगिक प्रशासकों का विशेष अभाव है। वर्तमान जगत में एक औद्योगिक प्रशासक के लिए केवल प्राविधिक ज्ञान ही यथेष्ट नहीं है। भाषा पर उसका समुचित अधिकार होना चाहिए तथा उसे वक्तृत्व-कला-दक्ष भी होना चाहिए। उसे देश तथा विश्व की आर्थिक स्थिति तथा वित्तीय ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि इन सबका घना सम्बन्ध प्रौद्योगिक योजनाओं से है। उसे प्रशासन कार्यक्रम का अनुभव चाहिए, अन्यथा उसे लिपिकों के इशारों पर नर्तन करना पड़ता है। परन्तु उसे सबसे अधिक आवश्यकता 'मानव-सम्बन्धी ज्ञान' की है, क्योंकि उसकी अधीनता में कितने ही कर्मचारी कारीगर तथा श्रमिक क्रिया-रत रहते हैं, जिनके साथ कार्य करना तथा उनसे काम कराना असाधारण कार्य होता है। इन कठिनाइयों का अनुभव करते हुए, द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने यह विचार किया कि "विकास के प्रत्येक क्षेत्र में तेजी से बढ़ती हुई संख्या में प्रौद्योगिक कर्मचारियों की आवश्यकता होगी।"

'अभाप्रशिप' की चेष्टाओं के कारण हमारे देश में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम हाल ही में शुरू हुए हैं तथा उच्चतर प्रौद्योगिकी संस्थाओं की सृष्टि हुई है। प्रबन्ध-व्यवस्था के कालिज भी खुल गये हैं। आशा की जाती है कि इस उच्चतर शिक्षा के मिलने के पश्चात्, हमारे देश से भी पर्याप्तरूप में प्राविधिक प्रशासक निकलने लगेंगे।

संकीर्ण पाठ्यक्रम—पिछले शीर्षक की चर्चा से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि हमारे देश के प्राविधिक पाठ्यक्रम संकीर्ण हैं। उनमें केवल तकनीकी विषयों का ही समावेश रहता है। पर एक प्राविधिज्ञ के लिए भाषा, अर्थशास्त्र तथा सामाजिक विज्ञान का ज्ञान ज़रूरी है। तकनीकी शिक्षा की इस कमी को दूर करने के लिए, अमेरिका ने प्राविधिक पाठ्यक्रम में सामान्य शिक्षा एक अनिवार्य विषय रखा गया है। अमेरिकी उच्च शिक्षा सम्बन्धी प्रेसीडेण्ट आयोग का कथन है:

> सामान्य शिक्षा का मूल उद्देश है, व्यावसायिक योग्यता की वृद्धि। इस ज्ञान के कारण, मनुष्य की दृष्टि-संकीर्णता दूर होती है, कार्य-कुशलता बढ़ती है और वह समाज को स्पष्टतर समझ सकता है।†

पर प्रचलित पाठ्यक्रम के सुधार के बिना, सामान्य शिक्षा का समावेश नहीं हो सकता है। 'अभाप्रशिप' ने अपने २२ मार्च, १९५७ के अधिवेशन में यह तय किया है कि एक उचित मान-दण्ड स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि इंजीनियरिंग एवं टेकनोलोजीकल की प्रथम डिग्री के लिए उच्चतर माध्यमिक स्तर के पश्चात् पञ्चवर्षीय अविच्छिन्न कोर्स का आयोजन किया जाय। वर्तमान पाठ्यक्रम के रद्दो-बदल के अतिरिक्त परिषद् का उद्देश्य है नवीन कोर्स में विशेषीकृत शिक्षा के सिवा, कुछ अतिरिक्त विषयों का समावेश करना। परिषद् ने यह काम अपने पाठ्यक्रम-मण्डलों को सौंपा है।

आज की दुनिया में साधारण ज्ञान की आवश्यकता प्रत्येक अर्द्ध-कुशल एवं सामान्य श्रमिक को भी है। बीसवीं शताब्दी मशीन तथा सामूहिक उत्पादन का युग गिना जाता है। दिन-प्रतिदिन मशीन-क्रिया अधिकतर पेंचीदा होती जा रही है। इसे समझने के लिए, लिखने-पढ़ने का ज्ञान एक श्रमिक को भी जरूरी है। अतएव केवल हथौड़ी-विद्या से एक मजदूर या कारीगर का काम इस संसार में अब भली भाँति नहीं चलेगा। यदि उसे भाषा, गणित तथा समाज-शास्त्र का ज्ञान दिया जाय, तो उसके वैयक्तिक विकास के साथ ही उसकी उत्पादन शक्ति की भी अवश्य उन्नति होगी, जिसकी मूलतः आवश्यकता है।

नये कालिजों की माँग.—इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि तृतीय योजना के दौरान में नौ नये टेकनोलोजीकल कालिज एवं सत्ताइस पॉली-टेकनीक स्थापित होंगे। ये मौजूदा संस्थाओं के समान छोटे-मोटे न होंगे, और न उनमें कतिपय विषयों के अध्यापन का बन्दोबस्त होगा। ये वृहत्काय होंगे तथा उनमें विविध विषयों के पढ़ाने का आयोजन होगा। इसी पाठ्यक्रम के अनुसार, उनमें कर्म-शालाओं तथा प्रयोग-शालाओं की व्यवस्था करनी पड़ेगी।

शिक्षकों की कमी.—संस्थानों की संख्या-वृद्धि के साथ-साथ उपयुक्त शिक्षक पर्याप्त रूप में नहीं मिलते हैं। किसी किसी कालिज में जैसे-तैसे शिक्षक नियुक्त

† President's Commission on Higher Education. *Higher Education for American Democracy*, Vol. I, Harper, 1946, p. 61.

होते हैं। अध्यापकों के अभाव के कारण, प्राविधिक शिक्षा के विस्तार में धक्का पहुँचने की सम्भावना है। कर्मदक्ष व्यक्तियों को अध्यापन कार्य में रोकने के लिए उचित वेतन की अवश्य जरूरत है। इसके साथ-साथ केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि तकनीकी अध्यापकगण शिक्षण-कार्य छोड़कर इधर-उधर न भागने पावें।

कुछ वर्षों से नवीन तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम का भी आयोजन किया गया है। इस कार्य के लिए भी काफी अध्यापक नहीं मिलते हैं। कुछ क्षेत्रों के लिए तथा कुछ समय तक तो हमें विदेशियों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा, तथा हमारे कुछ प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को ट्रेनिंग के लिए विदेश भेजना पड़ेगा।

शिक्षा का माध्यम.—२ सितम्बर, १९५६ को श्री नेहरू ने राज्यीय मंत्रियों से चर्चा करते हुए कहा कि यह स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगा। वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए श्री नेहरू का अभिप्राय शायद ठीक ही है; पर भविष्य में सरकारी नीति क्या होगी, यही प्रश्न है। यदि प्राविधिक शिक्षा के माध्यम का निर्णय अनिश्चित काल तक छोड़ दिया जाय तो सभी वैज्ञानिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगी, और विज्ञान की नीति दूसरे विषयों के लिए भी चलाना पड़ेगी। जितनी जल्दी हो सके, मातृ-भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए।

पर विश्वविद्यालय तथा प्राविधिक संस्थाओं में अंग्रेजी एक द्वितीय अनिवार्य विषय रहे। इसके सिवा, भारतीय भाषाओं में, प्राविधिक साहित्य लिखने का यत्न किया जावे। यह स्मरण रहे कि चीन तथा जापान सरीखे पूर्वीय देशों में मातृ-भाषा ही प्राविधिक शिक्षा का माध्यम है, पर अंग्रेजी एवं रशियन सीखने पर यथेष्ट जोर दिया जाता है।

कर्म-शाला-अभ्यास.—हमारी प्राविधिक संस्थाएँ अपने विद्यार्थियों को सर्वाङ्ग-पूर्ण कर्म-शाला-अभ्यास नहीं दे सक रही हैं। यह याद रहे कि दूसरी विद्याओं का अध्यापन तो संस्था की चहारदीवारी के भीतर हो सकता है, पर प्राविधिक शिक्षा संस्थाने के अन्दर सीमित नहीं रह सकती है। मुख्य ज्ञान तो विद्यालय की कर्म-शाला तथा प्रयोग-शाला में अवश्य दिया जायगा, पर यथार्थ व्यावहारिक अभ्यास के लिए बाहरी कर्म-शालाओं, कारखानों तथा खलिहानों की शरण लेनी पड़ती है। तकनीकी शिक्षा की दक्षता बहुत-कुछ भीतरी व्यावहारिक अभ्यास के समन्वय पर निर्भर है। अनेक संस्थानों में उपयुक्त कर्म-शालाओं तथा प्रयोग-शालाओं का अभाव है। इस कारण

बाहरी सहायता और भी आवश्यक है। पर यह सहायता हमारे देश में पर्याप्तरूप से नहीं मिल रही है। सरकार ने सम्प्रति प्रेक्टिकल ट्रेनिंग की उन्नति के लिए कुछ छात्र-वृत्तियों का बन्दोबस्त किया।† पर यह यथेष्ट नहीं है। जहाँ तक बने, सरकार को अपने कल-कारखानों में व्यावहारिक अभ्यास की सुविधा देनी चाहिए। अनेक बिना वजीफा-वाले विद्यार्थी अंश-कालिक नौकरी व्यापारी फर्मों में कर सकते हैं। इस व्यवस्था से कम-से-कम चार लाभ हैं: (१) विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता मिलती है; (२) उनको स्वाभाविक वातावरण में व्यावहारिक अभ्यास मिलता है; (३) उन्हें विभिन्न स्तर के कर्मचारियों तथा श्रमिकों से मिलने का सुअवसर मिलता है; एवं (४) काम करते-करते, उनकी स्थायी नौकरी भी ठीक हो जाती है; और शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्हें नौकरी के लिए यहाँ-वहाँ भटकना नहीं पड़ता है। यह प्रथा अनेक देशों में प्रचलित है।

उत्तर-विद्यालय-शिक्षा.—जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, मनुष्य को ज्ञानार्जन करने का सुअवसर रहता है। पर बहुधा भारतवासियों की शिक्षा स्कूल या कालिज छोड़ने के साथ-साथ समाप्त हो जाती है। विशेषकर यह पन्थ एक प्राविधिज्ञ के लिए हानिकारक है। बीसवीं शताब्दी में प्राविधिक ज्ञान की दिन-प्रति-दिन उन्नति हो रही है। जो कल था, वह आज नहीं है; और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। अतएव एक शिल्पी या यन्त्री अपने पूर्व ज्ञान के भरोसे निष्क्रिय बैठा नहीं रह सकता है। उसे नवीन विद्या के संस्पर्श में रहना पड़ेगा। अतएव उत्तर-विद्यालय-शिक्षा की विशेष आवश्यकता है। हमारे देश में ३८ विश्वविद्यालय, ७४ डिग्री कोर्सवाली तथा १२९ डिप्लोमा-कोर्स-वाली प्राविधिक संस्थाएँ हैं। पर इनका ध्यान अभी तक इस ओर नहीं गया है। उन्हें प्राविधिज्ञों के लिए पुनर्संजीवन कोर्स का आयोजन करना चाहिए, ताकि उन्हें आधुनिकतम विद्या का लाभ मिले और उनके ज्ञान में जंग न लगे।

हमारे कारीगरों तथा श्रमिकों के लिए अंश-कालिक कोर्स की अति आवश्यकता है। ये कोर्स सायंकाल में चलाये जा सकते हैं, ताकि नौकरी करते हुए भी वे अपना काम सीखें। उनकी औद्योगिक निपुणता की वृद्धि करने का यह एक अचूक उपाय है। इसके अतिरिक्त इन लोगों की अवकाश-शिक्षा का आयोजन करना पड़ेगा। हम देखते हैं कि हमारे श्रमिकों की फुरसत का समय गप्पें हाँकने, बिड़ी पीने या पर निन्दा करने में बीत जाता है। कई तो व्यभिचार में डूबे रहते हैं या कलारियों की शरण में पड़े रहते हैं। परन्तु उनके इस अवकाश-काल का सदुपयोग हो सकता है, यदि उनके लिए समाज

† देखिए, पृष्ठ २०८।

शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया जाय। किन्तु हमारी औद्योगिक संस्थाएँ, इस ओर उदासीन हैं। अनेक पाश्चात्य देशों में मजदूरों के लिए नाट्य-शालाएँ, स्नानागार, क्रीड़ा-स्थल, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था है। ऐसी समुचित सुविधाओं के कारण श्रमिक अपनी थकावट को भूल जाते हैं, उनका पैसा बरबाद नहीं होता है तथा उनके व्यक्तित्व का विकास पूर्णता की ओर उन्मुख होता है। हमारे देश में ऐसी परिकल्पनाएँ इस समय स्वप्नवत् प्रतीत होती हैं।

श्रमिकों के लिए उत्तर-विद्यालय-शिक्षा का आयोजन पाश्चात्य देशों में जरूरी समझा जाता है। उदाहरणार्थ, सोवियट रूस में किसान तथा मजदूरों के लिए अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा आरम्भ हो गयी है। शिक्षा रात्रि-शालाओं में दी जाती है। पत्र-व्यवहार-द्वारा भी शिक्षा का प्रबन्ध है। ये पाठ्यक्रम लोक-प्रिय हैं। प्रायः २०,००,००० व्यक्ति इस शिक्षा का लाभ उठा चुके हैं, और १२,००,००० श्रमिक इस आयोजन का लाभ प्रति वर्ष ले रहे हैं। सरकार इस कार्य के लिए प्रतिवर्ष २०० करोड़ रुबल खर्च करती है।†

अनुसन्धान.—स्वाधीन भारत ने अनुसन्धान की ओर विशेष ध्यान दिया है, तथा दस ही वर्ष में अनेक शोध-प्रयोग-शालाएँ स्थापित हुई हैं। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमें मशीन, कल-पुर्जे तथा अन्न-वस्त्र के लिए भी दूसरे देशों की ओर अब भी निहारना पड़ता है। हमारे देश की पर्याप्त सम्पत्ति बाहर चली जाती है, हम देश की बेकारी की समस्या का समाधान नहीं कर सक रहे हैं, तथा उपयुक्त हथियार-औजार के अभाव के कारण हमारी योजनाओं का ठीक-ठीक विस्तार नहीं हो पा रहा है। अतएव औद्योगिक अनुसन्धान की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

उदाहरणार्थ, उत्पादन-शोध लीजिए। इस शोध का लक्ष्य हो: (१) उत्पादनों की गुणात्मक प्रगति; (२) माल, क्रियाओं तथा कलाओं की वृद्धि; (३) उत्पादन-क्रिया में किफायत करना; (४) उत्पादन-सम्बन्धी-क्रियाओं की तकलीफों को रोकना; (५) एक स्तरोन्नयन स्थापित करना; एवं (६) क्रेता-विक्रेताओं के मध्य सद्भाव फैलाना।

इस प्रत्येक क्षेत्र में गवेषणा का प्रयोजन है। देश की जरूरतों को देखते हुए भारत में आज बौद्धिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता है।

† *Soviet News*, September 17, 1955.

कृषि, उद्योग, स्वास्थ्य आदि का नवीनीकरण इस शोध के बिना नहीं हो सकता है, अतएव हमारे अनुसन्धान कर्त्तागण इस ओर विशेष ध्यान देवें ।

सरकार, उद्योग तथा प्राविधिक शिक्षा में सहयोग.—अन्य शिक्षा-क्षेत्र तो अपने पाँव पर खड़े रह सकते हैं, पर प्राविधिक शिक्षा एककलन नीति का अवलम्बन नहीं कर सकती है । सरकार तथा उद्योग से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है । सरकार कुछ प्राविधिक संस्थाएँ स्थापित करती है, कुछ को आर्थिक अनुदान देती है, एवं शोध तथा व्यावसायिक अभ्यास का बन्दोबस्त करती है । उसी प्रकार प्राविधिक शिक्षा को भी राज्य की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना चाहिए; जैसे, किस क्षेत्र में तथा कितने प्रविधिज्ञों की आवश्यकता है । इसके लिए उचित सर्वेक्षण होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त प्राविधिक शिक्षा तथा उद्योग के बीच सहयोग की आवश्यकता है । शिक्षा संस्थाएँ उद्योगों की माँगों को पूरा किया करती हैं । पर उद्योग तकनीकी विद्यार्थियों को व्यवहारिक अभ्यास की सुविधा प्रदान करता है, तथा शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त उन्हें नौकरी देता है । किन्तु प्रत्येक उद्योग-मूलक शिक्षा क्षेत्र का ध्येय सब समय स्पष्ट रहना चाहिए । जैसा कि प्रसिद्ध अँग्रेज विद्वान् लार्ड यूस्टेस पर्सी का कथन है :

> हमें उद्योग को सूचना देनी होगी कि शिक्षा का ढाँचा आज क्या है, इसका लक्ष्य क्या है, हम इसमें क्या सुधार करना चाहते हैं; और हमें व्यापार तथा उद्योग की ज़रूरतों की ओर ध्यान देते हुए उनके उपयुक्त यंत्र औजार तैयार करना पड़ेगा । साथ ही उनके अनुकूल नवीन योजनाएँ चलानी पड़ेंगी ।

उपसंहार

इस अध्याय में भारतीय प्राविधिक शिक्षा की वर्तमान रूपरेखा की चर्चा की गयी है, तथा उससे सम्बन्धित कतिपय समस्याओं पर विचार किया गया है । बीसवीं शताब्दी विज्ञान का युग है । विज्ञान की प्रगति को न हम रोक सकते हैं और न रोकना चाहते हैं । यदि हम सभ्य राष्ट्रों में अपनी गणना कराना चाहते हैं, तो हमें भी उसी स्रोत के साथ आगे बढ़ना पड़ेगा ।

हमारी पंच-वर्षीय योजनाओं का भी ध्येय है, विशाल कारखानों एवं फेक्टरियों की स्थापना, उनके उपयुक्त शिल्पी, यन्त्री तथा प्राविधिज्ञों को तैयार करना तथा देश

की आर्थिक उन्नति करना। पर हमें याद रखना चाहिए कि सभ्यता अर्थ पर नहीं, बल्कि मानव विकास पर निर्भर रहती है। जापान तथा जर्मनी का उदाहरण लीजिए। द्वितीय विश्व-युद्ध के फल स्वरुप ये देश धूल में मिला दिये गये थे। शहर, बन्दरगाह, फेक्टरी, कारखाने सभी तहस-नहस हो गये थे, खाने को अन्न तथा पहनने-ओढ़ने को वस्त्र न थे। इस प्रकार इन देशों का आर्थिक सर्वनाश हुआ, पर मानवी शक्ति अक्षुण्ण रही। उसी शक्ति ने देश को फिर से नये सिरे से बसाया। ध्वंसावशेषों पर नवीन अट्टालिकाएँ, नये कारखाने फिर से सिर ऊँचा कर खड़े हुए। इस प्रकार पुरातन काया में नूतन जीवन का संचार हुआ। ये राष्ट्र फिर से उठ बैठे। यहाँ तक कि हाल ही में पश्चिम जर्मनी ने हमारे देश की कृषि की उन्नत्ति के लिए बीस लाख मार्क के अनुदान की घोषणा की है। हमारे वित्त-मंत्री श्री मोरारजी देसाई को अपनी पंच-वर्षीय योजनाओं को चलाने के लिए भिक्षा झोली लेकर देश-विदेश घूमते रहना पड़ना है। न जाने कब हम अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे! हमें सदा याद रखना चाहिए कि किसी भी देश की उन्नति मानव-शक्ति के विकास पर निर्भर रहती है, न कि केवल आर्थिक संचय पर।

नवाँ अध्याय

शिक्षक प्रशिक्षण

पूर्व-पृष्ठिका

भूमिका.—संसार में शिक्षा एक प्रधानतम व्यवसाय क्षेत्र है। भारत में आज बारह लाख से अधिक व्यक्ति शिक्षण-कार्य-द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं। जीवन-क्षेत्र में अध्यापन का महत्व सर्वाधिक है। शिक्षकों का सम्बन्ध केवल एक बृहत् छात्र-समुदाय से ही नहीं रहता, बरन् विभिन्न आयु के विद्यार्थियों से भी रहता है।

प्राचीन एवं मध्य युगीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक-प्रशिक्षण का कोई विधिवत् नियम न था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक छात्राध्यापक प्रणाली (मानीटर पद्धति) प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार सम्पूर्ण स्कूल या कक्षा कतिपय एकरूप टुकड़ियों में बाँट दी जाती थी। प्रत्येक टुकड़ी एक मानीटर या वयस्क विद्यार्थी के मातहत में रहती थी। मानीटर अपनी टुकड़ी को पढ़ाता था। अन्त में टुकड़ी के विद्यार्थीगण अपना पाठ शिक्षक को सुनाते थे।

डा० एन्ड्रू बेल ने, जो कि मद्रास सैनिक अनाथालय के सुपरिंटेण्डेण्ट थे, इसी प्रथा को इस संस्था में अपनाया (सन् १७८७ ई०)। बाद को उन्होंने इसका प्रचार ग्रेट ब्रिटेन में भी किया। सन् १८०१–१८४५ की अवधि में उस देश के प्राथमिक स्कूलों में यही पद्धति प्रचलित थी। यह प्रथा कम खर्चीली थी, तथा शिक्षक-समस्या समाधान की अमोघ औषधि थी। इस प्रथा के कई नाम-करण हुए : मानीटर-पद्धति, मद्रास-प्रथा, लैंकास्ट्रियन पद्धति, पेस्टालोजी-विधि, ग्लासगो-प्रथा, इत्यादि। वस्तुतः यह प्रणाली भारतीय प्रचलित देशी पद्धति का अनुकरण थी।

शिक्षक-प्रशिक्षण एक नवीन कला है। भारत में इसका अभ्युदय आधुनिक युग में ही हुआ है। इसके विकास का अध्ययन तीन मुख्य कालों में किया जा सकता है : (१) छात्राध्यापक-प्रणाली, (२) शिक्षक ट्रेनिंग और (३) शिक्षक-प्रशिक्षण।

छात्राध्यापक प्रणाली।—इस काल का विस्तार सन् १८०१ से सन् १८८२ तक है। इस अवधि में शिक्षक-प्रशिक्षण को विशेष मान्यता नहीं दी गयी थी। कुछ प्रशिक्षण केन्द्र यहाँ-वहाँ अवश्य खुले थे, पर ये प्राथमिक शिक्षकों के निमित्त खोले गये थे, तथा अधिकतर ये गैरसरकारी संस्थान थे।

आरम्भ में डेनिश मिशनरी पादरियों ने अपने स्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए कुछ प्रयत्न किये, तथा श्रीरामपूर में डा० कारे ने एक नार्मल स्कूल स्थापित् किया। तत्पश्चात्, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता की शिक्षा-समितियों ने शिक्षक प्रशिक्षण की आवश्यकता अनुभव की और इसके लिए कुछ केन्द्र खोले। बम्बई देशी शिक्षा मण्डल ने २८ प्राथमिक शिक्षा-व्यवस्थापकों को प्रशिक्षित किया तथा उन्हें प्रेसीडेन्सी के विभिन्न भागों में प्राथमिक शिक्षण के निरीक्षण के लिए भेजा (सन् १८२६)। मद्रास में सर टामस मनरो ने शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए एक केन्द्रीय स्कूल खोला (सन् १८२६)। कलकत्ता में स्थानीय स्कूल-समिति ने एक शिक्षक-प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किया (सन् १८१९)। तत्पश्चात् कलकत्ता महिला शिक्षा समिति ने भी शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण के निमित्त एक दूसरा केन्द्र खोला।

इन गैरसरकारी संस्थाओं के सिवा कुछ सरकारी संस्थाएँ भी स्थापित हुईं। उदाहरणार्थ, बम्बई एलफिन्स्टन इन्स्टीटयूशन, पूना संस्कृत स्कूल एवं सूरत अंग्रेजी स्कूल में नार्मल कक्षाएँ आरम्भ हुईं। सन् १८४९ में कलकत्ते में एक नार्मल स्कूल स्थापित हुआ, और इसके दस वर्षों के भीतर बंगाल में और भी तीन नार्मल स्कूल खोले गये। उत्तर-पश्चिम प्रदेश में आगरा, मेरठ तथा बनारस में क्रमशः १८५२, १८५६ तथा १८५७ में नार्मल स्कूल स्थापित हुए।

वुड के घोषणा-पत्र ने शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था पर बल दिया। इसने आदेश दिया कि प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में नार्मल स्कूल खोले जावें।† इस आदेश की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, तथा सन् १८५९ के घोषणा-पत्र को कहना ही पड़ा कि "कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के निर्देश के अनुसार, शिक्षक-प्रशिक्षण-केन्द्र यथेष्ट संख्या में स्थापित नहीं हुए हैं। इस ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।"‡ सन् १८५९ के पश्चात् निर्मित अनुदान-प्रथा में भी, प्रशिक्षित अध्यापकों के वेतन के लिए अनुदान की

† J. A. Richie. *Selections from Educational Records, Vol. II.* p. 38.

‡ *Stanley's Despatch.* para 44.

विशेष व्यवस्था रखी गयी। इन विधेयकों के फल-स्वरूप शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया। सन् १८८२ में ब्रिटिश भारत में १०६ नार्मल स्कूल थे, शिक्षार्थियों की संख्या ३,८८६ थी तथा प्रशिक्षण पर चार लाख रुपये व्यय किये गये थे।

यह ध्यान रहे कि ये प्रशिक्षण-संस्थाएँ केवल प्रायमरी स्कूलों के शिक्षकों के लिए थीं। बहुधा शिक्षार्थी प्रायमरी स्कूल पास विद्यार्थी हुआ करते थे। पाठ्य-क्रम में स्कूल के विषयों के प्रति विशेष बल दिया जाता था, ताकि शिक्षार्थीगण इसका उपयोग अपनी शिक्षा-समाप्ति के बाद स्कूलों में कर सकें। उस समय शिक्षण-विधि पर विशेष ध्यान न था। शुरू-शुरू में शिक्षार्थियों को मानीटर-पद्धति का प्रशिक्षण दिया जाता था। बाद में एक उम्मीदवार-पद्धति शुरू हुई। इसके अनुसार एक पद-शिक्षार्थी को कुछ समय तक एक अनुभवी शिक्षक के निरीक्षण में काम करना पड़ता था। उदाहरणार्थ, बम्बई शिक्षा-विभाग का तत्कालीन एक आदेश पढ़िए :

> प्रत्येक तालुका से कुछ विद्यार्थी चुने जावें। ये तीन वर्षों तक तीन से पाँच रुपये मासिक स्टाइपेण्ड पर किसी सफल शिक्षक के निरीक्षण में उम्मीदवार की भाँति काम करें। तत्पश्चात् वे डिस्ट्रिक्ट ट्रेनिंग स्कूल में छः रुपये मासिक स्टाइपेण्ड पर भरती किये जायें।

अब तक माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। केवल दो ट्रेनिंग कालिज स्थापित हुए थे : एक मद्रास में (सन् १८५६) तथा दूसरा, लाहोर में (सन् १८८१)। इनमें स्नातकों और उपस्नातकों को साथ ही प्रशिक्षित किया जाता था। पाठ्यक्रम में स्कूल के शिक्षणेतर विषयों के प्रति अधिक ध्यान दिया जाता था, किन्तु व्यावसायिक विषयों का विशेष ध्यान न था।

शिक्षक-ट्रेनिंग (१८८२–१९४७)—इस प्रकार शुरू शुरू में ट्रेनिंग संस्थाओं के पाठ्यक्रम में अध्यापन विधि का विशेष स्थान न था। सन् १८८२ के भारतीय शिक्षा आयोग तथा सन् १९०४ की शिक्षा-नीति ने प्रचलित शिक्षक-प्रशिक्षण को एक नवीन रूप प्रदान किया। प्रथम निकाय ने सिफारिश की कि नार्मल और ट्रेनिंग संस्थाएँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में आवश्यकतानुसार स्थापित की जावें।† माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए आयोग ने प्रस्तावित किया :

---

† As quoted by Bhagwan Dayal. *The Development of Modern Indian Eaucation.* Bombay, Longmans, 1955. p. 474.

'अध्यापन सिद्धान्त एवं प्रयोग' पर एक परीक्षा आरम्भ की जाय। इस परीक्षा में सफल होने पर ही शिक्षकगण स्थायी रूप से क्या सरकारी और क्या गैरसरकारी माध्यमिक स्कूलों में नियुक्त हों।†

कमीशन ने इस बात पर बल दिया कि स्नातकों तथा उपस्नातकों का प्रशिक्षण विभिन्न प्रकार का हो। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में छ: ट्रेनिंग कालिज (मद्रास, लाहोर, राजमहेन्द्री, कुर्सेयांग, जबलपुर तथा अलाहाबाद) एवं पचास ट्रेनिंग स्कूल माध्यमिक शिक्षकों के लिए थे। कुछ प्रान्तों ने 'अध्यापन प्रमाण-पत्र-परीक्षा' की व्यवस्था भी कर ली थी।

भारत-सरकार की सन् १९०४ की शिक्षा नीति ने शिक्षक-प्रशिक्षण के विभिन्न विषयों पर सुचारुरूप से अपना मत व्यक्त किया। शिक्षा-नीति ने प्रस्ताव किया :

१. स्नातक शिक्षकों का कोर्स एक वर्ष का हो तथा प्रशिक्षण समाप्त होने पर सफलीभूत शिक्षार्थियों को विश्वविद्यालयीय डिग्री या डिप्लोमा मिले। पाठ्यक्रम में शैक्षणिक सिद्धान्तों तथा अध्यापन-अभ्यास पर विशेष जोर दिया जाय। उप-स्नातक शिक्षकों का प्रशिक्षण कोर्स दो वर्ष का हो। अध्यापन-विधि के अतिरिक्त, इस पाठ्यक्रम में साधारण ज्ञान के प्रति लक्ष्य रहे।

२. शिक्षण-सिद्धान्तों के अध्यापन का अभ्यास के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध रहे। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक प्रशिक्षण महाविद्यालय से सम्बन्धित एक अभ्यास विद्यालय रहे।

३. ट्रेनिंग महाविद्यालय तथा माध्यमिक स्कूलों के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध रहे, ताकि प्रशिक्षण समाप्त होने पर, प्रत्येक शिक्षार्थी महाविद्यालय में सिखाये हुए सिद्धान्तों का यथोचित अभ्यास करे।‡

इस घोषणा के फल-स्वरूप ट्रेनिंग संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हुई, स्नातकों तथा उपस्नातकों के प्रशिक्षण का स्वतन्त्र-रूप से अलग-अलग आयोजन प्रारम्भ हुआ—स्नातकों के लिए एक-वर्षीय कोर्स तथा उप-स्नातकों के लिए द्वि-वर्षीय कोर्स। इसके साथ-साथ, प्रत्येक ट्रेनिंग संस्था में अभ्यास विद्यालय स्थापित हुए। सन् १९१३ की सरकारी शिक्षा-नीति ने इस कार्य को और भी प्रभावित किया। इस नीति ने स्पष्ट रूप से ही

† *Report of the Indian Education Commission*. para 2.

‡ *Government of India's Resolution on Educational Policy*, 1904, para 39.

कहा, "प्रशिक्षण के बिना किसी भी शिक्षक को पढ़ाने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए।"† कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने शिक्षण में अनुसन्धान, प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या-वृद्धि की आवश्यकता तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग खोलने का परामर्श दिया। हार्टग समिति ने प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण के विषय में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये, जैसे : प्रशिक्षण की अवधि को बढ़ाना, प्रशिक्षण महाविद्यालयों में योग्य अध्यापकों की नियुक्ति, पुनर्संजीवन कोर्सों का आयोजन, इत्यादि।

उपर्युक्त सुझावों के कारण, कई विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग स्थापित हुए, प्रशिक्षण-अनुसन्धान-डिग्री आरम्भ हुई, ट्रेनिंग संस्थाओं की गुणात्मक उन्नति हुई तथा पुनर्संजीवन कोर्सों का प्रारम्भ हुआ। देश में तीन विभिन्न प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाओं की सृष्टि हुई : (१) स्नातकों के लिए ट्रेनिंग कालिज, (२) उप-स्नातकों या मिडिल स्कूल के शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग स्कूल तथा (३) प्रायमरी स्कूलों के लिए ट्रेनिंग या नार्मल स्कूल। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की प्रशिक्षण-व्यवस्था इस देश में अब तक अविदित थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति (सन् १९४७) तक भारत में ३४ शिक्षण महाविद्यालय, ३३९ (पुरुषों के लिए) नार्मल स्कूल तथा १८९ (स्त्रियों के लिए) नार्मल स्कूल खुल चुके थे। इनमें शिक्षार्थियों की संख्या क्रमशः २,४९३, २३,७५४ और १०,१९३ थी।‡

शिक्षक-प्रशिक्षण (१९४७ ६०).—इस प्रकार शिक्षकों के ट्रेनिंग की प्रगति सन् १९४७ के पूर्व हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में नये विचार उत्पन्न हुए। इसके अनेक कारण हैं। प्रथमतः, स्वाधीन भारत में अनेक शिक्षा-योजनाएँ चलायी जा रही हैं। इनको सफलीभूत बनाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित शिक्षकों की पर्याप्त रूप में आवश्यकता है। द्वितीयतः, पूर्व स्वातन्त्र्योत्तरकाल की शिक्षा नीति आज नहीं चल सकती हैं। जन-तान्त्रिक राज्य में यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित शिक्षकगण लोक-तन्त्रीय गुण तथा पद्धति से सम्पूर्ण रूप में परिचित हों। तृतीयतः, सम्पूर्ण विश्व में शिक्षकों की पूर्व-अध्यापन-क्रिया में आमूल परिवर्तन हो रहा है। इसका सम्बन्ध विद्यार्थियों के सम्पूर्ण जीवन से है। इसकी परिधि कतिपय पाठ्य-पिरियडों तक मर्यादित नहीं रह सकती है। प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा-शास्त्री विलियम किलपेक्ट्रिक ने कहा ही है, "जानवर तथा सर्कस के नट ट्रेण्ड होते हैं, शिक्षकगण प्रशिक्षित होते हैं।"

---

† *Government of India's Resolution on Educational Policy*, 1913, para 51.

‡ *Progress of Education in India*, 1937–47, Vol. I, p. 31.

> 'अध्यापन सिद्धान्त एवं प्रयोग' पर एक परीक्षा आरम्भ की जाय। इस परीक्षा में सफल होने पर ही शिक्षकगण स्थायी रूप से क्या सरकारी और क्या गैरसरकारी माध्यमिक स्कूलों में नियुक्त हों।†

कमीशन ने इस बात पर बल दिया कि स्नातकों तथा उपस्नातकों का प्रशिक्षण विभिन्न प्रकार का हो। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में छः ट्रेनिंग कालिज (मद्रास, लाहोर, राजमहेन्द्री, कुर्सेयांग, जबलपुर तथा अलाहाबाद) एवं पचास ट्रेनिंग स्कूल माध्यमिक शिक्षकों के लिए थे। कुछ प्रान्तों ने 'अध्यापन प्रमाण-पत्र-परीक्षा' की व्यवस्था भी कर ली थी।

भारत-सरकार की सन् १९०४ की शिक्षा नीति ने शिक्षक-प्रशिक्षण के विभिन्न विषयों पर सुचारुरूप से अपना मत व्यक्त किया। शिक्षा-नीति ने प्रस्ताव किया :

> १. स्नातक शिक्षकों का कोर्स एक वर्ष का हो तथा प्रशिक्षण समाप्त होने पर सफलीभूत शिक्षार्थियों को विश्वविद्यालयीय डिग्री या डिप्लोमा मिले। पाठ्यक्रम में शैक्षणिक सिद्धान्तों तथा अध्यापन-अभ्यास पर विशेष जोर दिया जाय। उप-स्नातक शिक्षकों का प्रशिक्षण कोर्स दो वर्ष का हो। अध्यापन-विधि के अतिरिक्त, इस पाठ्यक्रम में साधारण ज्ञान के प्रति लक्ष्य रहे।
>
> २. शिक्षण-सिद्धान्तों के अध्यापन का अभ्यास के साथ संश्लिष्ट सम्बन्ध रहे। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक प्रशिक्षण महाविद्यालय से सम्बन्धित एक अभ्यास विद्यालय रहे।
>
> ३. ट्रेनिंग महाविद्यालय तथा माध्यमिक स्कूलों के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध रहे, ताकि प्रशिक्षण समाप्त होने पर, प्रत्येक शिक्षार्थी महाविद्यालय में सिखाये हुए सिद्धान्तों का यथोचित अभ्यास करे।‡

इस घोषणा के फल-स्वरूप ट्रेनिंग संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हुई, स्नातकों तथा उपस्नातकों के प्रशिक्षण का स्वतन्त्र-रूप से अलग-अलग आयोजन प्रारम्भ हुआ—स्नातकों के लिए एक-वर्षीय कोर्स तथा उप-स्नातकों के लिए द्वि-वर्षीय कोर्स। इसके साथ-साथ, प्रत्येक ट्रेनिंग संस्था में अभ्यास विद्यालय स्थापित हुए। सन् १९१३ की सरकारी शिक्षा-नीति ने इस कार्य को और भी प्रभावित किया। इस नीति ने स्पष्ट रूप से ही

---

† *Report of the Indian Education Commission*. para 2.

‡ *Government of India's Resolution on Educational Policy*, 1904, para 39.

कहा, "प्रशिक्षण के बिना किसी भी शिक्षक को पढ़ाने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए।"† कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन ने शिक्षण में अनुसन्धान, प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या-वृद्धि की आवश्यकता तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग खोलने का परामर्श दिया। हार्टग समिति ने प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण के विषय में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये, जैसे : प्रशिक्षण की अवधि को बढ़ाना, प्रशिक्षण महाविद्यालयों में योग्य अध्यापकों की नियुक्ति, पुनर्संजीवन कोर्सों का आयोजन, इत्यादि।

उपर्युक्त सुझावों के कारण, कई विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग स्थापित हुए, प्रशिक्षण-अनुसन्धान-डिग्री आरम्भ हुई, ट्रेनिंग संस्थाओं की गुणात्मक उन्नति हुई तथा पुनर्संजीवन कोर्सों का प्रारम्भ हुआ। देश में तीन विभिन्न प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाओं की सृष्टि हुई : (१) स्नातकों के लिए ट्रेनिंग कालिज, (२) उप-स्नातकों या मिडिल स्कूल के शिक्षकों के लिए ट्रेनिंग स्कूल तथा (३) प्रायमरी स्कूलों के लिए ट्रेनिंग या नार्मल स्कूल। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की प्रशिक्षण-व्यवस्था इस देश में अब तक अविदित थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति (सन् १९४७) तक भारत में ३४ शिक्षण महाविद्यालय, ३३९ (पुरुषों के लिए) नार्मल स्कूल तथा १८९ (स्त्रियों के लिए) नार्मल स्कूल खुल चुके थे। इनमें शिक्षार्थियों की संख्या क्रमशः २,४९३, २३,७५४ और १०,१९३ थी।‡

शिक्षक-प्रशिक्षण (१९४७ ६०).—इस प्रकार शिक्षकों के ट्रेनिंग की प्रगति सन् १९४७ के पूर्व हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में नये विचार उत्पन्न हुए। इसके अनेक कारण हैं। प्रथमतः, स्वाधीन भारत में अनेक शिक्षा-योजनाएँ चलायी जा रही हैं। इनको सफलीभूत बनाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षित शिक्षकों की पर्याप्त रूप में आवश्यकता है। द्वितीयतः, पूर्व स्वातन्त्र्योत्तरकाल की शिक्षा नीति आज नहीं चल सकती है। जन-तान्त्रिक राज्य में यह आवश्यक है कि प्रशिक्षित शिक्षकगण लोक-तन्त्रीय गुण तथा पद्धति से सम्पूर्ण रूप में परिचित हों। तृतीयतः, सम्पूर्ण विश्व में शिक्षकों की पूर्व-अध्यापन-क्रिया में आमूल परिवर्तन हो रहा है। इसका सम्बन्ध विद्यार्थियों के सम्पूर्ण जीवन से है। इसकी परिधि कतिपय पाठ्य-पिरियडों तक मर्यादित नहीं रह सकती है। प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा-शास्त्री विलियम किलपेक्ट्रिक ने कहा ही है, "जानवर तथा सर्कस के नट ट्रेण्ड होते हैं, शिक्षकगण प्रशिक्षित होते हैं।"

---

† *Government of India's Resolution on Educational Policy*, 1913, para 51.

‡ *Progress of Education in India*, 1937–47, Vol. I, p. 31.

अन्ततः, बुनियादी शिक्षा के प्रादुर्भाव ने भारतीय शिक्षा-जगत् में एक क्रान्ति उत्पन्न की है। यह नवीन शिक्षा, विद्यार्थियों के जीवन, उनके सम्पूर्ण वातावरण तथा सामाजिक आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान देती है। इस विचार-धारा ने हमारे देश की शिक्षक-प्रशिक्षण पद्धति को एक नया जीवन दिया है। इसके साथ-साथ राधाकृष्णन आयोग तथा माध्यमिक शिक्षा-आयोग की सिफारिशों के कारण यह विचार-धारा और भी प्रभावित हुई है। प्रथम कमीशन ने कहा ही है, "यथार्थ शिक्षा कोरी स्कूली पढ़ाई तथा घुटन्त विद्या पर निर्भर नहीं रहती है। इसका सम्बन्ध है दैनिक जीवन तथा आशयपूर्ण कार्य-कलाप से।" † तात्पर्य यह है कि पूर्व-अध्यापन पाठ्यक्रम के सुधार की पर्याप्त चेष्टा हो रही है। इसका ध्येय है, 'अध्यापक-ट्रेनिंग' से 'शिक्षक-प्रशिक्षण' की ओर अग्रसर होगा।

वर्तमान-परिस्थिति

भूमिका.—स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात्, इस देश में शिक्षक-प्रशिक्षण का यथेष्ट विस्तार हुआ है। सन् १९४७–४८ में शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं की छात्र-संख्या ४२,१५७ थी; सन् १९५६–५७ में यह संख्या, १,०५,१९४ तक पहुँची गयी। इसी अवधि में खर्च १·१६ करोड़ रुपये से २·६३ करोड़ रुपये बढ़ गया।

आज इस देश में शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएँ साधारणतः छः प्रकार की हैं :

(१) पूर्व-प्राथमिक प्रशिक्षण केन्द्र;
(२) नार्मल या प्रायमरी ट्रेनिंग स्कूल;
(३) माध्यमिक ट्रेनिंग स्कूल (उपस्नातक शिक्षकों के लिए);
(४) ट्रेनिंग कालिज (स्नातक शिक्षकों के लिए);
(५) विशेषज्ञ ट्रेनिंग-केन्द्र; एवं
(६) शिक्षिका-प्रशिक्षण-संस्थाएँ।

पूर्व-प्राथमिक प्रशिक्षण केन्द्र.—वर्तमान समय में इस देश की पूर्व-प्राथमिक-प्रशिक्षण-स्थिति शैशवावस्था में है। सारे देश में केवल २४ पूर्व-प्राथमिक प्रशिक्षण-केन्द्र हैं। इनमें से तीन सरकारी संस्थाएँ हैं, और शेष स्वसञ्चालित हैं।‡

† *University Education Commission's Report.* p. 215.

‡ *Report of the All-India Child Education Conference.* 1956. p. 67.

उच्चतर माध्यमिक स्तर.—निम्न माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम में सभी विषय अनिवार्य हैं। इस न्यूनतम ज्ञान की आवश्यकता सभी शिक्षित मनुष्य को रहती है। पर उच्च माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर, विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्य-विषयों का प्रबन्ध होना चाहिए। इसके कई कारण हैं। प्रथमतः, निम्न माध्यमिक स्तर की पढ़ाई की बुनियाद पर अब विशेषीकृत अध्ययन शुरू हो सकता है। द्वितीयतः, किशोरों की विभिन्न क्षमताओं का ठीक अनुमान १३-१४ वर्ष की आयु के पूर्व नहीं लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उच्चतर माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने पर आधे से अधिक विद्यार्थियों के सामने दाल-रोटी का प्रश्न आ जाता है। इस कारण उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का एक विशेष ध्येय होना चाहिए — प्रत्येक विद्यार्थी को एक व्यवसाय या उद्योग के लिए तैयार करना। इन ज़रूरतों को सामने रखते हुए दो विशिष्ट निकायों द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम पर विचार किया जाय, अर्थात् माध्यमिक शिक्षा आयोग तथा अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद् **(अभामाशिप)**।

१. माध्यमिक शिक्षा आयोग के प्रस्ताव.—इस आयोग ने सिफ़ारिश की है कि उच्चतर माध्यमिक स्तर में निम्न-लिखित विषय सम्मिलित किये जायँ :

अ. भाषाएँ.—(१) मातृ-भाषा या क्षेत्रीय भाषा या मातृ-भाषा तथा सांस्कृतिक भाषा सम्मिलित एक पाठ्यक्रम, (२) इनमें से कोई भी एक भाषा : (अ) हिन्दी (जिनकी यह भाषा मातृ-भाषा न हो), (आ) सरल अंग्रेजी (जिन्होंने मिडिल स्कूल में अंग्रेजी न पढ़ी हो), (इ) उच्च अंग्रेजी (इस भाषा का जिन्होंने पहले अध्ययन किया हो), (ई) एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी को छोड़कर), (उ) एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंग्रेज़ी को छोड़कर), (ऊ) एक सांस्कृतिक भाषा।

आ. (१) समाज शास्त्र और (२) सामान्य विज्ञान (गणित के साथ) — प्रथम दो वर्ष।

इ. स्थानिक वातावरण की ओर ध्यान रखते हुए, इनमें से एक क्राफ्ट : (१) कताई तथा बुनाई, (२) बढ़ईगिरी, (३) धातु का काम, (४) बागवानी, (५) दर्ज़ीगिरी, (६) छापने की कला, (७) कारखाने का काम, (८) सूचिकर्म तथा कसीदाकारी, और (९) मूर्ति-कला।

ई. निम्न-लिखित वर्गों में से किसी भी एक वर्ग के कोई भी तीन विषय : **(१) माननीय विषय**—(अ) एक सांस्कृतिक भाषा या अन्य कोई

भाषा, जो कि अ(२) में न ली गयी हो, (आ) इतिहास, (इ) भूगोल, (ई) सरल अर्थ और नागरिक शास्त्र, (उ) सरल मानस और तर्क शास्त्र, (ऊ) गणित, (ए) संगीत, (ऐ) गृह-विज्ञान। **(२) विज्ञान** — (अ) पदार्थ विज्ञान, (आ) रसायन शास्त्र, (इ) प्राणी-विज्ञान, (ई) भूगोल, (उ) गणित, (ऊ) सरल शरीर तथा आरोग्य विज्ञान। **(३) प्राविधिक विषय.** — (अ) व्यावहारिक गणित और भुमिति रेखा चित्र, (आ) व्यावहारिक विज्ञान, (इ) सरल मैकेनिकल इंजिनियरिंग, सरल इलेक्ट्रिकल इंजिनियरिंग। **(४) वाणिज्य विषय.** — (अ) [illegible] अभ्यास, (आ) लेखा-कार्य, (इ) व्यावसायिक भूगोल या सरल अर्थ और नागरिक शास्त्र, (ई) शॉर्टहेण्ड तथा टाईपिंग। **(५) कृषि.** — (अ) साधारण कृषि, (आ) पशु-पालन, (इ) उद्यान-विद्या तथा बागवानी, (ई) कृषि-सम्बन्धी रसायन तथा वनस्पति-शास्त्र। **(६) ललित कलाएँ.**— (अ) कला-इतिहास, (आ) नकशा तथा रेखा-चित्र, (इ) चित्र-कला, (ई) मूर्ति-कला, (उ) संगीत, (ऊ) नृत्य। **(७) गृह-विज्ञान.** — (अ) गृह अर्थशास्त्र, (आ) आहार तथा पाक-कला, (इ) मातृ-कला तथा शिशु-पालन, (ई) गृह-प्रबन्ध तथा सुश्रूषा।†

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होगा कि आयोग ने दो प्रकार के विषयों का सुझाव दिया है : (१) अनिवार्य अर्थात् **अ, आ, इ** समूह और (२) बहुमुखी अर्थात् **ई** समूह। इसके अन्तर्गत **ई** समूह के ७ वर्ग आ जाते हैं। इनमें से किसी भी वर्ग के तीन विषय लिये जा सकते हैं। आवश्यकतानुसार दूसरे प्रकार के विविध विषय भी अवश्य सम्मिलित किये जा सकते हैं। आयोग ने यह सिफारिश की है कि बहुमुखी पाठ्यक्रम उच्चतर स्तर के द्वितीय वर्ष से शुरू किये जावें।

२. अभामाशिप के प्रस्ताव.—माध्यमिक शिक्षा के प्रस्तावों का विचार कई निकायों ने किया। भाषा के विषय में 'अभामाशिप' की एक बैठक (११ जनवरी, १९५६) ने सुझाव दिया कि उच्चतर पाठ्यक्रम में तीन भाषाएँ अनिवार्य हों। 'केसशिम' ने अपनी सन् १९५७ ईस्वी की जनवरी की बैठक में इस सुझाव को मान लिया तथा राज्य-सरकारों की विवेचना के लिए निम्न-लिखित दो सूत्र प्रस्तुत किये :

---

† *Ibid.*, pp. 92-94.

इनका कोर्स एक वर्ष का है तथा इनमें बहुधा मैट्रिक तथा अपर-प्रायमरी पास शिक्षार्थी भरती किये जाते हैं।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा में एकरूपता के अभाव के कारण, प्रशिक्षण केन्द्रों के पाठ्यक्रम में भी समानता नहीं है। ये विभिन्न प्रकार के पूर्व-प्राथमिक स्कूलों के लिए शिक्षार्थियों को प्रशिक्षित करते हैं, जैसे : नर्सरी स्कूल, किंडरगार्टन, मोण्टेसरी पद्धति एवं पूर्व-[illegible]। ऐसे पर भी पाठ्यक्रम में बहुत कुछ समानता रहती है। मद्रास [illegible] /म[illegible]सरी / किण्डरगार्टन सर्टीफिकेट परीक्षा' के लिए निम्न-लिखित विषयों के प्रश्न-पत्र स्वीकृत हैं : (१) मनोविज्ञान, (२) आरोग्य-विज्ञान एवं आहार, (३) स्कूल-प्रशासन, (४) शिक्षण-पद्धति, (५) संगीत या चित्रकला या सूची-कर्म और हेण्डी-क्राफ्ट एवं कवायद।† इसी प्रकार पूर्व-बुनियादी पाठ्यक्रम के निम्नलिखित विभाग हैं : (१) सामाजिक जीवन की व्यवस्था, (२) समाज-प्रशिक्षण, (३) शिशु-अवलोकन, (४) शिशु-शिक्षा का इतिहास, (५) पूर्व-बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त एवं ध्येय, (६) पूर्व-बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम, (७) कार्यकलाप आयोजन, (८) स्वास्थ्य एवं स्वच्छता, (९) सृष्टिविज्ञान, (१०) भाषा, (११) संगीत तथा ताल, एवं (१२) कला तथा क्राफ्ट।‡

गत वर्ष से बड़ौदा विश्वविद्यालय के गृह-विज्ञान कालिज ने एक स्नातकोत्तर पूर्व-[illegible]थमिक प्रशिक्षण डिप्लोमा कोर्स आरम्भ किया है। इसका उद्देश्य है निरीक्षक, [illegible]धानाध्यापक तथा पूर्व-प्राथमिक प्रशिक्षण केन्द्रों के लिए अध्यापक तैयार करना। [illegible]न् १९५३ में केन्द्रीय सरकार ने एक 'भारतीय शिशु-शिक्षा-समिति' स्थापित की है। इस समिति का उद्देश्य है : शिशु-शिक्षा के विषय में सलाह देना, तथा देश के विभिन्न भागों में इस शिक्षा में हो रहे कार्यों में एकसूत्रता स्थापित करना।

नार्मल तथा प्रायमरी ट्रेनिंग स्कूल : भूमिका.— हमारे देश में दो प्रकार के प्रायमरी स्कूल हैं। बुनियादी एवं गैर-बुनियादी : इसीके अनुसार प्रायमरी शिक्षक [illegible] शिक्षण संस्थाएँ भी दो प्रकार की हैं। सन् १९५६–५७ में सम्पूर्ण देश में, ५८१

† Madras Government Press. *Revised Syllabuses for Nursery, Montessori, Kindergarten Training School Leaving Examinations.* [illegible]48. p. 1.

‡ Hindustani Talimi Sangh. *Pre-Basic Education.* 953. p. 6.

बुनियादी तथा ३३५ गैर-बुनियादी शिक्षक-प्रशिक्षण केन्द्र थे।† सभी राज्यों में गैरबुनियादी संस्थाओं को बुनियादी रूप देने की चेष्टा की जा रही है।

सर्टीफिकेट--व्यवस्था.—दोनों प्रकार के केन्द्रों में दो प्रकार के सर्टीफिकेट की व्यवस्था है: (१) अपर-प्रायमरी पास शिक्षार्थियों के लिए एवं (२) मैट्रिक शिक्षार्थियों के लिए। प्रथम वर्ग के शिक्षार्थियों को 'अवर शिक्षक सर्टीफिकेट' तथा द्वितीय वर्ग के विद्यार्थियों को 'प्रवर शिक्षक सर्टीफिकेट' मिलता है। दोनों कोर्सों की अवधि दो वर्ष की होती है।

गैर-बुनियादी पाठ्यक्रम.—प्रत्येक राज्य के पाठ्य क्रम में कुछ-न-कुछ विशिष्टता रहती है। पंजाब राज्य की 'अवर सर्टीफिकेट परीक्षा' के पाठ्य-क्रम का विवरण नीचे दिया गया है:

> (अ) लिखित कार्य: छः पर्चे: (१) एक आधुनिक भारतीय भाषा (उर्दू, हिन्दी या पंजाबी), (२) शिक्षण-पद्धति १ — (भाषा एवं गणित), (३) शिक्षण-पद्धति २—(सामान्य ज्ञान, नागरिक शास्त्र तथा दैनिक विज्ञान), (४) कक्षा-प्रबन्ध, (५) शिक्षा-सिद्धान्त एवं शिक्षा-मनोविज्ञान, तथा (६) हिन्दी या पंजाबी (वह भाषा जो पहले प्रश्न-पत्र में न ली गयी हो)। (आ) अध्यापन-अभ्यास तथा मौखिक कार्य: (१) भाषा, भूगोल या कृषि एवं दैनिक विज्ञान, (२) दो हेण्डी-क्राफ्ट (प्रत्येक विभाग से एक) — प्रथम विभाग — लकड़ी का काम, मिट्टी का काम, ज़िल्द-साजी, बुनाई, कुक्कुट-पालन, चित्रकारी एवं रेखा-चित्र; तथा द्वितीय विभाग—ईंट बनाना, टोकनी बुनना, दफ्ती का काम, साबुन-निर्माण, स्याही बनाना, छींट की छपाई, कसरत, फर्स्ट एड एवं स्काउटिंग।

प्रवर परीक्षा के पाठ्यक्रम की रूप-रेखा भी इसी प्रकार है, पर स्वाभाविक ही यह कार्य अधिकतर गुरुत्वपूर्ण होता है। अन्तर केवल इन मदों पर है: (१) दूसरे पर्चे में बीजगणित तथा रेखागणित शामिल हैं, (२) चौथे पर्चे में क्लास-प्रबन्ध के अतिरिक्त स्कूल-व्यवस्था के प्रति विशेष ध्यान दिया जाता है, (३) हेण्डी-क्राफ्ट-शिक्षा में ये विषय शामिल हैं — कुक्कुट-पालन, राजगिरी, चर्मकारी, धातु-कार्य, रँगरेजी, फल तथा सब्जी-परिरक्षण, रस्सी बाँटना, टाट बनाना, रेशम के कीड़े पालना, मधुमक्खी-पालन, पशु-पालन।

---

† *Education in the States*, 1956–57, pp. 3–5.

बुनियादी पाठ्यक्रम.—बुनियादी पाठ्यक्रम में नयी तालीम के निम्नलिखित आदर्शों की ओर लक्ष्य रहता है :

१. सामाजिक जीवन में शिक्षार्थियों को भाग लेना तथा उन्हें मिलनसार बनाना;

२. उन्हें नयी तालीम के सामाजिक आदर्शों का तथा शिक्षा के साथ सत्य एवं अहिंसा के सम्बन्ध का परिचय कराना;

३. शिक्षार्थी के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से जाग्रत करना, ताकि उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके; एवं

४. उसे अपने व्यावसायिक क्षेत्र के लिए तैयार करना, ताकि वह बच्चों के शारीरिक, बौद्धिक तथा भावनात्मक आवश्यकताओं को ठीक-ठीक समझ सके।†

कुछ राज्य तो हिन्दुस्तानी तालीम के शिक्षक प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम को चला रहे हैं, और कुछने इसमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर किया है। नीचे बम्बई राज्य के प्रायमरी शिक्षकों के प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम दिया जाता है :

पहला ग्रूप (क्राफ्ट)—३०० गुण : (१) तीन बुनियादी क्राफ्ट (कताई, कृषि, लकड़ी का काम) एवं (२) चार सहायक क्राफ्ट (कताई, बागवानी, दफ्तरीगिरी, गृह-क्राफ्ट)। — प्रत्येक विद्यार्थी को एक बुनियादी क्राफ्ट और इसे छोड़कर दो और कोई सहायक क्राफ्ट लेना पड़ता हैं। महिलाओं के लिए गृह-क्राफ्ट एक अनिवार्य विषय है।

दूसरा ग्रूप (शिक्षा)—(अ) लिखित परीक्षा (१५० गुण)—तीन पर्चे : (१) शिक्षण-सिद्धान्त, (२) स्कूल-व्यवस्था एवं प्रबन्ध, (३) अध्यापन-विधि एवं (आ) अध्यापन-अभ्यास (१५० गुण—१०० गुण समूचे वर्ष के कार्य के लिए एवं ५० गुण अन्तिम पाठ के निमित्त)। वर्ष के कार्य में शामिल हैं—(१) २० समवाय पाठ, (२) ५० पाठों का अवलोकन, (३)

† Hindustani Talimi Sangh. *Revised Syllabus of the Training of Teachers*. 1952. pp. 8-9.

किसी बुनियादी स्कूल में एक सप्ताह का लगातार अध्यापन-अभ्यास, (४) तीन अपवर्त्य पाठ, (५) दो शिक्षण-साधनों की तैयारी।

तीसरा ग्रूप (साहित्यिक विषय) : ३०० गुण—छ : पर्चे——(१) क्षेत्रीय भाषा १ (पाठ्य पुस्तक) (२) क्षेत्रीय भाषा २ (साधारण), (३) हिन्दी, (४) समाजशास्त्र, (५) साधारण विज्ञान एवं (६) साधारण गणित या एक सांस्कृतिक भाषा।

चौथा ग्रूप (सामाजिक अनुभव) १०० गुण—इस ग्रूप की कोई परीक्षा नहीं है। गुण पूरे वर्ष के कार्य पर दिये जाते हैं। इसमें शामिल हैं स्वास्थ्य-अभ्यास तथा कालिज एवं अभ्यास-विद्यालय के सामाजिक जीवन में भाग-ग्रहण।

अवर एवं प्रवर परीक्षाओं का पाठ्यक्रम एकसा है। केवल ग्रूप तीन का पाठ्यक्रम प्रवर विद्यार्थियों के लिए उच्चतर होता है।

माध्यमिक ट्रेनिंग स्कूल.—मिडिल स्कूलों के शिक्षणगण अधिकतर मैट्रिक या इण्टरमीडिएट पास होते हैं। ये माध्यमिक ट्रेनिंग स्कूलों में प्रशिक्षित होते हैं। इनका कोर्स एक या दो वर्ष का होता है, एवं सफलीभूत शिक्षार्थियों को विश्व विद्यालय या शिक्षा-विभाग से डिप्लोमा मिलता है। उदाहरण-स्वरूप, बड़ौदा, बम्बई, गुजरात, पूना, कर्नाटक, नागपुर, सागर तथा जबलपुर विश्वविद्यालयों में उप-स्नातक शिक्षकों के लिए टी० डी० (प्रथम पाँच विश्वविद्यालय) या डिप० टी० (अन्तिम तीन विश्वविद्यालय) कोर्स की व्यवस्था है। टी० डी० कोर्स की अवधि एक वर्ष की होती है। इसमें तीन वर्ष के अनुभव-प्राप्ति शिक्षक एवं विश्वविद्यालय के प्रथम वर्षीय परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रगण भरती हो सकते हैं। डिप० टी० कोर्स में उप-स्नातक लिये जाते हैं। इसकी अवधि दो वर्षों की है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक वर्षीय एल० टी० कोर्स चालू है, जिसमें इण्टरमीडिएट पास शिक्षार्थी भरती होते हैं। इन विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त, प्रायः सभी राज्यीय शिक्षा-विभाग उप-स्नातक शिक्षकों के लिए स्वतः पाठ्यक्रम प्रस्तुत करते हैं तथा परीक्षाएँ चलाते हैं।

राज्य-शिक्षा-विभागीय या विश्वविद्यालयीय पाठयक्रमों में समानता नहीं है, पर ढाँचा प्रायः एक-सा है। इसके मुख्य दो भाग है : (अ) सैद्धान्तिक कार्य (चार पर्चे)—(१) शिक्षा-मनोविज्ञान, (२) शिक्षण-सिद्धान्त, (३) अध्यापन-विधि और (४) स्कूल-प्रबन्ध तथा आरोग्य-शास्त्र; एवं (आ) अध्यापन-अभ्यास।

ट्रेनिंग कालिज.—स्नातक शिक्षकगण ट्रेनिंग कालिजों में प्रशिक्षित होते हैं। ये संस्थाएँ दो प्रकार की हैं : बुनियादी एवं गैरबुनियादी। सन् १९५६-५७ में बुनियादी कालिजों की संख्या ३३ थी तथा गैरबुनियादी कालिजों की १००। इनकी छात्र-संख्या क्रमशः २,४६९ तथा १२,६४७ थी।† अधिकतर संस्थाएँ राजकीय हैं। कतिपय संस्थाएँ आर्ट्स एवं साइन्स कालिज चलाते हैं; और कुछ विश्वविद्यालयों के शिक्षा-विभाग हैं, जैसे : अलीगढ़, अलाहाबाद, अनामलाय, बड़ौदा, बनारस, गौहाटी, कलकत्ता, ओस्मानिया, लखनऊ, गोरखपुर, नागपुर, लखनऊ एवं पटना।

गैरबुनियादी संस्थाएँ.—इन संस्थाओं के पाठ्यक्रम की अवधि एक वर्ष की होती है, तथा इनके सफलीभूत विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयीय या राज्यीय शिक्षा-विभाग के नियमों के अनुसार बी० टी०, बी० एड०, एल० टी० या डिप० एड० डिग्री मिलती है।

पाठ्यक्रम दो भागों में विभाजित होता है : (अ) सैद्धान्तिक (पाँच पर्चे) : (१) शिक्षा-मनोविज्ञान एवं सांख्यिकी, (२) शिक्षा-सिद्धान्त, (३) स्कूल-प्रशासन एवं आरोग्यशास्त्र, (४) अध्यापन-विधि, (५) शिक्षा-इतिहास तथा वर्तमान शिक्षा-समस्याएँ; और (आ) अध्यापन- अभ्यास।

बुनियादी संस्थाएँ.—बुनियादी शिक्षा के प्रादुर्भाव के साथ-साथ बुनियादी प्रशिक्षण कालिज स्थापित हुए हैं। इनका उद्देश्य है प्राथमिक स्कूलों के लिए निरीक्षक एवं बुनियादी ट्रेनिंग स्कूलों के लिए अध्यापक तैयार करना। इन संस्थाओं का पाठ्यक्रम एक-सा नहीं है। प्रत्येक राज्य अपना-अपना पाठ्यक्रम चलाते हैं। इस विषमता को दूर करने के लिए बुनियादी ट्रेनिंग कालिजों के प्रिंसिपालों की एक समिति ने अधोलिखित पाठ्यक्रम की सिफ़ारिश की है :

> **१. प्रश्न-पत्र :** (१) शिक्षण तत्वज्ञान एवं समाजशास्त्र (विशेषकर बुनियादी शिक्षा सम्पर्कित), (२) शिक्षा-मनोविज्ञान, (३) शिक्षण-प्रशासन एवं निरीक्षण, या प्रयोगिक शिक्षा एवं शिक्षण-अनुसन्धान विधि, (४) बुनियादी शिक्षा-विधि तथा (५) क्राफ्ट-शिक्षा—सिद्धान्त एवं अभ्यास।
>
> **२. क्राफ्ट :** (अ) मुख्य बुनियादी क्राफ्ट (कोई भी एक)— (१) कृषि (पशु-पालन-सहित), (२) बुनाई एवं कताई, (३) दफ्तरीगिरी, लकड़ी का काम एवं सम्बन्धित धातु कार्य; और (आ) सहायक क्राफ्ट (कोई

† *Education in the States*, 1956-57. pp. 3-4.

भी एक)—(१) गृह-निर्माण, (२) कताई (यदि यह मुख्य क्राफ्ट न हो), (३) सब्जी की बागवानी (यदि कृषि मुख्य क्राफ्ट न हो), (४) चमड़े का काम, (५) मधु-मक्खी पालन, (६) कुम्हार काम।

३. अध्यापन-अभ्यास—(१) अभ्यास-योजना रचना, (२) किसी स्कूल कक्षा के उपयुक्त निर्वाचित विषयों का योग्यता-परीक्षण निर्माण, (३) वैयक्तिक एवं सामूहिक परीक्षणों का परिचालन, (४) अपने अभ्यास पाठों के विषयों पर शिक्षा-साधन तैयार करना, (५) बुनियादी स्कूलों से सम्बन्धित समुन्नत सामग्री-निर्माण। †

यह याद रहे कि इने-गिने दो-चार विश्वविद्यालयों को छोड़कर, बुनियादी उत्तर-स्नातक-डिप्लोमा का परिचालन राज्यीय शिक्षा-विभाग ही करते हैं। इस कारण, ऐसे डिप्लोमा-धारी व्यक्तियों को अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। बहुधा ये विश्वविद्यालयीय उत्तर-स्नातक कोर्सों में भरती नहीं हो सकते हैं। इस कारण, बुनियादी अनुमान-निधारण-समिति ने प्रस्ताव किया है कि विश्वविद्यालय भी बुनियादी महाविद्यालय चलावें तथा उत्तर-स्नातक बुनियादी डिप्लोमा को मान्यता दें। 'केसशिम' ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया है

विशेषज्ञ प्रशिक्षण-केन्द्र.—विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों के प्रशिक्षण के लिए भी आयोजन किया गया है। ये क्षेत्र हैं : शारीरिक शिक्षा, ललित कला, गृह-विज्ञान, क्राफ्ट एवं विविध विषय।

शारीरिक शिक्षा—शारीरिक शिक्षा का प्रशिक्षण कालिजों में स्नातकों को तथा स्कूलो में उप-स्नातकों को मिलता है। सम्पूर्ण देश में केवल बीस केन्द्र हैं, जो यह शिक्षा देते हैं। इनका कोर्स एक-वर्षीय होता है, तथा डिप्लोमा का सर्टीफिकेट संस्था या राज्यीय शिक्षा-विभाग से मिलता है। अभी तक किसी भी विश्वविद्यालय में शारीरिक शिक्षा डिग्री या डिप्लोमा कोर्स की व्यवस्था नहीं है।

३० जून १९५७ को केन्द्रीय सरकार ने ग्वालियर में लक्ष्मीबाई शारीरिक महाविद्यालय की स्थापना की है। भारत में यह सर्व प्रथम संस्था है, जिसने शारीरिक शिक्षा-सम्बन्धी तीन-वर्षीय डिग्री कोर्स आरम्भ किया है। आशा की जाती है कि भविष्य में यह कालिज अनुसन्धान तथा उत्तर-स्नातक पाठ्यक्रम की व्यवस्था करेगा।

---

† Ministry of Education. *The Five Year Plan : Schemes of Edueational Developments.* pp. 4-5.

ललित कला.—कतिपय केन्द्रों को छोड़कर, इस महत्त्वपूर्ण विषय के शिक्षकों के प्रशिक्षण का विशेष प्रबन्ध हमारे देश में नहीं है। कुछ मुख्य संस्थाएँ ये हैं: (१) विश्व-भारती (संगीत, नृत्य तथा चित्रकला), (२) सर जे० जे० स्कूल ऑफ् आर्ट्स, बम्बई (चित्रकारी), (३) ललित कला फेकल्टी, बड़ौदा विश्वविद्यालय (चित्रकला और संगीत), (४) कला-क्षेत्र, अडयार, मद्रास (नृत्य), (५) संगीत शिक्षण महाविद्यालय, मद्रास (संगीत), (६) राजकीय आर्ट्स स्कूल, लखनऊ (कला), (७) आर्ट प्रशिक्षण-सस्था, जामिया मिलिया, दिल्ली (आर्ट एवं क्राफ्ट)।

गृह-विज्ञान.—माध्यमिक स्कूलों के लिए अनेक गृह-विज्ञान शिक्षिकाओं की आवश्यकता है। इन शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण का प्रबन्ध निम्न-लिखित संस्थाओं में है: लेडी इरविन कालिज, दिल्ली; एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय बम्बई; गृह-विज्ञान फेकल्टी, बड़ोदा; राजकीय गृह-विज्ञान प्रशिक्षण महाविद्यालय, अलाहाबाद; इत्यादि।

क्राफ्ट.—आज मिडिल स्कूल-पाठ्यक्रम में क्राफ्ट एक अनिवार्य विषय है। इस कारण, क्राफ्ट-शिक्षकों की विशेष आवश्यकता है। प्रायः सभी राज्यों ने अपने प्राविधिक हाईस्कूलों तथा क्राफ्ट स्कूलों में इन शिक्षकों के प्रशिक्षण का बन्दोबस्त किया है।

विविध विषय.—अनेक राज्यीय शिक्षा-विभाग तथा प्रशिक्षण महाविद्यालय कतिपय विशेष विषयों का कोर्स चलाते हैं। मुख्य विषय हैं: अंग्रेजी, राष्ट्रभाषा अर्थात् हिन्दी, भूगोल, निर्देश तथा परामर्श। बहुधा ये कोर्स एक-वर्षीय होते हैं।

शिक्षिका प्रशिक्षण संस्थाएँ.—शिक्षिकाएँ स्त्री अध्यापन संस्थाओं तथा पुरुष महाविद्यालयों में प्रशिक्षित होती हैं। सन् १९५६-५७ में सम्पूर्ण देश में ३१ स्त्री अध्यापन कालिज (एक बुनियादी तथा तीस गैर-बुनियादी) तथा २५८ स्कूल (१४६ बुनियादी एवं १४२ गैरबुनियादी) थे। इस वर्ष कालिजों की छात्रा-संख्या थी ४,५६१ (बुनियादी ४०७ एवं गैरबुनियादी ४,१५४), और स्कूलों की छात्रा-संख्या २५,९१४ (बुनियादी १३,३६४ एवं गैरबुनियादी १२,५५०) थी।†

अनुसन्धान एवं उत्तर-स्नातक कार्य

उत्तर-स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण कार्य इस देश में हाल ही में आरम्भ हुआ है। यह प्राठ्यक्रम दो प्रकार का होता है: (१) एम० ए० (शिक्षा) या एम० ईडी०

† *Education in States*, 1956–57, p.p. 3-5.

(बी० टी० या बी० एड० के पश्चात् एक या दो वर्षीय कोर्स), एवं (२) पी० एच-डी० (एम० ए० या एम० ईडी०) के बाद दो वर्ष का कोर्स।

एम० ए० (शिक्षा) की व्यवस्था केवल कलकत्ता एवं गौहाटी विश्वविद्यालयों में है तथा एम० ईडी० की अन्य विश्वविद्यालयों — अलीगढ़, अलाहाबाद, बनारस, बड़ौदा, बम्बई, दिल्ली, गोरखपुर, गुजरात, जबलपुर, कर्नाटक, केरल, लखनऊ, मद्रास, मैसूर, नागपुर, ओस्मानिया, पंजाब, पटना, पूना, राजस्थान, एस० एन० डी० टी०, सागर, उत्कल एवं विक्रम में है। दोनों परीक्षाओं के नामकरण में अवश्य भेद है, पर पाठ्यक्रम प्रायः एक-सा है। इन परीक्षाओं के लिए चार से छः पर्चे होते हैं। किसी-किसी विश्वविद्यालय में, इसके साथ-साथ या कुछ निश्चित पर्चों के बदले एक निबन्ध लिखना पड़ता है। बड़ौदा, गुजरात, पूना, बम्बई, कर्नाटक एवं सागर विश्वविद्यालय एक दूसरा एम० एडी० कोर्स भी चलाते हैं, जिसके लिए परीक्षार्थियों को केवल एक महा निबन्ध प्रस्तुत करना पड़ता है।

पी० एचडी० या डाक्टेरट परीक्षा के लिए भी एक महा निबन्ध लिखना पड़ता है। इसका गवेषणात्मक तथा प्रयोगात्मक कार्य उच्च कोटि का होना चाहिए। पर बहुधा यह कार्य इस स्तर का नहीं होता है।

यह गैर-बुनियादी प्रशिक्षण की स्थिति हुई। उत्तर-स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण की व्यवस्था अभी तक विशेष रूप से नहीं की गयी है। कतिपय बुनियादी अध्यापन महाविद्यालय अवश्य कुछ अनुसन्धान योजनाएं चला रहे हैं। बुनियादी शिक्षा पर गवेषणा करने के लिए, केन्द्रीय सरकार ने हाल ही में राष्ट्रीय बुनियादी अनुसन्धान-केन्द्र की स्थापना दिल्ली में की है।

सन् १९५३–५४ से भारत-सरकार ने शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षण-विभागों को अनुसन्धान योजनाएँ चलाने के लिए अनुदान देना आरम्भ किया है, ताकि अर्थाभाव के कारण शोध-कार्य बन्द न रखना पड़े। प्रत्येक योजना की स्वीकृति केन्द्रीय सरकार से लेनी पड़ती है। संस्था के प्राध्यापकों के निरीक्षण में आवश्यकतानुसार कई शोध-शिष्य अनुसन्धान-कार्य करते हैं। साधन-उपकरणों के लिए भी अनुदान मिलता है। सन् १९५६–५७ के अन्त तक २९ शोध-योजनाएँ स्वीकृत हुई थीं, एवं कुल २,०५,००० रुपये व्यय हुए थे।†

† *Ten Years of Freedom*, p. 58.

मध्य-अध्यापन-प्रशिक्षण

भूमिका.—प्रशिक्षण के दो रूप है : (१) 'पूर्व-अध्यापन-प्रशिक्षण' अर्थात् किसी प्रशिक्षण-केन्द्र में नियमित रूप से पूर्णकालिक ट्रेनिंग। हम इन कोर्सों की चर्चा इस अध्याय के द्वितीय शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं। अनेक पाश्चात्य देशों में इस ट्रेनिंग का नामकरण 'पूर्व अध्यापन-प्रशिक्षण' किया गया है। कारण, वहाँ पर पूर्व-कालिक प्रशिक्षण पाये बिना कोई भी व्यक्ति अध्यापन-कार्य आरम्भ नहीं कर सकता है। (२) 'मध्य अध्यापन-प्रशिक्षण'—पूर्व अध्यापन-प्रशिक्षण के पश्चात् एक व्यक्ति शिक्षक बनता है। पर कुछ समय के बाद, उसके पूर्वार्जित ज्ञान में मोरचा लग जाता है। अध्यापन कार्य करते हुए, नवीन ज्ञान से सम्पर्क न रखने के कारण ही बहुधा ऐसा होता है। इस असम्पर्क के फल-स्वरूप अध्यापन-कार्य ठीक-ठीक नहीं चल सकता है। माध्यमिक आयोग ने कहा ही है :

> चाहे कितना ही अच्छा शिक्षक-प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम हो, पर इससे उत्कृष्ट परिणाम नहीं निकलता है। इसके द्वारा शिक्षक को वह ज्ञान मिलता है, जो एक नौसिखिए को ज़रूरी रहता है। इससे उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है। कार्य-क्षमता तभी बढ़ती है जब कि कुछ अनुभव के पश्चात् शिक्षक स्वतः या समुदाय में उन्नति की चेष्टा करे। अतएव शिक्षक-प्रशिक्षण-केन्द्रों को मध्य-अध्यापन प्रशिक्षण का समुचित आयोजन करना चाहिए।†

पूर्व चेष्टाएँ.—यह न सोचना चाहिए कि हमारे देश में इस प्रशिक्षण की कुछ भी व्यवस्था न थी। समय-समय पर राज्यीय शिक्षा-विभाग तथा कतिपय शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाएँ कई प्रकार की योजनाएँ चलाती थीं, जैसे : (१) पुनर्संजीवन कोर्स, (२) कर्म-शालाएँ, (३) विशिष्ट विषयों के अल्प-कालिक कोर्स तथा (४) प्रशिक्षित शिक्षकों की गोष्ठियाँ एवं सम्मेलन। किन्तु इन कार्य-कलापों की व्यवस्था समुचित न थी।

ट्रेनिंग कालिज प्रसारण केन्द्र.—माध्यमिक शिक्षा आयोग के निरीक्षण की ओर केन्द्रीय तथा फोर्ड फाऊण्डेशन का ध्यान आकर्षित हुआ; और उनकी चेष्टाओं के कारण, हमारे कुछ ट्रेनिंग कालिजों में, प्रसारण-केन्द्र स्थापित हुए — १९५५ में २४ केन्द्र, १९५६ में १७ और भी अधिक केन्द्र, एवं १९५७ में १२ अतिरिक्त केन्द्र। इस प्रकार की मध्य-अध्यापन-प्रशिक्षण की योजना विश्व के किसी भी देश में

† *Secondary Education Commission's Report*, p. 178.
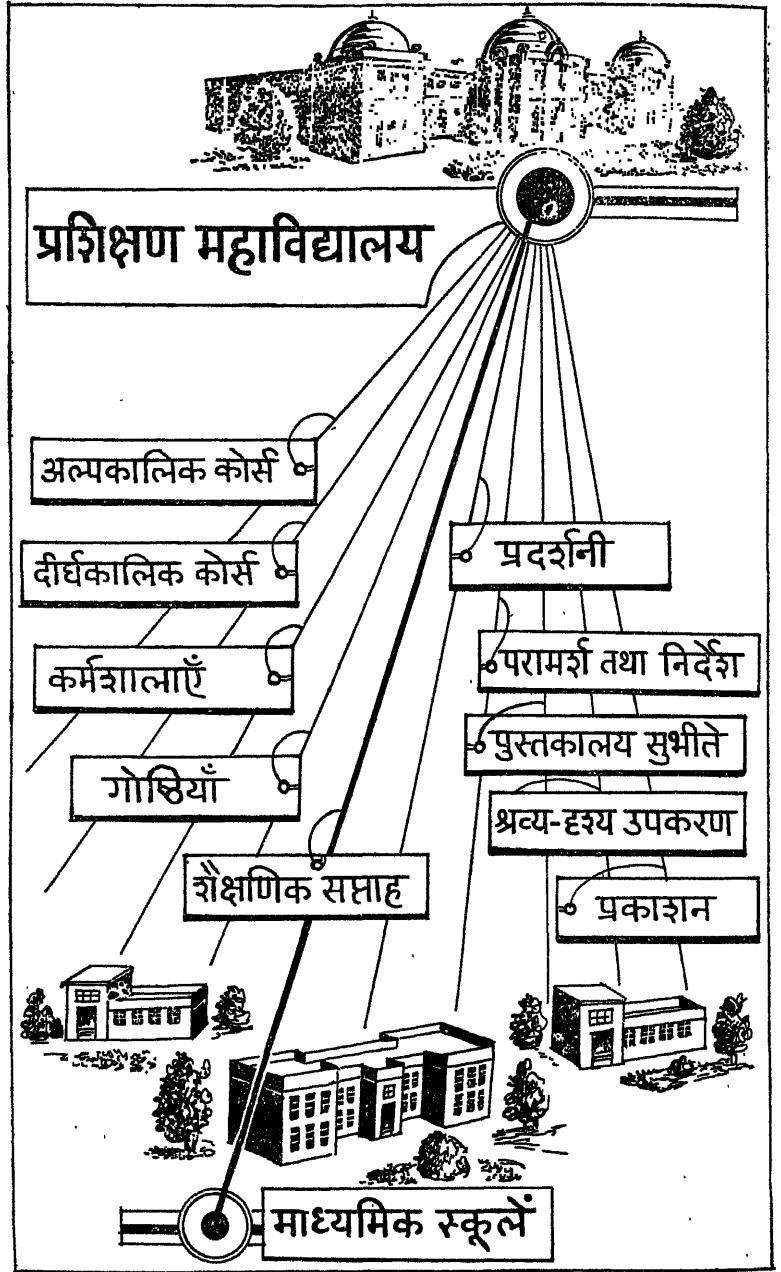
चित्र १५ – प्रसारण कार्य

सम्भवतः अभी तक चलायी नहीं गयी है। फोर्ड फाउण्डेशन इस योजना को आर्थिक साहाय्य—अनुदान—देता है, एवं अमेरिकी टेकनीकल कोआपरेशन मिशन शिक्षण-साधन भेंट करती है।

प्रसारण-केन्द्रों के कार्य-कलापों की यह रूप-रेखा है : (१) अल्प-कालिक, दीर्घ-कालिक तथा सप्ताहान्त कोर्स, (२) कर्म-शालाएँ, गोष्ठियाँ एवं समूह-चर्चा, (३) शैक्षणिक सप्ताह तथा प्रदर्शिनी, (४) परामर्श तथा निर्देश गोष्ठियाँ, (५) पुस्तकालयीय सुविधाएँ, (६) श्रव्य-दृश्य माध्यमों की सहायता एवं (७) प्रकाशन।†

विशिष्ट गोष्ठियाँ.—प्रसारण केन्द्रों की स्थापना के अतिरिक्त, केन्द्रीय शिक्षण-मन्त्रालय समय-समय पर प्रधान अध्यापकों तथा शिक्षण-प्रशासकों की गोष्ठियाँ आयोजित करता है। इनका मुख्य उद्देश्य होता है, शिक्षकों तथा प्रशासकों को एकत्र करना, तथा शिक्षा के उन पेंचीदे—उलझन-पूर्ण—प्रश्नों की चर्चा करना, जिससे अध्ययन एवं अध्यापन की उन्नति हो सके। अभी तक ऐसी पन्द्रह गोष्ठियाँ आमन्त्रित हुई हैं। विशेष विषयों की चर्चा के लिए भी सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। मार्च, १९५७ के अन्त तक ऐसी ग्यारह गोष्ठियाँ सम्पन्न हुई हैं। इनमें विज्ञान, समाज शास्त्र, अंग्रेजी-अध्यापन, प्रशासन इत्यादि विशद विषयों की चर्चा की गयी है। इनके अतिरिक्त परीक्षा-सुधार के लिए सात कर्म-शालाओं की भी व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार मध्य-अध्यापन प्रशिक्षण एक नवीन जीवन भारत में आरम्भ हुआ है।

शिक्षक-प्रशिक्षण-समस्याएँ

भूमिका.—स्वातन्त्र्योत्तर-काल में शिक्षक-प्रशिक्षण का यथेष्ट विस्तार हुआ है, तथापि वर्तमान स्थिति अभी पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं है। शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ अध्यापन के नये पेंचीदे प्रश्न खड़े हो रहे हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत दस प्रमुख प्रश्नों की चर्चा की जायगी। हमें इस बात से ढाढ़स होता है कि आज शिक्षा-जगत् इन मामलों से सुपरिचित है।

नवीन विचार-धारा.—आजकल इस देश में शिक्षा की यथेष्ट प्रगति हो रही है, और सभी यह अनुभव कर रहे हैं कि "यह नूतन शिक्षण केवल शिष्टाचारिक अध्यापन पर ही आधारित न रहे, अपितु इसका संयोग मानवीय जीवन के दैनिक

† *Second Seminar on Extension in Training Colleges.* Srinagar, June-July, 1955.

कार्य-कलाप से हो ।" † अतएव आज अध्यापन-कला में विशेष हेर-फेर की आवश्यकता है, जब कि नूतन शिक्षक-प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम का सम्बन्ध बालकों तथा शिक्षकों के सांसारिक जीवन से रहे ।

इस चुनौती का सामना, बुनियादी-प्रशिक्षण-संस्थाएँ थोड़ा-बहुत कर रही हैं। इस शिक्षा में ज्ञान तथा ज्ञान-स्थितियों से अधिकतर गुरुत्व-पूर्ण है जीवन तथा जीवन-स्थिति । हर्ष की बात है कि थोड़े ही समय में हमारे देश की सभी प्राथमिक अध्यापन संस्थाएँ बुनियादी रूप में परिवर्तित हो जावेंगी ।

यह भावना हमारे बी० टी० तथा बी० एड० प्रशिक्षण को भी प्रभावित कर रही है । बी० एड० पाठ्यक्रम-सुधार-समिति को उद्‌बोधन भाषण देते हुए श्री सैयदेन ने सम्पूर्ण देश का ध्यान निम्नलिखित दो मुख्य तत्वों की ओर आकर्षित किया है, जिन पर शिक्षक-प्रशिक्षण-सुधार निर्भर रहना चाहिए :

> १. शिक्षार्थियों के ज्ञान तथा प्रशिक्षण का स्कूलों के दैनिक कार्य-कलाप से अटूट सम्बन्ध रहे ।
>
> २. ट्रेनिंग कालिज के प्रत्येक अध्यापक का कर्तव्य है कि उसका सैद्धान्तिक कार्य राष्ट्रीय जीवन के नवीन सामाजिक-आर्थिक विचार-धारा से संश्लिष्ट रहे । इसके अभाव में प्रशिक्षण निस्तेज होगा तथा शिक्षार्थी का ज्ञान अधूरा रहेगा । मनुष्य-जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का चित्र उसके सामने न खिंच सकेगा ।‡

समिति का विचार-विमर्श उपर्युक्त दो तत्वों पर आधारित रहा । समिति-द्वारा प्रस्तुत परिवर्तित बी० एड० पाठ्यक्रम की रूप-रेखा नीचे दी जाती है :

> १. **सैद्धान्तिक कार्य** (चार पर्चे) : (१) शिक्षा-सिद्धान्त तथा तथा स्कूल-प्रबन्ध, (२) शिक्षा-मनोविज्ञान और आरोग्य-शास्त्र, (३) स्कूल -शिक्षण-विधि एवं (४) भाग 'अ' – भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएँ, और भाग 'आ' – किसी भी एक विशिष्ट क्षेत्र का अध्ययन : स्कूल पुस्तकालय का प्रबन्ध, शैक्षणिक एवं व्यावसायिक निर्देश, स्कूल-प्रशासन, अशक्त बच्चों की

† *University Education Commission's Report.* p. 558.

‡ Ministry of Education. *Secondary Education.* October, 1956. p. 9.

शिक्षा, ग्राम्य शिक्षा, श्रव्य-दृश्य-प्रशिक्षण, मानसिक माप, शारीरिक शिक्षा, सह-पाठ्यक्रमीय कार्य-कलाप, समाज-शिक्षा, आदि ।

२. **अध्यापन-अभ्यास,** जिसमें शामिल रहेंगे,—(१) अध्यापन-पाठ, (२) अवलोकन-पाठ, (३) समालोचना-पाठ, (४) विभिन्न स्तर और प्रकार के स्कूलों का अवलोकन, (५) सह-पाठ्यक्रमीय कार्य-कलापों में अंश-दान तथा उनका प्रबन्ध, (६) स्कूल-विद्यार्थियों के गृह-कार्य तथा स्वाधाय अभ्यासों का संशोधन, (७) श्रव्य-दृश्य उपकरण प्रस्तुत करना ।

सुधार के तीन ध्येय थे : (१) प्रचलित सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम को घटाना, (२) प्रत्येक शिक्षार्थी को एक विशिष्ट क्षेत्र का ज्ञान देना तथा (३) अध्यापन-अभ्यास का बहुमुखी प्रसार । उपर्युक्त रूप-रेखा के आधार पर, सभी विश्वविद्यालयों ने अपने बी० एड० पाठ्यक्रम का सुधार आरम्भ कर दिया है ।

बुनियादी तथा गैरबुनियादी पाठ्यक्रम में एकीकरण की आवश्यकता.—तीसरे अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि आज भारतीय शिक्षा में दो विचार-धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं — बुनियादी तथा गैरबुनियादी। इसके अनुरूप शिक्षक-प्रशिक्षण में दो विभिन्न अट्टालिकाएँ खड़ी हैं । इस विषय पर कई प्रश्न उठते हैं : (१) क्या इस देश में प्रतिद्वन्द्वी स्वरूप दो प्रकार के शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों की आवश्यकता है ? (२) क्या इन दो विभिन्न विचार-धाराओं की आवश्यकता है ? (३) क्या इन्हें दो विपरीत दिशाओं में बहने देना चाहिए ? (४) क्या यह श्रेय नहीं है कि ये दो निर्झरणियाँ मिलकर एक वृहत् रूप में परिणत हो जावें, जिससे दोनों सशक्त बनें ?

अब दोनों पद्धतियों पर विचार किया जाये । गैर-बुनियादी प्रणाली में सैद्धान्तिक ज्ञान तथा शिक्षण-विधियों का व्यापक ज्ञान पूर्ण रूप से दिया जाता है । लेकिन सैद्धान्तिक ज्ञान अभ्यास से दूर रहता है । इसमें शहरी वातावरण का ध्यान अधिक रहता है, तथा जीवन की वास्तविक स्थिति से इसका सम्बन्ध नहीं रहता है । इसके विपरीत बुनियादी पद्धति कार्य-कलाप-विधि पर निर्भर रहती है, अभ्यास तथा सामाजिक जीवन पर विशेष जोर देती है, एवं ग्राम्य जीवन से अपना सम्बन्ध अटूट रखती है । पर इसका सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम बहुमुखी नहीं होता है । यह बुनियादी शिक्षा-सिद्धान्तों पर आधारित होती है ।

तृतीय अखिल-भारतीय-ट्रेनिंग कालिज-सम्मेलन में दोनों प्रकार की पद्धतियों की बहुत कुछ नुकता-चीनी हुई । अन्त में यह स्थिर हुआ कि देश की भलाई के लिए

एकही प्रकार के उत्तर-स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जिसमें दोनों प्रणालियों के विशेष गुणों का समावेश हो। सम्मेलन ने फैसला किया कि यह एकीकरण दो उपायों से हो सकता है :

१. बी० एड० के सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम के बोझ को कुछ कम करना, तथा उसमें नियमित रूप से सुधार करना; एवं

२. अध्यापन-अभ्यास का प्रसार करना, ताकि प्रत्येक विद्यार्थी को क्राफ्ट, सामाजिक जीवन एवं समवाय-शिक्षा का ज्ञान मिले।†

परिवर्तित बी० ए० पाठ्यक्रम में इस ओर अवश्य लक्ष्य रखा गया है, पर पूर्ण रूप से नहीं। दो-एक ट्रेनिंग कालिज इस ओर चेष्टा कर रहे हैं। उदाहरण-स्वरूप, विश्व-भारती के विनय-भवन (ट्रेनिंग-कालिज) में एक पाठ्यक्रम प्रचलित है, जिसकी अवधि साधारण बी० एड० की अवधि से कुछ अधिक है। इस पाठ्यक्रम में बुनियादी और गैर-बुनियादी सिद्धान्तों का समावेश है। इसी प्रकार का एक प्रयोग विद्या-भवन, उदयपुर भी कर रहा है।

बी० एड० अध्यापन-अभ्यास में विस्तीर्णता.—अभी तक बी० टी० या बी० एड० अभ्यास के अन्तर्गत, प्रत्येक शिक्षार्थी को कुछ स्थिर पाठ पढ़ाना पड़ता है। आजकल इस पद्धति की काफी नुकता-चीनी हो रही है, क्योंकि इसका दृष्टि-कोण अति संकीर्ण है। आधुनिक शिक्षक का कर्तव्य केवल स्कूल पाठों तक ही मर्यादित नहीं होता है, वरन् उसे स्कूल के खेल-कूद में भाग लेना पड़ता है, श्रव्य-दृश्य शिक्षा-साधनों का विशद रूप में उपयोग करना पड़ता है, आधुनिक वस्तुगत परीक्षाओं को समझना पड़ता है, विद्यार्थियों की उन्नति-विषयक रिकार्ड रखने पड़ते हैं तथा समाज के साथ मिल-जुल कर रहना पड़ता है। इसके साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि शिक्षार्थियों को देहाती स्कूलों का कुछ भी अनुभव नहीं मिलता, जहाँ कि अधिकांश व्यक्तियों को अपने ट्रेनिंग के समाप्त होने पर काम करना है। इसी कारण, बुनियादी अध्यापन-अभ्यास (उत्तर-स्नातक डिप्लोमा) का क्षेत्र यथेष्ट विस्तृत रखा गया है, तथा समाज एवं देहातों से सम्पर्क स्थापित रखने के लिए 'सघन क्षेत्र' (काम्पैक्ट एरिया) में कुछ समय तक लगातार अध्यापन-अभ्यास का बन्दोबस्त रखा गया है। बी० एड० पाठ्यक्रम-सुधार-समिति का भी ध्यान प्रचलित अध्यापन-

---

† *Journal of Education and Psychology*. January, 1955. p. 234.

अभ्यास की संकीर्णता की ओर आकर्षित हुआ था। इसी कारण समिति ने अध्यापन-अभ्यास को सर्वांगीण बनाने की कोशिश की थी। इस ओर चेष्टा भी हो रही है, पर यह काम यथा-रीति नहीं हो सक रहा है। कारण, बी० एड० प्रशिक्षण का कार्य-काल केवल नौ महीने ही है। इस कठिनाई को समझते हुए, समिति ने सैद्धान्तिक कोर्स बहुत कुछ कम कर दिया है।

परन्तु अध्यापन-अभ्यास ठीक तौर से तभी दिया जा सकता है, जब कि ट्रेनिंग कालिज का प्रत्येक विद्यार्थी कुछ समय तक किसी स्कूल में पद-विद्यार्थी के रूप में काम करे, वह स्कूल-कार्य में भाग ले, विद्यार्थियों का गृह-कार्य-संशोधन करे, रंजन-कार्य-परिचालन करे, श्रव्य-दृश्य-उपकरण तैयार करे, स्थानिक समाज के सम्पर्क में आवे, इत्यादि। यह अभ्यास दो से चार सप्ताह तक किसी अनुभवी शिक्षक के निरीक्षण में दिया जाय। सब से अच्छा तो यह है कि इस कार्य के लिए ग्राम्य स्कूल-चुने जायँ, ताकि शिक्षार्थी देहात के सम्पर्क में आ सके।

तीन-वर्षीय शिक्षा-स्नातक कोर्स।—बी० एड० कोर्स अल्प-कालिक होने के कारण, थोड़े समय में शिक्षार्थियों के मस्तिष्क में बहुत कुछ ठूँसना पड़ता है। इसी कारण माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने इस कोर्स की अवधि को दो वर्ष तक बढ़ाने का सुझाव दिया था, लेकिन शिक्षकों की कमी को देखते हुए आयोग को पीछे हटना पड़ा। उसने अंगीकार किया कि 'प्रशिक्षण के लिए हम शिक्षार्थियों को दो वर्ष रोक नहीं सकते हैं।'

एक और सुझाव दिया जाता है कि उच्चतर माध्यमिक परीक्षा के पश्चात् एक तीन-वर्षीय शिक्षा स्नातक कोर्स शुरू किया जावे। इसके अन्तर्गत सांस्कृतिक ज्ञान के साथ-साथ शिक्षक-प्रशिक्षण का बी० एड० स्तरीय ज्ञान दिया जावे। जिस प्रकार कृषि या वाणिज्य की व्यवस्था बी० एजी० या बी० काम० कोर्स में की गयी है, उसी प्रकार 'शिक्षा' का अध्यापन प्रस्तावित पाठयक्रम में किया जा सकता है। इस सुधार से दो मुख्य लाभों की सम्भावना है। प्रथमतः, सांस्कृतिक तथा व्यावसायिक ज्ञान का घना सम्बन्ध रहेगा। द्वितीयतः, शिक्षक-प्रशिक्षण की अवधि दीर्घतर होने के कारण, शिक्षा का ज्ञान एक विस्तृत समय में फैलाया जा सकेगा। इस विषय पर प्रथम अखिल भारतीय-ट्रेनिंग-कालिज-सम्मेलन में विषद रूप से चर्चा हुई थी। कतिपय विश्वविद्यालय प्रस्तावित पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में सोच-विचार कर रहे हैं। यह योजना कुछ नवीन

† *Secondary Education Commission's Report.* p. 175.

नहीं है। यह अमेरिका में प्रचलित है तथा कुछ अंग्रेजी विश्वविद्यालयों ने भी इसे आरम्भ किया है।

बहूद्देश्यीय स्कूलों के ट्रेण्ड शिक्षक.—हमारे नये बहूद्देश्यीय स्कूलों के लिए, कई विशिष्ट क्षेत्रों के प्रशिक्षित शिक्षकों की विशेष आवश्यकता है—प्राविधिक, कृषि, ललित कला, वाणिज्य एवं गृह-विज्ञान। प्रथमतः, इन क्षेत्रों के शिक्षक पर्याप्तरूप में नहीं मिलते। द्वितीयतः, इनके प्रशिक्षण का कुछ भी बन्दोबस्त आज तक इस देश में नहीं है।

ट्रेनिंग की सबसे अधिक कठिनाई यह है कि हमारे प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में इन विशिष्ट क्षेत्रों के प्रशिक्षित अध्यापक नहीं हैं। इस समस्या को हल करने के केवल दो उपाय हैं: (१) इन विशिष्ट क्षेत्रों के कुछ कालिजों में शिक्षा-विभाग स्थापित हों, या (२) कुछ प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में एक/अधिक विशिष्ट विषय का/के विभाग खोले जायँ। दोनों प्रस्तावों का उद्देश्य यह है कि शिक्षा तथा विशिष्ट क्षेत्र के अध्यापकगण कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करेंगे—शिक्षा-शास्त्री अध्यापन-विधि की ओर ध्यान देगा एवं वैशिष्ट्यइ विशिष्ट विषय ज्ञान पर।

गत वर्ष, राज्यीय शिक्षा-मन्त्रियों के एक सम्मेलन में यह तय हुआ कि चार क्षेत्रीय प्रशिक्षण-केन्द्र इस कार्य के लिए स्थापित हों (२ जुलाई, १९५९)। पर ऐसे केन्द्र जल्दी खोले नहीं जा सकते। हमें उपर्युक्त किसी भी एक तरीके को अपनाना पड़ेगा—या, कुछ ट्रेनिंग कालिजों में विशिष्ट क्षेत्रों के विभाग खोले जाएँ; या, कतिपय व्यावसायिक कालिजों में शिक्षा-विभाग स्थापित हों।

माध्यमिक ट्रेनिंग स्कूल.—माध्यमिक ट्रेनिंग स्कूलों का कोर्स कहीं एक वर्ष की अवधि का है और कहीं दो वर्ष का है। यह कोर्स सभी राज्यों में दो वर्ष का किया जाय, ताकि एक-रूपता आवे तथा ट्रेनिंग सुचारु रूप से दिया जा सके — प्रथम वर्ष में साधारण ज्ञान एवं द्वितीय वर्ष में व्यावसायिक शिक्षा। अनिवार्य विषयों के अतिरिक्त, प्रत्येक शिक्षार्थी कम-से-कम एक क्षेत्र में विशिष्टता लाभ करे: (१) पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, (२) क्राफ्ट शिक्षा (माध्यमिक शिक्षा-आयोग-द्वारा प्रस्तावित एक क्राफ्ट)† (३) शारीरिक शिक्षा एवं (४) कला तथा संगीत।

उत्तर-स्नातक पाठ्यक्रम.—एम० एड० पाठ्यक्रम के सुधार की भी विशेष जरूरत है। बहुधा देखा जाता है कि ये बी० एड० कोर्स के विस्तारित संस्करण हैं।

---

† देखिए पृष्ठ १२०।

इस पाठ्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है, शिक्षा-क्षेत्र के उपयुक्त उच्च स्तर के शिक्षक, प्रशासक तथा ट्रेनिंग कालिजों के अध्यापक तैयार करना। इस परीक्षा के तीन मुख्य भाग हों : (१) अनिवार्य — (अ) शिक्षण तत्व-ज्ञान, पाठ्यक्रम, शिक्षा मनोविज्ञान, विभिन्न देशों के आधुनिक शिक्षण-विधि तथा शिक्षा-प्रशासन नियमों का तुलनात्मक ज्ञान, (आ) शैक्षणिक सांख्यिकी एवं अनुसन्धान विधि; (२) वैकल्पिक — किसी विशेष क्षेत्र का ज्ञान तथा उसीसे सम्बन्धित किसी प्रसंग पर एक निबन्ध; एवं (३) मौखिक परीक्षा।

अनिवार्य विभाग का उद्देश्य हो शिक्षार्थी को शिक्षा के समूचे क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराना, पर वैकल्पिक विभाग का लक्ष्य रहे कि उसे एक चुने हुए विषय का विशेषज्ञ बनाना तथा अनुसन्धान करने के पश्चात् अपने विचारों को विधिवत् निबन्ध रूप में प्रकट करना। मौखिक परीक्षा का अभिप्राय है, शिक्षार्थी की समझ की जाँच करना, जो कि लिखित परीक्षा-द्वारा कभी नहीं हो सकती है। वैकल्पिक विभाग में कतिपय नये विषयों का समावेश हो, जैसे: पाठ्यक्रम, बुनियादी शिक्षा, प्रसारण-कार्य, शिक्षक-प्रशिक्षण, निर्देश एवं परामर्श, किसी विशेष पाठ्य-विषय की शिक्षण-विधि, विश्वविद्यालय में सामान्य ज्ञान, इत्यादि।

कालिज अध्यापकों की तैयारी.—यह देखा गया है कि शिक्षण-विधि के ज्ञान के अभाव के कारण अनेक कालिज अध्यापकों का अध्यापन सफलीभूत नहीं हो पाता है। इस कारण, उनकी पढ़ाई नीरस हो जाती है। इस विषय की चर्चा, एक व्हाईस-चान्सेलर के सम्मेलन में की गई थी। सम्मेलन ने अनुभव किया कि कालिज के नये अध्यापकों को शिक्षा-विधि के मूल तत्वों का दिग्दर्शन कराया जावे।† ये विषय हैं : (१) अपने विषय का यथोचित ज्ञान तथा इसे सुव्यवस्थित रूप में समझाना, (२) स्पष्ट भाषण, (३) सुचारुरूप से समझाने की शक्ति, (४) विद्यार्थियों में नवीन विचारों का प्रोत्साहन एवं (५) उनमें ज्ञान-पिपासा की वृद्धि।

इस विषय पर संयुक्त-राज्य अमेरिका में बहुत कुछ बहस हुई। अन्त में बहुमत से स्वीकार किया गया कि कालिज तथा विश्वविद्यालय के अध्यापकों को भी शिक्षा-पद्धति जानना आवश्यक है। इसके ज्ञान से पढ़ाना सरल हो जाता है, तथा शिक्षा-विधि रोचक बन जाती है। आज अमेरिका के कालिजों तथा विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में निम्न-लिखित पद्धतियों का अनुसरण किया जाता है : (१) वक्तृता-प्रणाली, (२) चर्चा विधि, (३) प्रायोगिक पद्धति, (४) श्रव्य और दृश्य साधनों का उपयोग, एवं

---

† देखिए पृष्ठ १६९।

(५) गोष्ठियों तथा कर्मशालाओं का आयोजन। हमारे देश में भी, इस ओर सुधार की जरूरत है।

अनुसन्धान-कार्य.—माध्यमिक-शिक्षा-आयोग ने लिखा है, "ट्रेनिंग कालिज केवल शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्था ही नहीं है, वरन् यह विभिन्न संशैक्षिकी तत्वों का अनुसन्धान-कार्यालय भी है।"† गवेषणा-कार्य प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के आचार्यों के तत्वावधान में हो। हाँ, वे माध्यमिक शिक्षकों से अवश्य सहायता ले सकते हैं। उनके निरीक्षण में कतिपय शोध-शिष्य भी काम कर सकते हैं। आज हमारे देश में निम्न लिखित शिक्षा-विषयों पर गवेषणा की अत्यधिक जरूरत है :

१. पाठ्य-क्रम निर्माण के लिए प्रायोगिक कार्य,
२. शिक्षा-प्रबन्ध तथा प्रशासन,
३. शिक्षकों का कार्य-बोझ,
४. शिक्षण-पद्धति की उन्नति,
५. भारतीय शिशु का मनोविज्ञान,
६. निर्देश एवं परामर्श,
७. परीक्षा,
८. बुद्धि-परीक्षण, एवं
९. शिक्षण समाज-शास्त्र।

समन्वयता का अभाव.—अन्त में हम शिक्षक-प्रशिक्षण-प्रणाली में समन्वय का अभाव देखते हैं। उदाहरण-स्वरूप डिग्री-डिप्लोमाओं का नामकरण ही लीजिए — एम० ईडी०, एम० ए० (शिक्षा), एम० टी०, बी० टी०, बी० एड०, एल० टी०, सी० टी०, टी० टी० सी०, डिप० टी०, टी० डी० इत्यादि। फिर ट्रेनिंग की अवधि लीजिए। कहीं एम० ईडी० का कोर्स दो वर्ष है, और कहीं एक वर्ष। यही हाल स्नातक पाठय-क्रम का भी है। इसी प्रकार 'कालिज' शब्द का उपयोग विविध स्तर की संस्थाओं के लिए आता है। यहाँ तक कि किसी-किसी राज्य में प्राथमिक शिक्षण केन्द्रों के लिए भी यह शब्द प्रचलित है। इतना ही नहीं, कहीं ये संस्थाएँ 'नार्मल स्कूल' कही जाती हैं, और कहीं 'ट्रेनिंग कालिज'। इस अव्यवस्थित रूप को दूर करने की विशेष आवश्यकता है।

---

† *Secondary Education Commission's Report.* p. 170.

हमारे शोध-कार्य में भी एक सुशृंखला की आवश्यकता है। कभी-कभी एक ही प्रसंग पर कतिपय विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान चलता रहता है, तथा प्रयोगात्मक कार्य होता रहता है। हमारे देश के लिए यह हितकर नहीं है। कारण, हमारा शोध-कार्य पिछड़ा हुआ है। इसी कारण राधाकृष्णन्-आयोग ने सिफारिश की थी कि अनुसन्धान-कार्य की व्यवस्था अखिल भारतीय आधार पर हो।

इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण प्रशासन में हम गड़बड़ी देखते हैं। किसी-किसी राज्य में तो उत्तर-स्नातक, स्नातक तथा उप-स्नातक प्रशिक्षण पाठयक्रमों का प्रशासन दो विभिन्न निकाय करते हैं; अर्थात्, विश्वविद्यालय एवं राज्यीय शिक्षा-विभाग। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए, माध्यमिक-शिक्षा-आयोग ने यह प्रस्ताव किया था :

> स्नातक प्रशिक्षण महाविद्यालयों को स्वीकृति तथा मान्यता विश्वविद्यालय देवें और वे ही डिग्रियाँ प्रदान करें। उपस्नातक स्तर के शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुव्यवस्था तथा समुन्नति के लिए एक विशिष्ट मण्डल प्रत्येक राज्य में स्थापित किया जाय। †

शिक्षकों की कतिपय समस्याएँ

शिक्षकों का स्थान.—किसी भी राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली में सबसे महत्वपूर्ण स्थान है शिक्षक का। शिक्षा की उन्नति के लिए, अवश्य उचित पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तक, शिक्षा-साधन, शाला-गृह की जरूरत है। पर उनसे ज्यादा जरूरत है पर्याप्तरूप में उपयुक्त शिक्षक तथा शिक्षिकाओं की। वे ही शिक्षा-पद्धति को चलाते हैं, वे ही पुस्तक, नक्शों, श्रव्य-दृश्य उपकरणों का उपयोग करते हैं और उन्हें छात्रों को समझाते हैं, वे ही शाला-गृह में एक नवीन जीवन डाल देते हैं। देश के भावी नागरिकों का निर्माण वे ही करते हैं। इस प्रकार किसी भी राष्ट्र का भविष्य शिक्षकों के हाथ में है।

अस्तु, अच्छे शिक्षकों के अभाव में किसी भी देश की शिक्षा-पद्धति निर्जीव और निस्तेज हो जाती है। यही समझ कर, प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षकों का एक विशिष्ट स्थान था। राजा और रंक, नर और नारी, विद्वान् और निरक्षर-भट्टाचार्य — सभी गुरु को मान देते थे। समय ने आज पल्टा खाया है। आज, शिक्षक भारतीय समाज का दलित प्राणी है।

शिक्षकों की संख्या.—आज, भारत में ११ लाख से अधिक शिक्षक तथा शिक्षिकाएँ क्रियाशील हैं। इनके विभिन्न स्तरों की संख्या का पता तालिका ३० से मिलेगा :

---

† *University Education Commission's Report.* p. 216.

तालिका २६

भारत में शिक्षकों की संख्या, १९५६–५७ †

संस्था	पुरुष	स्त्री	योग
विश्वविद्यालय तथा कालिज	३७,५५४	४,६१६	४२,१७०
माध्यमिक स्कूल :			
प्रशिक्षित	१,७५,७९७	५०,१२५	२,२५,८२२
अप्रशिक्षित... ...	१,२६,१४१	२०,११७	२,६७,९९२
प्राथमिक स्कूल :			
प्रशिक्षित	३,५१,०२८	९१,११९	४,४२,१४७
अप्रशिक्षित... ...	२,३७,८५०	३०,१४२	२,६७,९९२
पूर्व-प्राथमिक शाला :			
प्रशिक्षित	२२४	१,०३५	१,२५९
अप्रशिक्षित... ...	१२२	७५०	८७२
व्यावसायिक तथा तकनिकी स्कूल :	१४,४४२	३,०४९	१७,४९१
विशेष शिक्षावाले स्कूल :	२४,३०३	२,२०७	२६,५१०
योग... ...	९,६७,४६१	२,०३,१६०	११,७०,६२१

पन्द्रह प्रति शत शिक्षक महिलाएँ हैं, तथा पूर्व-प्राथमिक स्कूलों में अधिकतर शिक्षक महिलाएँ हैं। प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या है — माध्यमिक स्तर में ५९·१ प्रति शत (पुरुष ५८·६ तथा स्त्री ७३·१) तथा प्राथमिक स्तर में ५६·६ (पुरुष ५६·६ तथा स्त्री ७१·१) इस प्रकार शिक्षकों की अपेक्षा शिक्षिकाएँ अधिक प्रशिक्षित हैं।

शिक्षकों का वेतन-क्रम.—शिक्षकों का वेतनक्रम सन्तोषप्रद नहीं है, तथा विभिन्न राज्यों की पृथक् नीति है। हम वर्तमान स्थिति की ओर ध्यान रखते हुए देखते

† *Education in the States*, 1956–57. pp. 5–6.

हैं तो किसी-किसी राज्य के शिक्षकों को न्यूनतम वेतन-भोगी पाते हैं, जो अत्यन्त हास्यास्पद जान पड़ता है — प्राथमिक शिक्षक ३०), मैट्रिक-पास शिक्षक ४५), स्नातक शिक्षक ७०) एवं हाई स्कूल के हेडमास्टर २००) । अनेक राज्यों में २५ वर्ष नौकरी के पश्चात् एक व्यक्ति १००) मासिक वेतन पर प्राथमिक स्कूल का तथा २००) माहवार पर हाई स्कूल का हेडमास्टर नियुक्त होता है । इस प्रकार उनके जीवन की उच्चतम आकांक्षा पूर्ण होती है । अवश्य, सभी राज्यों की स्थिति इतनी बुरी नहीं है ।

कालिज तथा विश्वविद्यालयीय अध्यापकों की स्थिति भी गिरी हुई है । इन अध्यापकों को हम पाँच स्तरों में बाँट सकते हैं — डीन या प्रिन्सिपाल, प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर, ट्युटर या डिमोन्स्ट्रेटर । विश्वविद्यालयों में तो यह वर्गीकरण निश्चित रूप से रहता है, पर सम्बद्ध कालिजों में इसका कोई ठीक हिसाब नहीं रहता है । बहुधा 'प्रोफेसर' नामकरण अविवेक रूप से व्यवहृत होता है । इसके अतिरिक्त, अध्यापकों के वेतन-क्रम भी विभिन्न हैं — किसी विश्वविद्यालय में कुछ, और किसी में कुछ; किसी राज्य में कुछ, तो किसी में कुछ; सरकारी कालिज में कुछ, तो गैर-सरकारी कालिज में कुछ; साधारण कालिजों में कुछ, तो व्यावसायिक कालिजों में कुछ । इस समस्या की आलोचना करते हुए 'राधाकृष्णन आयोग' ने कहा ही है, "इस प्रकार समान कार्य करते हुए भी, वेतन असमान है ।"† चित्र १६ से कालिज तथा विश्वविद्यालयीय अध्यापकों के विभिन्न वेतन-स्तर के अनुरूप विभाजन का पता चलेगा ।

इस प्रकार २५ प्रति शत अध्यापकों को १५५) से कम मासिक वेतन मिलता है, ५० प्रति शत को २२०) से कम तथा ७५ प्रति शत को ३१५) से कम । केवल १० प्रति शत अध्यापकों को ४७२) से अधिक मासिक वेतन मिलता है एवं पाँच प्रति शत को ६१५) से ज्यादा ।‡

इस ओर शासकों की दृष्टि थोड़ी-बहुत आकर्षित हुई है । विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग कालिज तथा विश्वविद्यालय के वेतन-स्तर की उन्नति तथा उसमें शृंखला स्थापना की चेष्टा कर रहा है । शिक्षकों की वेतन-वृद्धि के लिए, भारत सरकार राज्यकीय सरकारों को अनुदान भी दे रही है—सन् १९५७–५८ में, केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों का वेतनक्रम बढ़ाने के लिए ४३,७२,२५० रु० अनुदान देना स्वीकार किया । प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों के वेतन-

† *University Education Commission's Report*, p. 73.

‡ Ministry of Education. *Education in Universities in India*, 1954-56, Delhi, Manager of Publication, 1959. p. 29.

वेतन-वर्गों के अनुसार कालिज-अध्यापकों का वर्गीकरण
(१९५५-५६)

(प्रत्येक पूर्ण प्रतीक = १००)

मासिक वेतन	सँख्या	प्रतिशत
१०० रु. से कम	२,९५४	९.८
१०१-१५० रु.	४,०७५	१३.५
१५१-२०० रु.	५,७१२	१८.९
२०१-२५० रु.	५,६२८	१८.६
२५१-३०० रु.	३,५९९	११.९
३०१-३५० रु.	२,२२२	७.४
३५१-४०० रु.	१,६२३	५.४
४०१-४५० रु.	९८०	३.२
४५१-५०० रु.	८७८	२.९
५०१-५५० रु.	४५६	१.५
५५१-६०० रु.	४४३	१.५
६०१-६५० रु.	३२४	१.१
६५१-७०० रु.	२०४	०.७
७०१-७५० रु.	१६९	०.५
७५१-८०० रु.	२०८	०.७
८०० रु. से अधिक	७१९	२.४

चित्र १६

वृद्धि के लिए, भारत सरकार ने राज्य सरकारों को सन् १९५६–५७ में ७६,९५,५०० रु. और १९५७–५८ में १,८५,४६,००० रु. दिया था ।†

अन्य सुभीते.—वेतन के अतिरिक्त शिक्षकों को अन्य सुभीतों की भी जरूरत है ताकि वे अपना अध्यापन-कार्य ठीक रीति से कर सकें। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने, शिक्षकों के लिए निम्नलिखित सुभीतों के आयोजन की सिफारिश की है : (१) उचित प्राव्हीडेण्ट फण्ड तथा बीमा, (२) मुक्त चिकित्सा (३) बच्चों की निःशुल्क शिक्षा एवं (४) सहकारी प्रथा पर मकान। ‡ हर्ष की बात है कि प्रायः सभी राज्यों में गैर-सरकारी शिक्षकों के लिए प्राव्हीडेण्ट फण्ड की व्यवस्था की गई है—शिक्षक अपने वेतन का ६¼ प्रति शत अपने वेतन से देते हैं और उतना ही पैसा परिचालकगण अंशदान करते हैं।

शिक्षकों के प्रति व्यवहार.—जीवन में केवल पैसा या वेतन ही सब कुछ नहीं है। संस्था के प्रति शिक्षकों के स्नेह की उत्पत्ति तथा वृद्धि परिचालकगण के व्यवहार पर निर्भर रहती है। पर गैर-सरकारी शिक्षकों के प्रति दुर्व्यवहार के अनेक दृष्टान्त सुने जाते हैं—कहीं वृथा झिड़कियाँ सुननी पड़ती हैं, कहीं अकारण ही पदच्युत होना पड़ता है, कहीं वेतन काट लिया जाता है, तथा कहीं सिर पर कोई भी चढ़ा दिये जाते हैं। अवश्य कभी-कभी, शिक्षकगण भी निर्दोष नहीं रहते। पर अधिकांश 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती है। परिचालकगण की अंधाधुन्धी चलती है।

शिक्षकों के बचाव के लिए, प्रत्येक राज्यीय शिक्षा-विभाग ने कायदे-कानून अवश्य बनाये हैं। पर उनका यथोचित पालन नहीं होता। शिक्षक तथा परिचालकगण के झगड़ों के मिटाने के लिए न्याय-समिति (ट्रिब्युनल की कहीं-कहीं स्थापना हुई है। पर जब तक इसे कानूनी स्वीकृति न मिले, तब तक यह कठपुतली के समान हैं। इसका एक दृष्टान्त पिछले पन्नों में लिखा गया है।*

उपसंहार

गत वर्ष के स्वाधीनता-दिवस के उपलक्ष्य में, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कुछ शिक्षकों को राष्ट्रीय सम्मान-द्वारा विभूषित किया। यह दिवस वर्तमान शिक्षा-

† **भारतीय समाचार**, १५ सितम्बर, १९५९, पृष्ठ ५१८।

‡ *Secondary Education Commission's Report*. pp. 184–185.

* देखिए, **पृष्ठ १६१**।

इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा। कारण सरकार ने प्रकट रूप में, शिक्षकों के महत्व को स्वीकार किया है।

पर इने-गिने पत्र-वितरणों से काम न चलेगा। शिक्षकों को अपने पैरों पर खुद खड़े होना पड़ेगा, उन्हें मिल-जुलकर काम करना पड़ेगा, कटिबद्ध होकर शिक्षक-संघ स्थापित करने पड़ेंगे। ये संघ विविध स्तर में हों—जिला, राज्यीय, अखिल-भारतीय। इनका सम्बन्ध विभिन्न शिक्षा-क्षेत्रों के मुताबिक भी हो—प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयीय, प्राविधिक, चिकित्सा, शिक्षक-प्रशिक्षण इत्यादि। 'एकता से लाभ' का पाठ केवल कक्षा में ही नहीं, पर उन्हें अपने जीवन तथा व्यावसायिक क्षेत्र में कार्यान्वित करना पड़ेगा। उन्हें खुद को न भगवान् के भरोसे ही छोड़ना चाहिए, न दूसरों के भरोसे। स्वावलम्बी हुए बिना जीवन में कभी सफलता नहीं मिलती। "वे अपनी समस्याओं पर," जैसा कि डाक्टर जाकिर हुसैन ने कहा है, "स्वतः विचार करें तथा उनको हल करने का प्रयत्न करें।"†

† जाकीर हुसैन : "उद्बोधन-भाषण", **बिहार राज्यीय शिक्षण-गोष्ठी**, १७ फरवरी, १९५८।

दसवाँ अध्याय

विविध विषय

१. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा

भूमिका.—कुछ वर्षों से लोगों का ध्यान पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ है। वे शैशवावस्था के गौरव को समझने लगे हैं। यह देखा गया है कि मानव-जीवन के प्रारम्भिक छः वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। शैशवावस्था में जो संस्कार बालक में डाल दिये जाते हैं, वे ही कालान्तर में सुदृढ़ हो जाते हैं और उसके चरित्र-गठन के आधार बनते हैं। ये संस्कार मनुष्य के आयु-पर्यन्त रहते हैं, क्योंकि प्रथम प्रवाह अन्तिम या स्थिर प्रवाह होता है। इसके अतिरिक्त यदि शिशु के प्रारम्भ से ही संवेग तथा स्थायी भाव सुचारु रूप से निर्मित हो जावें, तो उसका भविष्य निश्चित ही उज्ज्वलतर बन जाता है। अतएव शैशवावस्था से ही, हमें शिशु के जीवन की ओर ध्यान देना चाहिए।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का रूप.—पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की अवधि मनुष्य-जीवन के प्रथम छः वर्ष रहती है, अर्थात् शिशु के भूमिष्ठ होने से लेकर प्राथमिक शिक्षा के आरम्भ होने तक। इसमें शामिल है माता-पिता की शिक्षा, पूर्वजन्म-विषयक तथा उत्तर जन्म-विषयक सतर्कता, एवं शैशवावस्था का प्रशिक्षण। यदि वास्तव में पूछा जाय तो इस प्रशिक्षण की सीमा स्कूल के निश्चित घण्टों की शिक्षा तक ही मर्यादित नहीं रहती है। गान्धीजी ने कहा ही है, "यथार्थ शिक्षा मानव-जीवन के गर्भाधान से ही आरम्भ होती है, क्योंकि इसी समय से माता बच्चे की जिम्मेवारी लेना आरम्भ करती है।" हमें महाभारत पढ़ने से मालूम होता है कि अभिमन्यु ने अस्त्र-शिक्षा का ज्ञान सुभद्रा के गर्भ में अवस्थित रह कर ही अर्जन किया था।

पाश्चात्य देशों में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की प्रगति.—गृह के बाहर पूर्व प्राथमिक शिक्षा के आरम्भ करने का श्रेय सुप्रसिद्ध जर्मन शिक्षा-शास्त्री श्री फ्रोबेल को मिलना चाहिए। उन्होंने सन् १८३७ में जर्मनी के 'ब्लेकनबर्ग' नामक नगर में

४. अच्छी आदतों का निर्माण किया जावे;

५. शिशु की कल्पना-शक्ति के विकास का अवसर रहे;

६. बच्चों के सामाजिक जीवन का संगठन हो; तथा

७. गृह-जीवन के साथ एकता स्थापित की जावे।

इस प्रकार एक पूर्व-प्राथमिक स्कूल छोटे बच्चों की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देता है। यह स्कूल एक आदर्श वातावरण में हो, ताकि बच्चों को यथेष्ट हवा तथा धूप मिले। उनके स्वास्थ्य की जाँच नियमित समय पर होनी ही चाहिए, ताकि वे नीरोग बनें; और सहसा वे किसी बीमारी के शिकार न बन बैठें। उनके खाने-पीने, उठाने-बैठने तथा सोने का समय बँधा हुआ—निश्चित—होना चाहिए। उन्हें ठीक तरह मुँह धोना पड़ता है, दाँत तथा शरीर साफ़ करना पड़ता है तथा प्रत्येक वस्तु को यथोचित स्थान पर रखना सिखाया जाता है। इस प्रकार उनमें अच्छी आदतों की नींव डाली जाती है। उनको ठीक उच्चारण के साथ किस्से कहना तथा अभिनय करना पड़ता है। वे गाते हैं, नाचते हैं, खेलते तथा कूदते हैं, अपने हाथों से बालू का पहाड़ बना देते हैं एवं नाली-के-रूप में नदी बहा देते हैं, चित्र खींचते हैं या कागज़ काटते हैं। सार अर्थ यह है कि एक पूर्व-प्राथमिक स्कूल शिशु के व्यक्तित्व के विकास की ओर सतर्कता-पूर्ण ध्यान देता है। वहाँ शिशु पर कोई दबाव नहीं रहता, वह क्रीड़ा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति से लाभ उठाता है। इस स्कूल में औपचारिक शिक्षा का नामनिशान नहीं रहता है, वरन् इसका ध्येय बच्चों को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रस्तुत करना होता है, जिसके लिए अत्यावश्यक हैं—नीरोग शरीर, अच्छी आदतें, नियमित जीवन, विशुद्ध उच्चारण, एकाग्रता तथा समझने की शक्ति। एक सुव्यवस्थित पूर्व-प्राथमिक स्कूल यह कार्य बहुत कुछ सम्पादित कर सकता है।

भारत में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा।—भारत में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा शैशवावस्था में है। सन् १९५१–५२ में सम्पूर्ण देश में केवल ३३० पूर्व-प्राथमिक स्कूल थे और १९५६–५७ में ७७३। इस प्रकार प्रति वर्ष लगभग १०० स्कूल खुलते जा रहे हैं। इन स्कूलों में ३–६ वयोवर्ग के बच्चे भरती किये जाते हैं। इनके विभिन्न नाम हैं: नर्सरी, किण्डरगार्टन, मोण्टेसरी, बाल-मन्दिर, शिशु-विहार, पूर्व-प्राथमिय एवं पूर्व-बुनियादी। इनी-गिनी संस्थाओं को छोड़कर प्रायः सभी स्कूलों में किण्डरगार्टन या मोण्टेसरी-पद्धति या इनके साथ मिश्रित क्रीड़ा-पद्धति प्रचलित है।

बहुधा ये संस्थाएँ कोरी कक्षाएँ होतीं हैं तथा किसी स्कूल से संलग्न होती हैं। प्रायः सभी संस्थाएँ शहरों में स्थित हैं। राजकीय स्कूलों की संख्या बहुत ही कम है। सरकार अवश्य स्वसञ्चालित स्कूलों को अनुदान देती है। अधिकांश स्कूलों की दशा बुरी है। न उनके शाला-गृह ही स्वास्थ्यकर स्थान में अवस्थित हैं, न उनमें यथोचित शिक्षा-उपकरण की व्यवस्था है और न प्रशिक्षित शिक्षकों की। आज पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को इन बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है : शिक्षिकाओं की कमी, पूर्व-प्राथमिक प्रशिक्षण की अव्यवस्था, इस देश के लिए उपयुक्त शिशु-साहित्य तथा शिक्षण-विधि का अभाव, अनुसन्धान तथा बाल-प्रयोग-शालाओं की अनुपस्थिति।

नये प्रयत्न : प्रारम्भिक चेष्टाएँ.—आज सभी पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। डॉ० मोण्टेसरी इस देश में सन् १९४०—४८ तक रहीं। उन्होंने सैकड़ों शिक्षकों को स्वतः प्रशिक्षित किया। इसके फल-स्वरूप हमारे देश की पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। हमारी कुछ आधुनिक सरकारी रिपोर्टों ने भी इस शिक्षा की अच्छी क़दर की। उदाहरण-स्वरूप 'केसशिम' की द्वितीय बुनियादी समिति ने सुझाव दिया कि अनिवार्य शिक्षा की सहायता के लिए नर्सरी स्कूल तथा क्लासों की आवश्यकता है। सार्जेण्ट रिपोर्ट और भी आगे बढ़ी। उसने सिफ़ारिश की, "सरकार को चाहिए कि अपने भावी नागरिकों के लिए स्वास्थ्यप्रद नर्सरी स्कूल स्थापित करे। इनमें शिक्षिकाओं तथा शिक्षा-उपकरणों का यथोचित प्रबन्ध हो।"† इस रिपोर्ट ने सुझाव दिया कि इस देश में दस लाख ३-६ वयोवर्ग के बच्चों के लिए मुफ्त नर्सरी स्कूल शिक्षा का प्रबंध किया जाय। हाल ही में अनुमान-समिति की चौथी रिपोर्ट को लोक-सभा में प्रस्तुत करते हुए श्री बलवन्तराय मेहता ने कहा, "पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विषय में ऐसी अखिल भारतीय नीति नहीं है, जिससे राज्यों तथा व्यवस्थापकों को कुछ निर्देश मिल सके।"‡ समिति ने सुझाव दिया कि कुछ शिक्षा-शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों से परामर्श लेकर शिशु-शिक्षा के प्रबन्ध एवं प्रसार के लिए कुछ नियम ठीक किये जावें।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा.—पूर्व प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग हो रहे हैं। यह शिक्षा गर्भाधान से शुरू होकर सात वर्ष की आयु तक चलती रहती है। इसके मुख्य चार प्रक्रम हैं : (१) गर्भाधान से जन्म तक, (२) जन्म से २½ वर्ष की

---

† *Sargent Report*. p. 18.

‡ Estimates Committee; *Elementary Education*, 1957-58. New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. p. 6.

आयु तक, (३) २½ वर्ष से ४ वर्ष की आयु तक और (४) ४ से छः वर्ष की आयु तक। प्रथम दो प्रक्रमों का सम्बन्ध केवल माता तथा बच्चे के साथ रहता है। इस कारण, पूर्व-बुनियादी स्कूल के साथ एक मातृ-कल्याण सदन का रहना आवश्यक है, ताकि माताओं को अपने तथा बच्चे के सम्बन्ध में यथोचित सलाह मिल सके।

अढ़ाई वर्ष की आयु मे, बच्चा एक पूर्व-बुनियादी स्कूल में भरती होता है तथा वहाँ सात वर्ष की आयु तक रहता है। शिशु के प्रशिक्षण में इन बातों की ओर ध्यान दिया जाता है: (१) पालन-पोषण, (२) डाक्टरी निरीक्षण, (३) आत्म-विश्वास, (४) सामाजिक प्रशिक्षण, (५) शिक्षणीय सृजनात्मक कार्य-कलाप, (६) गीत, कहानी तथा अभिनय द्वारा उच्चारण-विकास, (७) अंक-सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि, (८) वैज्ञानिक इच्छा का विकास, (९) संगीत एवं लय और (१०) कला।† शिक्षा जीवन-स्थिति या शिशु के स्वाभाविक वातावरण की परिस्थितियों से सम्बन्धित रहती है।

समन्वय पद्धति.—आज, पूर्व-बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त हमारे देश की पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा को प्रभावित कर रहे हैं। कुछ तो किण्डरगार्टन पद्धति या मोण्टेसरी पद्धति का ही अनुकरण करना चाहते हैं, कुछ पूर्व-बुनियादी शिक्षा को अपना रहे हैं तथा कुछ मोण्टेसरी एवं पूर्व-बुनियादी शिक्षा में एक समन्वय स्थापना की चेष्टा कर रहे हैं। तृतीय वर्ग की संस्थाओं में नूतन बाल-शिक्षण-संघ, भावनगर प्रधान है। इसके कार्य-कर्तागण मोण्टेसरी तथा पूर्व-बुनियादी पद्धति के अच्छे गुणों के आधार पर एक नवीन प्रयोग चला रहे हैं। सम्भवतः यह पद्धति हमारे देश के पूर्व-प्राथमिक स्कूलों के लिए अनुकूल तथा उपकृत सिद्ध होगी।

उपसहार.—पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का प्रसार आज सभी चाहते हैं, और इसका जितना अधिक प्रसार होगा, उतना ही वह राष्ट्र के लिए हितकर होगा। पर इसे दो बाधाओं का सामना करना पड़ेगा: अर्थाभाव तथा शिक्षकों की कमी। आज देश के सामने सबसे कठिन प्रश्न अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा का है। हम इसे ही हल नहीं कर पा रहे हैं। तब हम पूर्व-प्राथमिक शिक्षा विस्तार का बीड़ा किस बूते उठा सकते हैं? लेकिन हमें हतोत्साह नहीं होना चाहिए। प्रत्येक देश की निजी समस्याएँ हुआ करती हैं। हमें भारत की शिक्षा-समस्याओं का समाधान विभिन्न रीतियों से करना पड़ेगा।

---

† *Report of The Fifth All-India Basic Education Conference,* 1950. pp. 102-103.

प्रथमतः, हमारे देश में इने-गिने शहर हैं, और समूचे देश में गाँवों का मानो जाल बिछा हुआ है। इन गाँवों में पहुँचने के लिए लम्बे मार्गों को तय करना पड़ता है। मार्गों की यह दूरी पूर्व-प्राथमिक स्कूलों की स्थापना में बाधा पहुँचाती है। अतएव कुछ समय तक गाँवों को ठहरना पड़ेगा, और हमें अभी शहरों की ओर ही अधिक ध्यान देना उचित है। शहर में भी हमें अमीर, मध्यम वर्ग तथा गरीबों का ख्याल करना पड़ेगा। अमीर तो निस्सन्देह अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। वे अपने बच्चों के लिए अध्यापिकाएँ नियुक्त कर सकते हैं, या, सर्वोत्तम पूर्व-प्राथमिक स्कूल खोल सकते हैं। उन्हें पैसों के लिए पराया मुख ताकना नहीं पड़ता है। परन्तु वस्तुतः ऐसी संस्थाओं की सर्वाधिक आवश्यकता है उन गरीब बच्चों के लिए, जिनके माँ-बापों को दिन भर काम करना पड़ता है, जिनके पेट में कठिनाई से दाना पड़ता है, और जो गन्दी गलियों में निवास करते हैं। ऐसे ही बालक-बालिकाओं के लिए मुक्त-वायु स्थित नर्सरी स्कूलों की आवश्यकता है। जब तक इन असहाय बच्चों की ओर हम उचित ध्यान न देंगे, तब तक हम इस राष्ट्र को उन्नत मस्तक न कर सकेंगे।

मध्यम वर्ग के लिए, हमें माता-पिता सम्बन्धी एवं पारिवारिक शिक्षा का आयोजन करना पड़ेगा। कारण, शिशु के सर्व प्रथम शिक्षक हैं उसके माता-पिता। अतएव उन्हें शिशुओं के पालन-पोषण का यथोचित ज्ञान होना चाहिए। यह शिक्षा उन्हें विवाह के पूर्व, स्कूल तथा कालिज में देना उचित है। प्रौढ़ों को भी उत्तर जन्म-विषयक तथा बाल मनोविज्ञान का ज्ञान हितकर सिद्ध होता है। अपढ़ प्रौढ़ों के साथ भी परिवार-योजना की चर्चा करनी चाहिए।

इस प्रकार हमें अपने घरों की स्थिति ठीक करनी चाहिए। कारण, देश की समृद्धि गृह-गृह की उन्नति पर निर्भर रहती है। मनुष्य-जीवन की उन्नति का बीज घर में ही बोया जाता है। उचित वातावरण में वह पल्लवित होकर शाखाएँ प्रशाखाएँ फैलाने लगता है। यदि वातावरण अनुकूल न हुआ तो वह अङ्कुरित होने के पश्चात् ही कुम्हलाने लगता है।

१. प्रौढ़ (समाज) शिक्षा

प्रस्तावना

विशेषता.—सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार देश की कुल जन-संख्या ३५.७ करोढ़ थी, अर्थात् पृथ्वी की संपूर्ण जन-संख्या की १५.१ प्रति शत जन-संख्या इस देश में वास करती थी। इस जन संख्या में १६.६ व्यक्ति साक्षर थे—२४.९ पुरुष एव ७.९ स्त्री, अथवा ३४.६ प्रति शत शहरी लोग और १२.१ ग्राम-वासी।

अतएव, आज प्रौढ़ शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। निरक्षरता देश की उन्नति में पग-पग पर बाधा डालती है। चाहे हम कोई भी जीवन-क्षेत्र लें, आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक। इन सबमें प्रौढ़ जन ही समाज के मुखिया के रूप में हमारे सामने आते हैं। परिवार की उन्नति भी उन्हीं पर निर्भर रहती है। अपढ़ मनुष्य शिक्षा का बहुधा कट्टर शत्रु होता है। वास्तव में वह शिक्षा के महत्व को समझ नहीं पाता है, फलतः वह अपने बच्चों को भी शिक्षा नहीं देना चाहता। अशिक्षित प्रौढ़ ही बच्चों की शिक्षा में बाधा डालते हैं। अस्तु, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के यथोचित प्रसार के लिए प्रौढ़ शिक्षा के विस्तार की आवश्यकता है।

प्रौढ़ कौन हैं?—'प्रौढ़' तथा 'प्रौढ़ शिक्षा' का उपयोग विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार का होता है। इंग्लैण्ड के सन् १९४४ के शिक्षा-कानून के अनुसार, पन्द्रह वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा का बन्दोबस्त किया गया है, तथा अठारह वर्ष की आयु तक उन्हें आंशिक सातत्य शिक्षा मिलती है। अठारह वर्ष की ऊपर की आयु के व्यक्ति ही इंग्लैण्ड में प्रौढ़ गिने जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में बीस वर्ष से अधिक आयु के पुरुष और स्त्री वयस्क (प्रौढ़) कहे जाते हैं। हमारे देश का लक्ष्य ६-१४ वयोवर्ग के बच्चों को अनिवार्य शिक्षा देना है, अतएव १४ वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों को हम प्रौढ़ कह सकते हैं।

प्रौढ़ शिक्षा के रूप.—'प्रौढ़ शिक्षा क्या है?'—इस विषय पर भी मतभेद है। प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान् ब्राइसन का कथन है, "इस शिक्षा के अन्तर्गत हम मनुष्य के उन शैक्षणिक कार्य-कलापों को गिन सकते हैं, जिनका उपयोग वह अपने दैनिक जीवन में करता है और जिनसे उसके ज्ञान की अभिवृद्धि होती है।" इसी प्रकार अंग्रेज विद्वान् श्री अर्नेस्ट ब्रार्कर का मत है, "अपने जीविकोपार्जन के साथ-साथ यह शिक्षा प्रौढ़ों को अंश-कालिक रूप में मिलती है। अतएव इस शिक्षा के अन्तर्गत वे सभी औपचारिक तथा अनौपचारिक उपदेश आ सकते हैं, जिन्हें हम वयस्कों को दे सकते हैं।"

हमारे देश में इस शिक्षा के दो रूप हैं: (१) प्रौढ़-साक्षरता, अर्थात् उन वयस्कों की शिक्षा, जो निरे अपढ़ हैं, एवं (२) शिक्षित प्रौढ़ों की सातत्य शिक्षा।

प्रौढ़-साक्षरता से समाज शिक्षा

पूर्व-पृष्ठिका.—भारत में कभी ऐसा समय नहीं रहा है, जब कि जन-समाज को शिक्षित करके उसके जीवन को उन्नत करने के साधन नहीं अपनाये गये हों। वैदिक काल में प्रत्येक परिब्राजक या संन्यासी का कर्तव्य था कि वह नगर-नगर और

ग्राम-ग्राम घूम कर अध्यात्म-नीति तथा सदाचार का प्रचार करे। तत्पश्चात् हमारे सामाजिक जीवन के उन्नयन का प्रेरक एक और साधन था, वह था कथाओं, कीर्तनों, रामलीलाओं, नाटकों आदि की परम्परा। मध्य युग में हमारे भाट, चारण, जोगी और बाऊल द्वार-द्वार पर घूम-घूम कर भिक्षा का पात्र लिये, सारंगी अथवा अन्य वाद्य की सुमधुर ध्वनि के साथ उपदेशात्मक पद्य सुनाया करते थे। पर आजकल भिक्षा वृत्ति एक व्यवसाय-मात्र है।

ब्रिटिश युग.—ब्रिटिश युग में हम प्रौढ़ शिक्षा के विकास को दो मुख्य कालों में बाँट सकते हैं। प्रथम काल की अवधि सन् १८५७ से १९१९ ई० तक समझी जाती है, अर्थात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के पतन से सन् १९१९ ई० के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इंडिया कानून तक। इस अवधि में प्रौढ़ शिक्षा के लिए कुछ छिट-पुट प्रयत्न अवश्य किये गये। इन सबका उद्देश्य निम्न-श्रेणी के वयस्कों तथा बच्चों को साक्षर बनाना था। इसी उद्देश्य से, मिशनरी मण्डलों ने कुछ प्रौढ़ पाठशालाएँ खोलीं तथा औद्योगिक केन्द्रों में कतिपय रात्रि शालाएँ सञ्चालित हुईं। बड़ौदा राज्य में सार्वजनिक पुस्तकालयों का आरम्भ सन् १९१० में हुआ। इस अवधि के अन्त में कुछ रात्रि पाठशालाएँ मद्रास, बम्बई, बंगाल, मैसूर तथा बड़ौदा में चल रही थीं, पर उनमें उचित व्यवस्था न थी।

प्रौढ़ शिक्षा विकास का द्वितीय युग सन् १९१९ से १९४७ तक माना गया है, अर्थात् गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया कानून, १९१९ से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक। इसी अवधि में भारतीय प्रौढ़ शिक्षा का क्रमबद्ध इतिहास आरंभ होता है। माण्टफोर्ड सुधार तथा प्रथम विश्व युद्ध ने लोगों में एक नवीन चेतना आरंभ कर दी। सुधार के कारण, मत-दान का क्षेत्र विस्तृत हो गया; इस कारण यह आवश्यक हो गया कि जनता अपने हक को सोचे-समझे। प्रथम विश्व-युद्ध के कारण, अपढ़ सिपाही अन्य देशों के सम्पर्क में आये। वे हमारे देश में नये विचार लाये और उनमें ज्ञान की पिपासा उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त माण्टफोर्ड सुधार के फलस्वरूप भारतीय शिक्षा की बागडोर भारतीय शिक्षा-मन्त्रियों के हाथ में आयी। उन्होंने प्रौढ़ शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया।

इस प्रकार प्रौढ़-साक्षरता का आन्दोलन पूरे देश में आरम्भ हुआ। प्रौढ़ शालाएँ तथा रात्रि पाठशालाएँ खुलीं, कई प्रान्तों में ग्रामीण पुस्तकालय तथा चलते-फिरते पुस्तकालय स्थापित हुए। साक्षरता-प्रसार के उद्देश्य से, अनेक स्थानों में, गैर-सरकारी संस्थाएँ भी खोली गयीं। सरकार ने उन्हें अनुदान अवश्य दिया। सन् १९३८ में भारतीय प्रौढ़-शिक्षा-समिति दिल्ली में स्थापित हुई। यह संस्था क्रमशः भारत की केन्द्रीय संस्था बनने की ओर अग्रसर होने लगी।

सन् १९४२ ई० के राजनैतिक आन्दोलन और ब्रिटिश दमन नीति का विषमय प्रभाव साक्षरता आन्दोलन पर भी पड़ा। इस नीति के फल-स्वरूप सन् १९४२ से सन् १९४७ तक सभी प्रान्तों की प्रौढ़ शिक्षा-प्रगति में शिथिलता आ गयी। भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों ने अपने आय-व्यय की एकम को घटाकर सीमित क्षेत्र में तथा सीमित ढंग पर साक्षरता प्रसार के कार्य को जीवित रहने दिया।

प्रौढ़ शिक्षा को नया रूप.—सन १९४७ तक प्रौढ़ शिक्षा का एक मात्र ध्येय केवल साक्षरता था, पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रौढ़ शिक्षा के इतिहास में एक नवीन युग का अवतरण हुआ। 'केसशिम' के पन्द्रहवें अधिवेशन के समय (जनवरी, १९४४) शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने घोषणा की कि स्वाधीन भारत में प्रौढ़ शिक्षा का ध्येय केवल साक्षरता नहीं हो सकता है। इस शिक्षा को समाज शिक्षा का व्यापक रूप दिया जाय, जिसमें न केवल साक्षरता का स्थान हो बल्कि स्वास्थ्य, सामाजिक चेतना, उन्नत कृषि तथा कला आदि सर्वोदय के सभी अंगों का समावेश हो।

समाज-शिक्षा का कार्यक्रम.—समाज-शिक्षा के अन्तर्गत एक पञ्च-सूत्री कार्य-क्रम बनाया गया है, जिसके उद्देश्य ये हैं: (१) साक्षरता प्रसार, (२) स्वास्थ्य तथा सफ़ाई के नियमों के ज्ञान का प्रसार, (३) वयस्क व्यक्तियों के आर्थिक स्तर की उन्नति, (४) नागरिकता की भावना, अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जनता में जागरूकता को प्रोत्साहन देना, और (५) समाज तथा व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुरूप स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था करना। †

समाज शिक्षा आन्दोलन

भूमिका.—मौलाना आज़ाद की घोषणा के पश्चात्, प्रौढ़ शिक्षा में एक नयी जान आयी। सन् १९४८-४९ के बाद समाज-शिक्षा-प्रसार के लिए यथेष्ट चेष्टाएँ की जा रही हैं। इन सबको हम पाँच भागों में बाँट सकते हैं: (१) प्रशासन, (२) समाज शिक्षा संस्थाएँ, (३) समाज शिक्षा व्यवस्थापक और कार्य-कर्त्ताओं का प्रशिक्षण, (४) गोष्ठियाँ, और (५) उत्तर-साक्षरता का प्रबन्ध।

प्रशासन.—केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय अखिल भारतीय स्तर पर समाज शिक्षा आयोजित करता है। यह कार्य योजना-आयोग तथा सामुदायिक विकास मन्त्रालय के सहयोग से चलाया जाता है। अपने कर्मचारियों के लिए भारत सरकार के कतिपय मन्त्रालय—श्रम, परिवहन एवं प्रतिरक्षा—स्वतः कुछ प्रोग्राम चलाते हैं।

---

† भारत १९५९, पृष्ठ ८४।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के मुख्य कर्तव्य हैं : संयोजन, निर्देशन एवं आर्थिक सहायता। प्रथमतः, मन्त्रालय उन योजनाओं का विचार करता है, जिन्हें वह स्वतः सुझाता है और जिन्हें विभिन्न राज्य-सरकारें चलाती हैं। द्वितीयः, 'केसशिम' अथवा अन्य परिषदों की बैठकों में भारत के विभिन्न समाज शिक्षा विषयक कार्य-कलापों पर विचार विमर्श हुआ करता है। इन सामूहिक बैठकों का निर्णय देश के लिए हितकर सिद्ध होता है।

समाज शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए कई समितियाँ हैं। प्रथम निकाय है 'केसशिम' की समाज शिक्षा स्थायी समिति, जो सन् १९४८ में स्थापित हुई थी। यह समिति केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को वयस्कों की शिक्षा समस्याओं पर परामर्श देता है। द्वितीय निकाय है 'केन्द्रीय समाज-कल्याण मण्डल'। इस स्वायत्त-शाली संस्था की स्थापना अगस्त, १९५३ में हुई थी। इसके द्वारा समाज कल्याण सम्बन्धी कार्यों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से स्वेच्छिक समाज सेवा संगठनों को सहायता-अनुदान दिये जाते हैं। समाज शिक्षा इस मण्डल का एक मुख्य काम है। तृतीय निकाय है 'राष्ट्रीय मूलभूत शिक्षा-केन्द्र'। उच्च कर्मचारियों को समाज शिक्षा के कार्य का प्रशिक्षण देने तथा चुनी हुई समस्याओं पर उपयुक्त शोध-कार्य करने के लिए, इस संस्था की स्थापना हुई है।

केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों तथा गैरसरकारी संस्थाओं को अनुदान प्रदान करती है। शोध-कार्य तथा नव-साक्षरों के साहित्य के प्रकाशन के प्रोत्साहन के लिए भी वह आर्थिक सहायता देती है। इसके अतिरिक्त समाज शिक्षा की कुछ गोष्ठियों को या तो वह स्वयं चलाती है, अथवा अन्य संस्थाओं को इस कार्य के लिए अनुदान देती है।

सामाजिक शिक्षा के प्रसार का उत्तरदायित्व प्रधानतः राज्य-सरकारों पर ही है, पर इस विषय पर द्वैध शासन है। शिक्षा विभाग, अपना पुराना कार्य चलाते हैं; पर समाज शिक्षा के नवीन अंगों का परिचालन सामुदायिक विकास विभाग करता है। अनेक राज्यों ने इस द्वैध शासन का बहिष्कार किया है। उसका अधिकार एक ही निकाय की अधीनता में रहता है, चाहे सम्पूर्ण प्रशासन न हो।

सम्पूर्ण राज्य का प्रशासन एक विशिष्ट अफ़सर करते हैं, और उनके नीचे क्षेत्रीय और/या ज़िला-व्यवस्थापक रहते हैं। विभिन्न स्तर के अधिकारीगण सलाहकारी समितियों की सहायता से काम करते हैं : राज्य, क्षेत्र, ज़िला या नगर। राज्यीय तथा क्षेत्रीय समितियों का कर्तव्य केवल परामर्श देना ही रहता है, पर ज़िला या नगर समितियों को

जनता क घनिष्ठ सम्पर्क में आना पड़ता है, समाज सेवा के कार्य-कलापों को चलाना पड़ता है, और यदि हेर-फेर की आवश्यकता पड़े तो सरकार को सलाह देना पड़ता है।

संस्थाएँ—समाज-सेवा के पंचमुखी उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के लिए, विविध प्रकार का संस्थाओं की आवश्यकता है, ताकि प्रत्येक वयस्क अपनी तथा देश की आवश्यकताओं को समझ सके और समाज के निकटतम सम्बन्ध में आ सके। नीचे कतिपय मुख्य संस्थाओं का विवरण दिया जाता है।

साक्षरता-कक्षाएँ.—प्रारम्भिक संस्थाओं का उद्देश्य वयस्कों की निरक्षरता का निवारण करना था। सन १९५३ तक इन संस्थाओं की संख्या ४०,००० थी। इसका लाभ प्रति वर्ष प्रायः चार लाख वयस्क उठाते थे। सामुदायिक विकास की कार्यवाही के कारण, इस कार्य को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस विकास के आरम्भ होने के प्रथम वर्ष ही ७,००० नयी कक्षाएँ खुलीं, जिनकी छात्र संख्या ९८,००० थी। सन १९५५ के अन्त तक सामुदायिक विकास-खण्ड ७५,००० कक्षाएँ चला रहे थे, जिनमें छः लाख से अधिक प्रौढ़ समाज-शिक्षा पा रहे थे। निरक्षरता-निवारण योजना का यह ज्वलन्त दृष्टान्त है।

समाज-सदन.- कभी-कभी साक्षरता-कक्षाएं विकसित होकर समाज-सदन का रूप धारण करती हैं। इस संस्था में गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं। इसमें आमोद-प्रमोद एवं खेल का प्रबन्ध रहता है तथा लोग विविध विषयों की चर्चा भी करते हैं। किसी-किसी सदन में तो व्यायाम-शाला, उद्योग-कक्षा, जलपान-गृह, आदि की व्यवस्था रहती है।

तरुण संघ.—खेल-कूद तरुणों को प्रिय होते हैं। इस कार्य के लिए, वे संघ स्थापित करते हैं। धीरे-धीरे संघ अन्य कार्य भी आरम्भ करते हैं, जैसे : नाटकाभिनय, निरुद्देश्य परिभ्रमण, स्काउटिंग, सेवा-समिति, सुरक्षा-दल, हस्तोद्योग एवं प्रदर्शिनी। गाँवों में कभी-कभी तरुण-कृषक-संघ की स्थापना होती है। इसका मुख्य उद्देश्य रहता है ग्राम-विकास एवं खेती की उन्नति। अधिकतर ऐसे संघों की स्थापना पंजाब राज्य में हुई है।

महिला-समिति.—प्रत्येक सामुदायिक विकास-खण्ड में एक व्यवस्थापिका रहती है। उसका काम ही महिला-संस्थाओं की स्थापना करना होता है। इन समितियों में ये कार्य होते हैं : (१) भजन तथा गीत के लिए देहाती औरतों का सम्मेलन, (२) उत्सवों तथा त्यौहारों का संगठन, (३) गृह-उन्नति तथा शिशु-पालन, (४) सूतिका-गृह सेवा, (५) पाक-विज्ञान और भोजन-विज्ञान, (६) बुनाई, सिलाई, दर्जीगिरी या

कोई अन्य हस्तोद्योग, (७) वार्ता, भाषण, प्रदर्शिनी, आदि, (८) खेल-कूद शिविरों आदि का संघटन, (९) साग-सब्जी की बाड़ियाँ लगाना, (१०) साक्षरता, इत्यादि।

विस्तार.—गत कुछ वर्षों में समाज शिक्षा का काफी विस्तार हो रहा है। विस्तार का अनुमान निम्नलिखित तालिका से किया जा सकता है।

तालिका २७

समाज शिक्षा का विस्तार, १९५१–५२ से १९५५–५६

वर्ष	कक्षा, केन्द्र, स्कूल	छात्र-संख्या	साक्षरता प्रमाण-पत्र वितरण	खर्च (लाख रुपये)
१९५१–५२	४३,४६३	१०,६१,२८०	४,८९,१३५	७१·८३
१९५२–५३	४४,५९५	१०,८८,७८४	४,४२,७००	७३·७७
१९५३–५४	३९,९६५	९,४८,८४७	३,९२,४४०	६२·०५
१९५४–५५	४३,२२३	११,३१,४०५	४,६९,१०१	७७·४६
१९५५–५६	४६,०९१	१२,७८,८२७	५,४५,२२१	९६·८०

सन् १९५५–५६ में कुल संस्थाओं की संख्या ४६,०९१ थी। जिनमें १३,२७४ सरकारी, ४५८ जिला-मंडल की, २८२ नगर-पालिका की एवं ३२,०७७ स्वसंचालित थीं। खर्च का आवण्टन इस प्रकार था : सरकारी ९२·२ प्रति शत, स्थानीय मण्डल ३·० प्रति शत एवं अन्य स्रोत ४·८ प्रति शत।†

संस्थाओं के प्रोग्रामों में निम्नलिखित कार्य-क्रम शामिल थे :

१. **शैक्षणिक.**—साक्षरता-कक्षा, वाचनालय, समाचार-सूचना-पट, पुस्तक-आलोचना, प्रवचन, वाद-विवाद, गोष्ठी, प्रदर्शिनी, भाषण, प्रारम्भिक तथा अत्यावश्यक चिकित्सा, इत्यादि।

† *Education in India*, 1955-56. Vol. I. p. 288.

२. **सांस्कृतिक.**—श्रव्य-दृश्य उपकरणों का उपयोग, नाटकाभिनय, लोक-गीत, लोक-नृत्य, कवि-सम्मेलन, मुशायरा, प्रीति-भोज, इत्यादि ।

३. **आमोद-प्रमोद.**—कथा, भजन, खेल-कूद, प्रीति-यात्रा, तैरना, निरुद्देश्य परिभ्रमण, इत्यादि ।

४. **कला और हस्तोद्योग.**—बुनाई, सिलाई, दर्ज़ीगिरी, कशीदे का काम, बागवानी, बढ़ईगिरी, साबुनसाजी, पाक-क्रिया, कागज़ बनाना, इत्यादि ।

५. **समाज-सेवा.**—प्रभात फेरी, नागरिक आन्दोलन, सफाई कार्य-क्रम, गंदे मुहल्लों की सफाई, पाखानों आदि का निर्माण, साक्षरता-आन्दोलन, इत्यादि ।

समाज शिक्षा-कार्य-कर्त्ताओं का प्रशिक्षण.—समाज शिक्षा एक कला है, और इसकी विशेषज्ञता प्रशिक्षण के बिना सम्भव नहीं है । समाज-शिक्षा-कार्य करनेवाले मुख्यतः तीन कोटियों में विभक्त हो सकते हैं : (१) व्यवस्थापक, (२) कार्य-कर्त्ता शिक्षक तथा बहुमुख ग्राम-स्तर कार्य-कर्त्ता (ग्राम-स्तर पर समाज शिक्षा का संगठन करनेवाला, समाज-सेवक, शिविर-व्यवस्थापक, समाज-केन्द्रों का संचालक, ग्रामीण युवक-कल्याण व्यवस्थापक) एवं (३) संगठन-कर्त्ता । ये वैतनिक और अवैतनिक—दोनों—हो सकते हैं ।

व्यवस्थापक तो उत्तर-स्नातक प्रशिक्षित होते हैं । उन्हें व्यावसायिक शिक्षा शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा समाज-सेवा महाविद्यालयों में मिलती है । कार्य-कर्त्तागण किसी समाज शिक्षा-केन्द्र या जनता कालिज में प्रशिक्षित होते हैं । भारत में इन केन्द्रों की संख्या प्रायः बीस है । इन केन्द्रों में तीन से एक वर्ष के पाठ्यक्रम की व्यवस्था रहती है । पाठ्यक्रम की रूप-रेखा नीचे दी गयी है :

१. **सैद्धान्तिक (सात पर्चे)** : (१) समाज-शास्त्र के सिद्धान्त तथा समाज-शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय, और समाज-शिक्षा का इतिहास ; (२) शिक्षण मनोविज्ञान और समाज शिक्षा-विधि ; (३) समाज शिक्षा और समाज सेवा का संगठन तथा व्यवस्था एवं स्वास्थ्य-शिक्षा ; (४) कृषि एवं गृह-उद्योग एवं ग्रामीण अर्थशास्त्र ; (५) श्रव्य-दृश्य शिक्षा और लोक साहित्य तथा लोक कला ; (६) ग्राम-पंचायत, सहकार, सामुदायिक विकास योजना एवं (७) सामान्य जानकारी ।

२. **व्यावहारिक** : सामूहिक जीवन का अभ्यास, गाँव का सर्वेक्षण, श्रव्य-दृश्य यन्त्रों का प्रशिक्षण, सांस्कृतिक संस्थाओं में भाग, प्रदर्शिनी, उत्सव तथा त्योहारों का संगठन, आदि।

उपर्युक्त प्रशिक्षण-शिक्षा के अतिरिक्त ग्राम-सुधार कार्यकर्त्ताओं को सहकारिता तथा कृषि-सुधार की शिक्षा दी जाती है। गाँवों की सर्वतोमुखी उन्नति और सुधार के लिए ग्राम-सेवकगण भी प्रायः इसी ढङ्ग से प्रशिक्षित किये जाते हैं।

गोष्ठियाँ.—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रौढ़ शिक्षा-आन्दोलन एक महत्वपूर्ण अभियान है। विभिन्न एशियाई देशों की अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी इस दिशा में एक उल्लेखनीय घटना है। यह गोष्ठी सन् १९४९ में मैसूर में भरी थी। उसमें अनेक एशियाई देशों ने भाग लिया था तथा वयस्क शिक्षा की अनेक समस्याओं पर महत्वपूर्ण निर्णय हुए थे। तब से हमारे देश में विभिन्न स्तरों पर गोष्ठियों का आयोजन हुआ ही करता है — अखिल भारतीय, राज्यीय, क्षेत्रीय एवं स्थानीय। गोष्ठियों में समाज शिक्षा के व्यवथापकगण, संगठन कार्य-कर्त्तागण तथा अन्य कार्य-कर्त्तागण एकत्र होते हैं, और सामूहिक रूप से इस शिक्षा विषयक तथ्यों की आलोचना करते हैं, जैसे : प्रशासन, अनुदान, पाठ्य-क्रम, प्रशिक्षण, नवसाक्षर-साहित्य, श्रव्य-दृश्य-उपकरण, इत्यादि।

उत्तर-साक्षरता का प्रबन्ध.—सामाजिक शिक्षा की जिम्मेवारी साक्षरता प्रमाण-पत्र वितरण के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती है, वरन् यह भी देखना पड़ता है कि नवशिक्षित वयस्क अपनी साक्षरता स्थिर रख सकें। अतएव उत्तर-साक्षरता का प्रबन्ध करना चाहिए, ताकि समाज शिक्षा-द्वारा जो कुछ एक प्रौढ़ ने सीखा हो, उसकी थोड़ी बहुत चर्चा प्रौढ़ों में परस्पर हुआ करे। इसके लिए तीन विषयों की व्यवस्था चाहिए : (१) नव साक्षर-साहित्य प्रकाशन, (२) श्रव्य-दृश्य उपकरणों का निर्माण एवं (३) पुस्तकालयों का प्रबन्ध।

राज्य सरकारों के सहयोग से केन्द्रीय सरकार ने नव-साक्षर साहित्य प्रकाशन की थोड़ी-बहुत व्यवस्था की है। प्रथमतः, भारतीय भाषाओं में प्रकाशित उत्तम वयस्कोपयोगी पुस्तकों के लेखक को इनाम दिया जाता है तथा प्रकाशकों को प्रोत्साहित करने के लिए उन पुस्तकों की अनेक प्रतियाँ सरकार खरीदती है। द्वितीयतः, नव-साक्षरों के उपयोग की हिन्दी पुस्तकें भी सरकार खरीदती है, जिनका आधा खर्च भारत सरकार देती है और आधा राज्यीय सरकार। इसके अतिरिक्त पैकिंग और यातायात का पूरा व्यय केन्द्रीय सरकार स्वयं ही वहन करती है। तृतीयतः, समय-समय पर सरकार विशिष्ट कर्मशालाओं

की आयोजना करती है। इनमें लेखकों को इस नवीन साहित्य पर लिखने का प्रशिक्षण दिया जाता है। चतुर्थतः, सरकार स्वयं नव-साक्षर साहित्य का प्रकाशन करती है, और कुछ स्वीकृत संस्थाओं को इस कार्य के लिए अनुदान देती है। हाल ही में एक "राष्ट्रीय पुस्तक ट्रस्ट" की स्थापना हुई है। इसका मुख्य उद्देश्य कम खर्च में भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में आदर्श पुस्तकों का प्रकाशन है।

दिल्ली में 'केन्द्रीय श्रव्य-दृश्य शिक्षा-संस्था' स्थापित हो चुकी है। यह संस्था भारत एवं राज्यीय सरकारों को श्रव्य-दृश्य शिक्षा के विषय में परामर्श देती है। केन्द्रीय चल-चित्र-संग्राहलय में शिक्षा तथा संस्कृति-सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर ४,९७४ चल-चित्र आदि हैं, जो संग्रहालय की 'सदस्य-शिक्षा-संस्थाओं' को निःशुल्क दिये जाते हैं। १,००५ शिक्षा-संस्थान तथा सामाजिक संगठन इस संग्रहालय के सदस्य हैं।† 'श्रव्य-दृश्य शिक्षा' शीर्षक एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित की जाती है। समय-समय पर केन्द्रीय तथा राज्यीय सरकारें श्रव्य-दृश्य कार्य-कर्त्ताओं की प्रशिक्षण गोष्ठियों का भी आयोजन करती रहती हैं।

पुस्तकालय उत्तर-साक्षरता का प्रधान अङ्ग है पर हमारे देश में सार्वजनिक पुस्तकालयों की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। सम्पूर्ण देश में लगभग ३२,००० पुस्तकालय हैं। ये समाज-शिक्षा-केन्द्रों या अन्य संस्थाओं के साथ जुड़े हुए हैं। औसतन प्रति व्यक्ति पीछे पचास पुस्तकें हैं और प्रति वर्ष शायद ही दस मनुष्य एक से अधिक पुस्तक पढ़ते हों!!

सातत्य शिक्षा

भूमिका.—खेद की बात है कि हमारे देश में एक शिक्षित व्यक्ति की शिक्षा स्कूल या कालिज की पढ़ाई के साथ समाप्त हो जाती है। स्कूल शिक्षा की समाप्ति होने पर भी, प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को चाहिए कि वह विद्या की कुछ-न-कुछ चर्चा करे। थार्नडाइक, वुडवर्थ इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिखाया है कि वयस्क भी मुस्तैदी के साथ सीख सकते हैं। जीवन का कोई भी क्षेत्र लिया जाय — सामाजिक, व्यावसायिक, नागरिक, कौटुम्बिक — सभी जगह कुछ-न-कुछ सीखने की गुंजाइश रहती है। सतत परिवर्तन संसार का नियम है। जो व्यक्ति इस बदलते हुए ज्ञान के सम्पर्क में न रहेगा, वह सदा असन्तोषी तथा शिकायती रहेगा।

शिक्षित वयस्कों की ज़रूरतों को देखते हुए सातत्य शिक्षा तीन स्तर में दी जा सकती है: (१) उच्च शिक्षित, (२) साधारण शिक्षित और (३) अल्प शिक्षित।

† भारत, १९५९, पृष्ठ ८४।

उच्च शिक्षित.—उच्च शिक्षित व्यक्तियों के लिए कालिज तथा विश्वविद्यालय प्रसारण वक्तृता का बन्दोबस्त करते हैं। भारत में यह आन्दोलन सन् १९१५ में आरम्भ हुआ था। कुछ प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्रसारण केन्द्र शिक्षकों के लिए अच्छा काम कर रहे हैं, पर यह यथेष्ट नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक प्रसारण-विभाग की आवश्यकता है, जिसका उद्देश्य हो, उच्च शिक्षित व्यक्तियों में सुचारु रूप से प्रसारण-कार्य करना। इनकी चर्चा छठे अध्याय में की गयी है।†

साधारण शिक्षित.—पैसे के अभाव के कारण, अनेक भारतवासियों की शिक्षा — सांस्कृतिक या औद्योगिक — पूरी नहीं हो पाती है। ऐसे व्यक्तियों के हितार्थ सायङ्कालीन कक्षाएँ चलानी चाहिए। यह प्रथा अनेक सभ्य देशों में प्रचलित है। इंग्लैण्ड का उदाहरण लीजिए। यहाँ हजारों नैश-कक्षाएँ चलती हैं, जिनका लाभ लाखों वयस्क उठाते हैं। इन कक्षाओं में अनेक विषयों की अंश-कालिक शिक्षा दी जाती है। विशेषकर औद्योगिक क्षेत्रों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। पर ये कक्षाएँ निरे शिक्षा-केन्द्र नहीं हैं। वरन् इनका वातावरण बहुत कुछ सामाजिक क्लबों के समान होता है, जहाँ कि वयस्कगण अपने अवकाश के समय का सदुपयोग कर लाभान्वित होते हैं।

उच्च शिक्षा की माँग को पूरा करने के लिए तथा नौकरी में स्थित व्यक्तियों की सहायता के लिए, हमारे देश के केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय पत्र-व्यवहार द्वारा कतिपय विषयों के कोर्स का प्रबन्ध करनेवाले हैं। मन्त्रालय विश्वविद्यालयों को नैश-कक्षाएँ चलाने का भी सुझाव देनेवाले हैं, ताकि दिवा-कक्षाओं में भीड़ की कमी हो तथा नौकरी में स्थित व्यक्तियों को अध्ययन का सुअवसर मिले। शिक्षित वयस्कों के सातत्य शिक्षा का यह पहला कदम होगा।

अल्प शिक्षित.—माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने कहा है :

> यद्यपि संविधान यह निर्देश देता है कि चौदह वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए अंश-कालिक शिक्षा का आयोजन किया जाय, तिस पर भी वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए यह निर्देश कार्यान्वित करना, कुछ समय तक असम्भव प्रतीत होता है।‡

आयोग ने सिफ़ारिश की है कि ११–१४ वर्षीय (वयोवर्ग के) बच्चों के लिए मिडिल तथा हाई स्कूलों में निःशुल्क, अंश-कालिक सातत्य शिक्षा की व्यवस्था की

---

† देखिए पृष्ठ १७६।

‡ *Secondary Education Commission's Report.* p. 56.

जावे। इनके लिए विशेष पाठ्यक्रम का आयोजन किया जाय तथा चौदह वर्ष की आयु प्राप्त करते-करते किशोर-किशोरी इस व्यवस्था का लाभ उठा सकें।

हमारी तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य इस सिफारिश को कार्यान्वित करना है। शिक्षक तथा विद्यार्थियों की सुविधा के अनुसार, यह सातत्य शिक्षा दिवस या रात्रि में दी जायगी। इनका ध्येय छात्रों को प्रवर बुनियादी या मिडिल स्कूल शालान्त परीक्षा के लिए तैयार करना है।

हमारे देश में २०—३५ वयोवर्ग के अनेक वयस्क हैं, जिन्हें २—३ वर्ष की शिक्षा के बाद स्कूल छोड़ना पड़ा था, और जो अब अध्ययन करना चाहते हैं। इनके लिए दो-तीन वर्ष की अवधि के अंश-कालिक पाठ्यक्रम की व्यवस्था करनी चाहिए। कुछ वर्ष पहले केन्द्रीय समाज-कल्याण मण्डल ने इस वयोवर्ग की महिलाओं के लिए कुछ कोर्स चलाये थे। जिनमें पढ़कर कुछ शिक्षार्थिनियाँ वर्नाक्युलर फाइनल परीक्षा में बैठीं, और कुछ मैट्रिक परीक्षा में। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के पश्चात् जीविकोपार्जन के अनेक द्वार खुल जाते हैं, जैसे: *ग्राम-सेविका, धात्री, शिक्षिका, मुहर्रिर,* इत्यादि। पुरुष तथा स्त्री, दोनों के लिए, ऐसे प्रयासों की आवश्यकता इस देश में इस समय अनुभव की जा रही है।

इस प्रकार हमारे देश में सातत्य शिक्षा की समुचित व्यवस्था की विशेष आवश्यकता है। यह शिक्षा उन वयस्कों की कमियों को दूर करती है, जिनकी शिक्षा अर्थाभाव या अन्य कारणों से अधूरी ही रह गयी है। यह शिक्षा न केवल उनके व्यक्तित्व का विकास करती है, वरन् उनके आर्थिक जीवन को उन्नततर करती है। विशिष्ट क्षेत्रों के लिए, लोगों को तैयार कर वह देश की जरूरतों को पूर्ण करती है तथा बेकारी-समस्या के उन्मूलन में योग देती है। देखिए, चीन ने क्या कर दिखाया है:

> चीन के विश्वविद्यालय उन युवक-युवतियों के लिए भी सदा खुले रहते हैं, जो अर्द्ध शिक्षित होते हैं; या, जिनकी शिक्षा मिडिल स्कूल तक ही रहती है। सन् १९५४ की प्रवेश-परीक्षा में जो विद्यार्थीगण बैठे, उनमें १६ प्रति शत ऐसे ही छात्र-वृन्द थे और उनका कार्य कोई असन्तोषप्रद न था।
>
> यह सुअवसर अन्य विद्यार्थियों को भी दिया गया। वे थे ३,००० प्रायमरी शिक्षक एवं विविध उद्योगों के ६,००० ऐसे व्यक्ति, जिन्हें उच्च तकनीकी शिक्षा नहीं मिली थी। इनका प्रवरण सरकार ने किया था।

तत्पश्चात् ये विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए थे। ये नियमित परीक्षा में नहीं बैठे। इनके लिए विशेष परीक्षा का आयोजन किया गया था।†

३. मजबूरों की शिक्षा

मजबूरों का वर्गीकरण : भूमिका.—बीसवीं शताब्दी बच्चों का युग गिना जाता है। यद्यपि बच्चों की देख-भाल के विषय में भारत अन्य सभ्य देशों से पिछड़ा हुआ है, तथापि इस देश में शिशु-पालन काल का उदय हुआ है। वर्तमान मशीन युग में मानव-कल्याण तथा बच्चों की भलाई की ओर ध्यान देना विशेष आवश्यक हो गया है। श्री नेहरु ने कहा ही है :

> राष्ट्र की प्रगति में मनुष्य का प्रधान स्थान है। मानव विकास की भित्ति शैशवावस्था में कायम होती है। इस कारण, वयस्क की अपेक्षा शिशु अधिकतर महत्वपूर्ण है।

मजबूर बच्चे.—मजबूरी दो प्रकार की होती है—कारणात्मक तथा लक्षण-सम्बन्धी। वैयक्तिक या आत्मगत अवरोधन के कारण, प्रथम प्रकार की मजबूरी आ जाती है। क्योंकि ये शिशु के स्वाभाविक सामञ्जस्य में बाधक सिद्ध होते हैं। द्वितीय वर्गीकरण का लक्षण होता है कोई असामान्य या भद्दा आचार-व्यवहार। किसी आन्तरिक अवरोधन के कारण, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

कारणात्मक वर्गीकरण.—इस मजबूरी की तीन श्रेणियाँ हैं : शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक।

शारीरिक मजबूर या विकलाङ्ग तीन प्रकार के होते हैं—अन्धे, बहरे और गूँगे, तथा लूले-लँगड़े।

जिन लोगों की बुद्धि औसत में कम होती है, वे द्वितीय श्रेणी में गिने जाते हैं। बुद्धि-परीक्षाओं के आधार पर, ये व्यक्ति दो भागों में बाँटे जा सकते हैं :

१. सीमा-रेखा स्थित अपूर्ण व्यक्ति... बोध-लब्धि : ७०–८०।

२. मानसिक दुर्बल

(१) मूर्ख ... ... बोध-लब्धि : ५०–७०।
(२) मूढ़ ... ... ,, : २५–५०।
(३) जड़ ... ... ,, : २५ से निम्न।

---

† Embassy of the People's Republic of China in India. *Wide Horizons for Students in China*. Cultural and Information Office, 1955. p. 8.

सामाजिक मजबूर अनाथ या निराश्रित बच्चे होते हैं। ये घर-द्वार-रहित होते हैं तथा इनके कोई अभिभावक नहीं रहते।

लक्षण-सम्बन्धी वर्गीकरण.— जन्म लेने के साथ ही प्रत्येक बच्चे की अनेक विषयों की जरूरतें रहती है—शारीरिक, दैहिक या सामाजिक। उसे भोजन, शारीरिक आराम, सामाजिक अभिस्वीकृति, प्यार एवं संरक्षता चाहिए। परंतु जीवन में ऐसी अनेक बाधाएँ आ जाती हैं, जिनके कारण, इन आकांक्षाओं की तृप्ति के साधन अनुपलब्ध रहते हैं। इन समस्या-असामञ्जस्यों के कारण, मानसिक रोगों की सृष्टि होती है।

कुछ स्वाभाविक अभाव के कारण, मनुष्य अपने प्रकृत वातावरण एवं अवस्था में सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाता है—थोड़ी-सी कठिनाई पड़ी और उसका असन्तोष जाग उठा। वातावरण का अभाव भुलाया नहीं जा सकता है। वातावरण में मुख्य हैं: अशिक्षा, निर्धनता, बाल्यावस्था में माता-पिता का दुर्व्यवहार। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री एडलर के कथनानुसार समाज में निम्न स्थान, व्यवसाय में असफलता, वैवाहिक जीवन में अशान्ति — ये असामञ्जस्य के प्रमुख कारण हैं। परन्तु यह स्वाभाविक अभाव प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता, तथापि कुछ इनके लक्ष्य बन ही बैठते हैं। ऐसे बदनसीब अपने जीवन को निष्फल गिनते हैं और अचेतना-वश उनमें कुछ-न-कुछ असामान्य आचार फैलते हैं। कोई हठीला बन बैठता है, तो कोई पिछड़ा हुआ होता है, कोई उदासीन तो कोई अपराधी। कई-कई तो अत्यधिक परावलम्बी या शिरा-व्याधि-ग्रस्त हो जाते हैं।

इन साधारण अवस्थाओं में से तीन मुख्य हैं: (१) अपराध, (२) शिरा-व्याधि से होने वाले मानसिक रोग, एवं (३) स्कूली विषयों में पिछड़ना। बहुधा ये तीनों अवस्थाएँ आपस में मिली-जुली रहती हैं, और तीनों की प्रतिक्रिया एक साथ करना उचित है।

मजबूरों का शैक्षणिक पाठ्यक्रम : **उद्देश्य.**—मजबूरों के पाठ्यक्रम में उनके अवरोधन तथा आवश्यकता की ओर ध्यान देना पड़ेगा, अर्थात् हमें देखना पड़ेगा कि उसकी शारीरिक तथा मानसिक स्थिति कहाँ तक उसकी शिक्षा में बाधक सिद्ध होती है। इसीके अनुकूल उसका पाठ्यक्रम भी होगा। जहाँ तक बने, हमें रुकावटों को दूर करना चाहिए। प्रत्येक मजबूर व्यक्ति की निजी ज़रूरतें होती हैं और उन्हींके अनुसार उसका पाठ्यक्रम भी होना चाहिए।

रोग-निर्णय.—लक्षण-सम्बन्धी अवरोधित व्यक्तियों को समझना बहुत ही ज़रूरी रहता है। इनका रोग-निर्णय प्रायः मजबूरी का आविष्कार कहा जा सकता है। इनकी डाक्टरी परीक्षा आवश्यक है। इन्हें निर्देश तथा परामर्श चाहिए। इनके रोग-निर्णय की जिम्मेवारी शिशु-निर्देश तथा उपचार-गृहों को सौंप देना उचित है।

शिक्षण-संस्थाएँ.—रोग-निर्णय के पश्चात् बच्चों की आवश्यकता के अनुसार इन तीनों में से किसी भी एक प्रकार की व्यवस्था हो सकती है: (१) बच्चों को किसी उपचार-गृह या मानसिक अस्पताल में रखना, (२) बच्चे को एक साधारण स्कूल में भरती करना और उसके अनुरूप किञ्चित् परिवर्तित पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना, एवं (३) उसे एक विशेष स्कूल या संस्था में दाखिल करना। विशेष संस्थाएँ सात प्रकार की हैं: (१) अन्ध-विद्यालय, (२) मूक-बधिर-विद्यालय, (३) लूले-लँगड़ों के शिक्षालय, (४) मानसिक मजबूरों के संस्थान, (५) अनाथालय, (६) बाल-अपराधियों की संस्थाएँ एवं (७) उपचार-गृह तथा निर्देश-केन्द्र।

भारत में मजबूरों की शिक्षा-व्यवस्था : मजबूरों की संख्या.—खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे देश की जन-गणना में मजबूर बच्चों का वर्गीकरण अभी तक नहीं किया गया है यहाँ तक कि भिन्न-भिन्न प्रकार के विकलाङ्गों तक की संख्या का ठीक-ठीक पता नहीं मिलता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मजबूरों की संख्या प्रति हज़ार 'बीस' हैं। इसी गणना के आधार पर, भारत में मजदूरों की संख्या ७० लाख निर्धारित की गयी है। इस आनुमानिक गणना का हम कुछ भी भरोसा नहीं करते हैं। सार अर्थ यह है कि मजबबूरों के लिए कोई भी शिक्षा-योजना प्रस्तुत करते समय इनकी भिन्न-भिन्न श्रेणियों की संख्या जानना आवश्यकीय है।

प्रारम्भिक चेष्टाएँ.—अंग्रेज सरकार मजबूरों की शिक्षा के प्रति निश्चेष्ट एवं उदासीन रही। प्रारम्भ में इस ओर ईसाई मण्डलियों ने कुछ ध्यान दिया। सन् १८८३ में कुमारी एनी शार्प नामक एक प्रोटेस्टेण्ट महिला ने अमृतसर में एक स्कूल अन्धी लड़कियों के लिए खोला। सन् १९०३ में यह संस्था देहरादून स्थानान्तरित की गयी। सन् १८९० में कुमारी एस्कविथ ने पाल्यम-कोट्टाय में एक दूसरा स्कूल अन्धों के लिए खोला। तत्पश्चात् कलकत्ता अन्ध-विद्यालय का नम्बर आता है, जिसे सन् १८८७ में श्री लालबिहारी शाह नामक एक भारतीय ईसाई ने स्थापित किया था। सन् १९०० में कुमारी एन्ना मिलार्ड ने बम्बई में अन्धों के लिए एक स्कूल खोला, जिसका वर्तमान नाम 'दादर स्कूल फॉर ब्लाइण्ड गर्ल्स' है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रगति।—स्वाधीनता-अर्जन के पश्चात् भी इस क्षेत्र में विशेष उन्नति नहीं हुई। यह अवश्य है कि केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय तथा राज्यीय शिक्षा-विभाग मजबूरों की शिक्षा के लिए अनुदान देते हैं। सन् १९५२ में 'राष्ट्रीय शिशु-मंगल परिषद्' की स्थापना हुई है। इसका उद्देश्य है, बच्चों के मंगलार्थ कार्य का संयोजन एवं शोध, आर्थिक सहायता तथा समाचार-प्रदान। सन् १९५५-५६ में एक अन्य राष्ट्र-परिषद् स्थापित की गयी है। यह परिषद् सरकार को विकलांगों की शिक्षा, प्रशिक्षण तथा नियोजन-सम्बन्धी समस्याओं पर परामर्श देती है।

शिक्षा-संस्थाएँ।—निम्नांकित तालिका से मजबूरों की भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं तथा उनकी छात्र-संख्या का पता चलेगा :

तालिका २८

मजबूरों की शिक्षा-संस्थाएँ, १९५५–५६ †

संस्था	संस्था-संख्या	छात्र-संख्या
विकलाङ्ग :		
अन्धे	४९	२,२४५
मूक-बधिर	३४	२,२९०
लूले-लँगड़े	८	५५२
मानसिक मजबूर	३	२२७
योग	९४	५,३१४

† *Education in India*, 1955-56, Vol. I, pp. 98-99.

चित्र १७—ब्रेल-पद्धति द्वारा शिक्षा

अन्ध-विद्यालय.—हमारे देश में बीस लाख से अधिक अन्धे हैं, पर इस संख्या के किञ्चित् अंश को ही शिक्षा मिलती है।† अधिकांश संस्थाएँ स्व-सञ्चालित हैं। इन्हें हम अनाथालय भी कह सकते हैं। उन्हें सरकार से थोड़ा-बहुत अनुदान मिलता है, पर उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय है। ब्रेल-पद्धति पर बच्चों को अपनी मातृ-भाषा के पढ़ने तथा लिखने का ज्ञान दिया जाता है। प्रत्येक बच्चा एक दस्तकारी भी सीखता है। मुख्य उद्योग हैं: बेंत की बुनाई, टोकरी बनाना, निवार या टाट बुनना, मोमबत्ती का काम, जिल्दसाजी, बढ़ईगिरी, बुनाई-कताई, इत्यादि। अन्धे प्रायः संगीत-पटु होते हैं। कई संस्थाओं में इन्हें संगीत भी सिखाया जाता है।

अन्धों की शिक्षा की विशेष ज़रूरतों की ओर भारत सरकार ध्यान दे रही है। हाल ही में 'भारतीय ब्रेल' की सृष्टि हुई है। अक्टूबर, १९५० ई० में, देहरादून में 'केन्द्रीय ब्रेल-मुद्रणालय' स्थापित हुआ है, जिसके द्वारा भारतीय ब्रेल-साहित्य प्रकाशित किया जाता है। सन् १९५० में केन्द्रीय सरकार ने देहरादून में 'अन्ध (प्रौढ़) प्रशिक्षण-केन्द्र' स्थापित किया है। इस संस्था के अन्तर्गत दो वर्ष का पाठ्यक्रम रखा गया है, तथा प्रशिक्षणार्थियों को आशु-लिपि तथा टाइप-राइटिंग में भी प्रशिक्षण दिया जाता है। इस संस्था का एक और भी महत्वपूर्ण अङ्ग है 'संगीत-शिक्षा'। सन् १९५८ में इस संस्था के अन्तर्गत एक महिला-विभाग भी खोला गया है।

देश में अभी तक नेत्र-हीन बालकों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं है। लेकिन सन् १९५१ में अजमेर तथा बांटाय (कच्छ) में इन बालकों के लिए पाठशालाएँ स्थापित हो जाने के बाद, यह कमी कुछ हद तक दूर हो गयी है। इसके अतिरिक्त भारत-सरकार नेत्र-हीन बालकों के लिए देहरादून में एक आदर्श पाठशाला स्थापित करनेवाली है। आशा है कि निकट भविष्य में यह कार्य पूरा हो जायगा।

नेत्र-हीनों के प्रशिक्षण तथा पुनर्वास कार्य को गति प्रदान करने के लिए भारत सरकार ने १९४७ ई० में शिक्षा-मन्त्रालय के अन्तर्गत एक विशेष युनिट (इकाई) स्थापित की है, जिसका संचालन एक उप शिक्षा-सलाहकार के अधीन है। भारत-सरकार के समक्ष प्रशिक्षित नेत्र-हीनों को नौकरी दिलाने की समस्या पर्याप्त विकट रूप में विद्यमान थी। इस समस्या को हल करने के लिए १९५५ में सरकार ने मद्रास में एक विभाग की स्थापना की, जिसका कार्य ही विभिन्न उद्योग-धन्धों में नेत्र-हीनों के लिए समुचित कार्य की तलाश करना तथा उन्हें नौकरी दिलाना है।

† Planning Commission. *Social Welfare in India*, Delhi, Publications Division, 1955. p. 21.

मूक-बधिर विद्यालय.—बहुधा बधिर, मूक-बधिर तथा अन्य विकलांगों की शिक्षा का आयोजन अन्धों के साथ-साथ होता है। इनका पाठ्यक्रम अन्धों की नाईं होता है। इन्हें कोई-न-कोई दस्तकारी सिखायी जाती है। पढ़ना और बोलना, ओष्ठ-वाचन और उच्चारण पर निर्भर रहता है। संगीत के बदले इन्हें चित्रकारी तथा मिट्टी का काम सिखाया जाता है।

लूले-लँगड़ों की शिक्षा.—अन्धों तथा मूक-बधिरों के लिए तो विशेष शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता रहती है, पर लूले-लँगड़े तो साधारण स्कूलों में शिक्षा पा सकते हैं। इनके प्रशिक्षण में सबसे अधिक ध्यान देना पड़ता है कि ये किस प्रकार अग्रागाम-सम्बन्धी उपकरणों का ठीक रीति से उपयोग कर सकते हैं। प्रत्येक को अपने नासुओं का उपकरण के साथ इस प्रकार नियमित करना पड़ता है कि वह उनका यथा रीति व्यवहार कर सके। यह अभ्यास बुनना, बढ़ईगिरी, इत्यादि द्वारा कराया जाता है। यह काम केवल विशेषज्ञों की देख-रेख में ही दिया जा सकता है। इस प्रकार, इन अपाहिजों को शिक्षा के अतिरिक्त इलाज की जरूरत रहती है। यह बन्दोबस्त अस्पतालों में ही करना पड़ता हैं, पर शिक्षा साधारण बच्चों के साथ ही दी जाती है।

मानसिक मजबूरों के संस्थान.—अधिकांश मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि (बाह्य) और अन्तर्जगत् में असामञ्जस्य ही मानसिक रोग का मूल कारण होता है। इस कारण, इन मानसिक मजबूरों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक रहता है। इन रोगियों को अपनी रुचि तथा अपनी गति के अनुसार सीखने दिया जाता है। खेद की बात है कि हमारे देश में ऐसे बच्चों के लिए केवल तीन संस्थान ही हैं। कुछ मानसिक अस्पताल हैं, पर इनमें मानसिक रोगी बच्चों के इलाज की विशेष व्यवस्था नहीं रहती है।

अनाथालय.—देश में हजारों अनाथालय अनाथ तथा आवारा बच्चों के लिए स्थापित हैं। मुख्यतः ये गैरसरकारी संस्थाएँ हैं। रामकृष्ण मिशन, क्रिश्चियन ईसाई-मण्डल, कस्तूरबा अनुदान समिति, सेल्वेशन-आर्मी, इत्यादि कुछ आदर्श मण्डलियों ने बाल-कल्याणार्थ अनेक अनाथाश्रमों की स्थापना की है। यह एक खेदजनक बात है कि हमारे देश में स्थित कुछ ऐसी अनुमोदित संस्थाएँ भी हैं जो कि निस्सहाय बालक-बालिकाओं का अनुचित उपयोग भी करती हैं!

बाल-अपराधियों की संस्थाएँ.—बाल-अपराध की समस्या मुख्यतः राज्य-सरकारों के उत्तरदायित्व में आती है। इस विषय में तीन प्रकार के कायदे हैं। प्रथम है

'बाल-अधिनियम'। यह नियम आन्ध्र-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, केरल, पंजाब, पश्चिम बंगाल, बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश तथा मैसूर राज्यों और दिल्ली के संघीय क्षेत्र में लागू है। इसके अनुसार बालापराधी न्यायालय स्थापित किये गये हैं। जहाँ इनकी व्यवस्था नहीं है, वहाँ बालापराधियों का न्याय साधारण अदालतों में होता है। अपराधीगण बालापराधी कैदखानों में निरीक्षित रखे जाते हैं। आन्ध्र-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, केरल, पंजाब, पश्चिम बंगाल, बम्बई, मद्रास तथा मैसूर में 'किशोर बन्दी' (बोस्टर्ल स्कूल) अधिनियम लागू है। सन् १८९७ का 'सुधार-विद्यालय अधिनियम' सभी बड़े राज्यों तथा कुछ संघीय क्षेत्रों में लागू है।

सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त तीनों प्रकार की संस्थाओं में व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इनमें से कुछ संस्थाएँ शिक्षा प्राप्त करके निकलनेवाले बाल-अपराधियों को उपकरण तथा धन-सम्बन्धी सहायता भी देती हैं, जिससे वे सीखे हुए व्यवसाय में लग सकें। इन संस्थाओं में अच्छे नागरिक बनने की शिक्षा देने के साथ-साथ क्रीड़ा (खेल-कूद), नाटक, संगीत आदि की भी शिक्षा दी जाती है।

सम्प्रति केन्द्रीय सरकार ने एक पालन-पोषण (देख-भाल) कार्यक्रम लागू किया है, जिसके अनुसार राज्यों को सहायता दी जाती है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत बिहार, मद्रास, मध्य-प्रदेश, मैसूर तथा त्रिपुरा में सुधार-विद्यालयों आदि के लिए स्वीकृति दी जा चुकी है।

उपचार-गृह तथा निर्देश-केन्द्र.—इन केन्द्रों में बच्चों तथा वयस्कों की मानसिक चिकित्सा उच्च स्तर पर होती है। हमारे देश में ऐसे केन्द्र बहुत कम हैं। बहुधा ये मानसिक अस्पतालों एवं बाल रक्षा-गृहों से संलग्न होते हैं। २ मार्च, १९५५ के दिन, केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय ने एक बाल-निर्देश केन्द्र दिल्ली नर्सिंग महाविद्यालय में स्थापित किया है। भारत में यह सर्व प्रथम सरकारी संस्था है, जिसमें बच्चों की मानसिक चिकित्सा की व्यवस्था की गयी है।

प्रशासन.—मजबूरों की शिक्षा के लिए, प्रत्येक राज्य की निजी शासन व्यवस्था है। कहीं पर प्रधान अधिकारी को 'चीफ इन्सपेक्टर ऑफ सर्टीफाइड स्कूल्स' कहते हैं, और कहीं 'प्रावेशन अफसर'। किसी-किसी राज्य में तो प्रावेशन अफसर को बँधा हुआ वेतन भी नहीं मिलता है। पर उसके सिपुर्द जितने बच्चे किये जाते हैं, उनकी संख्या के अनुसार उसे मेहनताना मिलता है।

मजबूरों की संस्थाओं के खर्च के लिए चार स्रोतों से आय आती है : (१) सरकार, (२) स्थानीय निकाय, (३) विद्यार्थियों से आय, अर्थात् उनकी फी तथा उनके

द्वारा प्रस्तुत सामग्रियों से आय एवं (४) दान, चन्दा, आदि। सन् १९५५-५६ में इस शिक्षा पर २३·९६ लाख रुपये व्यय हुए थे।

सम्प्रति केन्द्रीय सरकार ने मद्रास तथा बम्बई में मजबूरों के लिए दो नौकरी-विनिमय केंद्र स्थापित किये हैं। उच्चतर शिक्षा अथवा प्राविधिक या व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए अन्धे, बहरे तथा विकलांग विद्यार्थियों को छात्र-वृत्तियाँ दी जाती हैं।

कतिपय समस्याएँ.—इस प्रकार मजबूरों की शिक्षा का आयोजन इस देश में किया गया है। मजबूरों की मजबूरियों की ओर पूरे देश का ध्यान आकृष्ट हुआ है, पर पैसे की मजबूरी के कारण, सभी मजबूर हैं। कतिपय ऐसी समस्याएँ हैं, जिनकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है :

१. मजबूरों की संख्या का निर्णय.—मजबूर विभिन्न प्रकार के हैं। कोई भी शिक्षा-योजना इन विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों की संख्या पर निर्भर रहेगी। पर हमारे देश की जन-गणना रिपोर्टों से इसका पता नहीं चलता है। हमारे देश की भावी जन-गणना रिपोर्ट इस ओर ध्यान दें।

२. उत्तम तथा सुव्यस्थित संस्थाओं की आवश्यकता.–हमारे देश में मजबूर बच्चों के लिए शिशु-शालाएँ, वृद्ध-वृद्धाओं के लिए कल्याण-गृह तथा मजबूरों के लिए पुस्तकालय, दस्तकारी-शिक्षा तथा उच्च शिक्षा की यथोचित व्यवस्था होनी चाहिए।

३. देहाती पाठ्य-क्रम की ओर झुकाव.—बहु संख्यक मजबूर गाँवों में रहते हैं। इस कारण उनके पाठ्य-क्रम में देहाती एवं कृषि-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान रहे, ताकि यह शिक्षा मजबूरों को उपयुक्त ग्राम-वासी बनावे।

४. यथेष्ट अर्थ की आवश्यकता.—अर्थाभाव के कारण, मजबूरों की शिक्षा की ओर, उचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आशा की जाती है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ इस ओर ध्यान देवेंगी। स्वसंचालित संस्थाओं के लिए सरकारी अनुदान-नीति निश्चित होनी चाहिए।

५. प्रशिक्षित व्यक्तियों की ज़रूरत.–सन् १९५५-५६ में केवल ६७५ शिक्षक मजबूर बच्चों के विद्यालयों में काम कर रहे थे। इनमें से अधिकांश व्यक्तियों को किसी प्रकार का विशेष प्रशिक्षण नहीं मिला था।

६. **प्रशासन की कमजोरियाँ.**—बाल-अधिनियम अभी पूरे देश में क्रियान्वित नहीं हुए हैं; और जहाँ हुए भी हैं, वहाँ भी उनका यथोचित पालन नहीं किया जा रहा है। सभी राज्यों में अफ़सरों की कमी है।

४. स्वास्थ्य एवं अनुशासन

भूमिका.—किसी भी देश की शक्ति, जनता के विकास पर निर्भर रहती है, न कि बाह्य शान-शौकत पर। जनता के विकास के लिए सबसे अधिक आवश्यक है, शारीरिक स्वास्थ्य तथा अनुशासन। इतिहास साक्षी है कि जो देश स्वयं अपने पैरों पर खड़ा नहीं रहता है तथा अन्य देशों से सहायता की अपेक्षा रखता है, उसकी स्वतंत्रता कदापि स्थायी नहीं रही है।

यथेष्ट परिश्रम के पश्चात् हमें स्वाधीनता प्राप्त हुई है। हम फिर से पराधीनता की बेड़ियाँ नहीं पहनना चाहते हैं। पर यदि हममें वीरता की चिनगारी प्रज्ज्वलित न रही, यदि हमारे देशवासी शारीरिक दौर्बल्य के लक्ष्य रहे, यदि हममें उचित अनुशासन न रहा, तो शायद हम फिर से अपनी नवार्जित स्वाधीनता को खो बैठें। अतएव हमारी प्रत्येक राष्ट्रीय योजना का एक अनिवार्य अंग होगा स्वास्थ्य एवं अनुशासन। स्कूल तथा कालिज के विद्यार्थियों की ओर विशेष कर ध्यान देना पडेगा। ये ही हमारे देश के भावी नागरिक हैं। इस विषय के अन्तर्गत आते हैं : (१) शारीरिक शिक्षा तथा खेल-कूद, (२) विद्यार्थियों की सैनिक शिक्षा, (३) युवक-कल्याण तथा (४) राष्ट्रीय अनुशासन योजना।

शारीरिक शिक्षा तथा खेल-कूद : भूमिकाः—स्कूल तथा कालिजों में कवायद तथा खेल-कूद की कुछ-न-कुछ व्यवस्था अंग्रेजों के शासन-काल से ही थी। प्रशिक्षित शिक्षकों के अभाव के कारण, कवायद या ड्रिल निवृत्त सैनिकों, अखाड़ियों या पहलवानों द्वारा सिखलायी जाती थी। पाश्चात्य खेलों का प्रचलन अधिक था, एवं देशी खेलों की उपेक्षा की जाती थी।

नवीन जागृति.—स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे स्कूलों तथा कालिजों में 'ड्रिल' के बदले 'शारीरिक शिक्षा' का उदय हुआ। प्राथमिक स्कूल के प्रथम वर्ग से लेकर स्नातक-शिक्षा की समाप्ति पर्यन्त, शारीरिक शिक्षा हमारे स्कूल तथा कालिजों में एक अनिवार्य विषय है। प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा राज्यीय शिक्षा-विभाग के निजी पाठ्यक्रम हैं, पर ये पाठ्यक्रम सुचारुरूप से चलाये नहीं जा रहे हैं। उपयुक्त प्रशिक्षित शिक्षक पर्याप्तरूप में नहीं मिलते, ७५ प्रति शत शिक्षा-संस्थानों के खेल-कूद के निजी मैदान नहीं हैं, और ६० प्रति शत संस्थानों के स्कूल-गृह अस्वास्थ्यकर हैं।

केन्द्रीय सरकार की चेष्टाएँ.—केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय का ध्यान शारीरिक शिक्षा की ओर सम्प्रति आकर्षित हुआ है। मन्त्रालय का एक संविभाग 'व्यायाम तथा मनोरंजन' की देखरेख करता है। विभिन्न कार्यक्रमों के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रश्न पर सरकार को परामर्श देने के लिए एक 'केन्द्रीय शारीरिक शिक्षा तथा मनोरंजन-परामर्श मण्डल' स्थापित किया जा चुका है। हाल ही में मण्डल ने 'राष्ट्रीय शारीरिक शिक्षा तथा मनोरंजन-योजना' तैयार की है। शारीरिक शिक्षावाले संस्थानों तथा कालिजों के विकास के लिए यह योजना तैयार की गयी है। इसका उद्देश्य अखाड़ों एवं व्यायाम-शालाओं आदि को सभी प्रकार की सहायता देना है। यह योजना कार्यान्वित की जा रही है।

इस मण्डल ने अपनी १० नवम्बर, १९५९ की बैठक में ठहराव किया : (१) किशोरों की शारीरिक उन्नति के लिए एक शारीरिक मान-दण्ड स्थिर किया जाय, जिसमें पहुँचे बिना विद्यार्थियों को शालान्त परीक्षा पास न होने दिया जाय; (२) प्रत्येक शिक्षण-संस्था में प्रति २५० विद्यार्थियों के लिए एक शिक्षक हो; एवं (३) जिन संस्थाओं की छात्र संख्या ७५० से अधिक हो, वहाँ एक उत्तर-स्नातक प्रशिक्षित शिक्षक की आवश्यकता है। वह संस्था की शारीरिक शिक्षा का मुख्य अधिकारी गिना जावे।†

खेल-कूद का आयोजन.—खेल-कूद के कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिए, भारत-सरकार ने निम्न-लिखित उपाय किये हैं :

१. अखिल भारतीय खेल-कूद-परिषद की स्थापना;

२. विभिन्न राज्यों में राज्य खेल-कूद-परिषदों की स्थापना; एवं

३. 'राजकुमारी खेल-कूद शिक्षण योजना' के अन्तर्गत देश में १९५३ से भारतीय तथा विदेशी खेल-कूद विशेषज्ञों की देखरेख में शिक्षण केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं।

विद्यार्थियों की सैनिक शिक्षा : भूमिका.—भारत के स्वतन्त्र होने पर हमें अपने सैनिक प्रबन्ध का कार्य अपने कन्धों पर उठाना पड़ा है। सैनिक शिक्षा प्रत्येक देश के लिए आवश्यक एवं गौरव की वस्तु है। जहाँ देश के नवयुवकों को पुस्तकीय शिक्षा दी जाती है, वहाँ इसका होना भी आवश्यक है। इससे नवयुवकों में अनुशासन, आत्म-निर्भरता, स्वाभिमान, स्वदेश-प्रेम और आज्ञाकारिता की भावना का उदय होता है। आज हमारे स्कूलों एवं कालिजों में राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल (एन० सी० सी०) एवं सहायक सैन्य शिक्षार्थी दल ए० सी० सी०) की ट्रेनिंग दी जाती है। शिक्षा-संस्थानों के बाहर 'लोक-सहायक सेना' का आयोजन किया जा रहा है।

† *Times of India.* November 10, 1959.

राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल.—इस दल की स्थापना १५ जुलाई, १९४८ में हुई थी। इसमें स्कूल तथा कालिजों के १३-२६ वयोवर्ग के छात्र और छात्राएँ भरती हो सकती हैं। इसमें तीन टुकड़ियाँ होती हैं: उच्च, निम्न और बालिका। प्रथम दोनों टुकड़ियों की जल, स्थल तथा वायु-शाखाएँ होती हैं। दल की प्रगति का पता अधो-लिखित तालिका से चलेगा:

तालिका २८

राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल की प्रगति†

तारीख	बालक		बालिकाएँ		योग
	उच्च	निम्न	उच्च	निम्न	
१-१-१९४९	१४,९६०	२०,१६०	—	—	३५,१२०
१-१-१९५०	२२,१८४	३६,१८०	९३	—	५८,४५७
१-१-१९५१	२३,३४९	४५,१०५	२७९	—	६५,७३३
१-१-१९५२	२३,५७०	४५,६६३	२७९	—	६९,५१२
१-१-१९५३	२६,१०३	५३,५१५	५२७	—	८०,१४५
१-१-१९५४	२८,२१७	५४,४००	६२०	—	८३,२३७
१-१-१९५५	३९,०८५	५६,६१७	२,७२८	२,९१४	१,०१,३४४
१-१-१९५६	४६,६८०	६६,३०७	३,२५५	५,१४६	१,२१,३८८
१-१-१९५७	५२,१४७	७०,८२९	३,९९९	६,७२७	१,३३,७०२
१-१-१९५८	६४,४७५	७६,५३०	५,७३०	९,२७०	१,५६,००५
१-१-१९५९	७३,४०७	९२,२५८	९,२४६	१७,३४२	१,९२,२५३

† *India*, 1959, p. 106.

सहायक सैन्य शिक्षार्थी दल.—स्कूलों के उन छात्रों तथा छात्राओं के सैनिक प्रशिक्षण के लिए, जो राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल में प्रवेश नहीं पाते, 'सहायक सैन्य शिक्षार्थी दल' की स्थापना की गयी है। इसके सैनिक १२–२३ वयोवर्ग के होते हैं। प्रशिक्षण में सैनिक की अपेक्षा शैक्षणिक आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। शिक्षक स्कूलों से चुने जाते हैं, और इन्हें सेना तथा राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल के कर्मचारीगण ट्रेनिंग देते हैं। सन् १९५२ में इस दल का आयोजन किया गया था, जब कि शिक्षार्थियों की संख्या ७०,००० थी। सन् १९५८ के अन्त में इनकी संख्या ८,५७,९४७ पहुँची।†

लोक-सहायक सेना.—सहायक क्षेत्रीय सेना, जो १९५४ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक के रूप में पुनस्संगठित हुई थी, अब 'लोक-सहायक-सेना' कहलाती है। इसका उद्देश्य पाँच वर्षों में लगभग पाँच लाख व्यक्तियों को प्रारम्भिक सैनिक शिक्षा देना है। इस सेना में, भूतपूर्व सैनिकों तथा भूतपूर्व सैन्य शिक्षार्थियों को छोड़कर १८ से ४० वर्ष तक के सभी स्वस्थ पुरुष भरती हो सकते हैं।

नये रँगरूटों को तीस दिन का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण काल में प्रत्येक शिक्षार्थी के लिए, भोजन तथा वस्त्र आदि की निःशुल्क व्यवस्था रहती है। तथा शिविर की समाप्ति पर जेब खर्च के लिए उनको पन्द्रह रुपये दिये जाते हैं।

युवक-कल्याण.—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् युवक-कल्याण की ओर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ है। प्रायः प्रत्येक स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय में कम से कम एक 'युवक-कल्याण समिति' रहती है, जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों के पाठान्तर कार्यों का आयोजन एवं संयोजन है। संस्थानिक समितियों के अतिरिक्त अनेक जगह क्षेत्रीय कमिटियाँ भी होती हैं, जो विद्यार्थियों के खेल-कूद, समारोह, रहने की व्यवस्था, आदि की देख-भाल करती हैं।

सन् १९५१ में संयुक्त राष्ट्र-संघ ने शिमला में एक गोष्ठी का आयोजन किया था। इस गोष्ठी ने युवक-कल्याण के प्रसार के लिए विविध योजनाओं पर विचार किया। मई, १९५५ में केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय में एक युवक-कल्याण संविभाग स्थापित हुआ। युवक-कल्याण के क्षेत्र के मुख्य गति-विधियों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है:

---

† भारत, १९५९, पृष्ठ ७७।

१. सन् १९५४ से अन्तर्विश्वविद्यालय समारोह का आयोजन तथा अन्तर्कालिज समारोहों के लिए विश्वविद्यालयों को सहायता का दिया जाना;

२. युवक-नेतृत्व प्रशिक्षण शिविरों का संगठन किया जाना;

३. ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्व के स्थानों के लिए युवक यात्राओं के सम्बन्ध में किराये के सुभीते;

४ युवकों के लिए छात्रावासों का बन्दोबस्त;

५. विश्वविद्यालय तथा राज्य-सरकारों को युवक-कल्याण मण्डल स्थापित करने के लिए तथा यथोचित कार्यों के सम्पादन के निमित्त अनुदान;

६. कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों के छात्रों के रहन सहन का सर्वेक्षण;

७. छात्रेतर युवक-कल्याण मण्डलों की स्थापना;

८. विद्यार्थियों में शरीरश्रम की प्रतिष्ठा के प्रति भावना पैदा करने के लिए श्रम-दान तथा समाज-सेवा योजना का लागू किया जाना; तथा

९. अन्तर्कालिज समारोह योजना. – प्रत्येक विश्वविद्यालय एवं अन्य शिक्षा संस्थानों में व्यायाम-शाला, सन्तरण-जलाशय, खुले रंगमंच, आदि की व्यवस्था।

उपर्युक्त कार्यकलापों की बदौलत हमारे देश के युवकों में नवीन जागृति हुई है। हमारे विश्वविद्यालयों में ललित कला, संगीत, नाट्याभिनय का नवीन जन्म हो रहा है। विद्यार्थीगण समाज-सेवा में दिलचस्पी ले रहे हैं, उनको नेतृत्व का प्रशिक्षण मिल रहा है तथा उनमें शरीर श्रम की प्रतिष्ठा के प्रति भावना पैदा हो रही है। लेकिन विद्यार्थियों के श्रम-दान का ध्येय आर्थिक न हो। इसका उद्देश्य सदा शैक्षणिक रहे।

राष्ट्रीय अनुशासन योजना : पूर्व-पृष्ठिका.—हाल ही में, इस देश में एक नवीन योजना आरम्भ हुई है। इसका उद्देश्य है, विद्यार्थियों की वर्तमान उद्दण्डता एवं उच्छृंखलता को रोकना तथा उन्हें अनुशासित करना। इस योजना की भावना श्री जवाहरलाल नेहरू के एक अभि-भाषण से शुरू होती है। सन् १९५४ में उन्होंने दिल्ली के एक राष्ट्रीय सैनिक दल को संकट काल में देश की रक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। इस अवसर पर उन्होंने एक राष्ट्रीय अनुशासन-योजना की चर्चा की। इसे
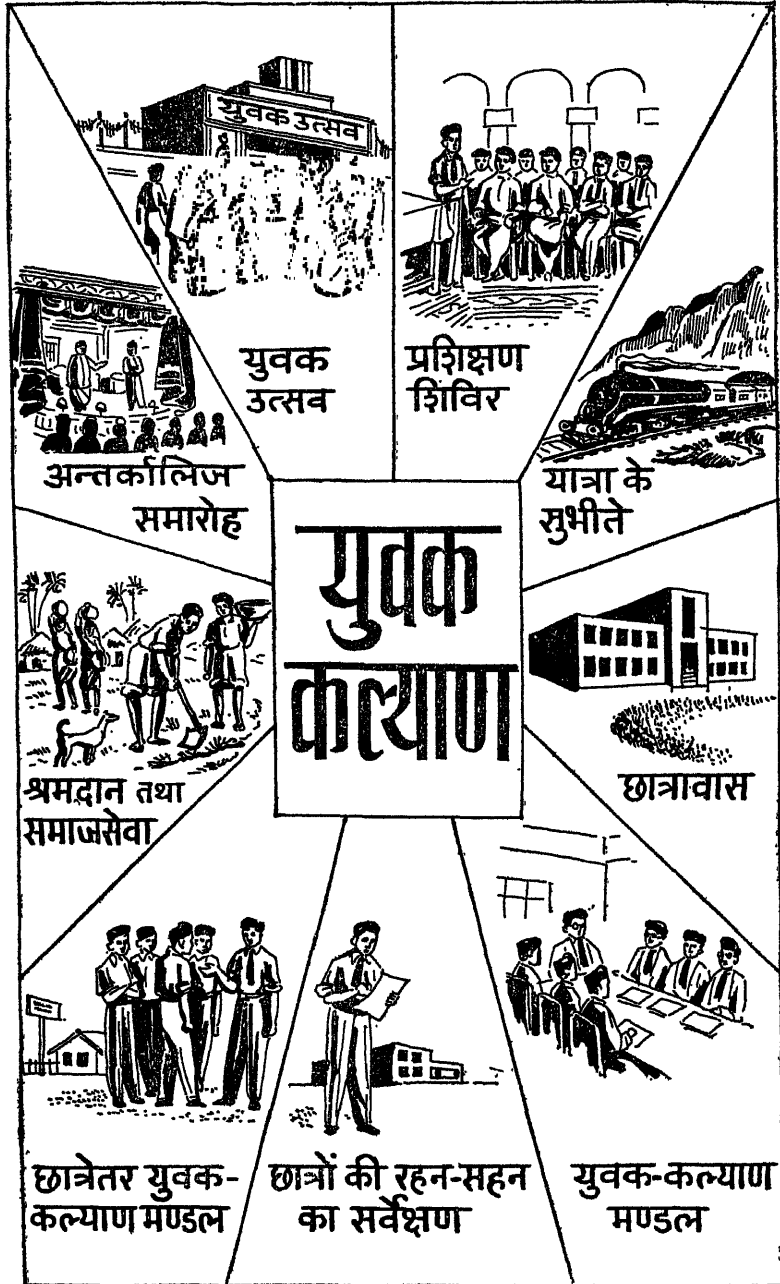
युवक उत्सव
युवक उत्सव
प्रशिक्षण शिविर
अन्तर्कालिज समारोह
यात्रा के सुभीते
युवक कल्याण
श्रमदान तथा समाजसेवा
छात्रावास
छात्रेतर युवक-कल्याण मण्डल
छात्रों की रहन-सहन का सर्वेक्षण
युवक-कल्याण मण्डल

चित्र १८

कार्यान्वित करने की जिम्मेवारी तत्कालीन पुनर्वास उप-मन्त्री श्री० जे० के० भोंसले को सौंपी गयी। जापान तथा अन्य देशों के अनुभवों के आधार पर, श्री भोंसले ने इस नवीन योजना की एक रूप-रेखा तैयार की।

इसका श्रीगणेश दिल्ली के 'कस्तूरबा निकेतन' में हुआ। सन् १९५४ के अंत में श्री नेहरू ने इस संस्था के शिक्षार्थियों के कार्यकलाप का परिदर्शन किया। वे इससे इतने संतुष्ट हुए कि उन्होंने इस योजना को पूरे भारत में लागू करने का आदेश दिया।

विस्तार.— योजना का कार्यक्रम सम्पूर्ण दिल्ली, फरीदाबाद, राजपुरा, उल्लास-नगर, जलन्धर में विस्तारित हुआ। प्रथम वर्ष अर्थात् १९५४-५५ में इस कार्यक्रम के लिए सिर्फ़ एक लाख रुपये खर्च किये गये। इस वर्ष यह योजना १९ शिक्षा-संस्थानों में लागू हुई, तथा २४,८८१ विद्यार्थी प्रशिक्षित किये गये। सन् १९५६ के अंत में ६९,००० छात्र-छात्राओं ने इस योजना का लाभ उठाया। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के लिए पाँच करोड़ रुपयों की माँग है।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय का 'व्यायाम और मनोरंजन संविभाग' इस योजना का परिचालन करता है। इस योजना को १९५९-६० में लागू करने के लिए आय-व्ययक में बीस लाख रुपयों की व्यवस्था की गयी है। इस साल जिन नयी संस्थाओं में योजना चालू की गयी/या की जायगी, उनकी संख्या इस प्रकार है :

तालिका २९

राष्ट्रीय अनुशासन-योजना की व्यवस्था, १९५९–६०†

राज्य	स्कूलों की संख्या	बच्चों की संख्या
दिल्ली	१६	६,५६१
पञ्जाब	८०	४८,२६८
मध्य-प्रदेश	३	१,०००
उत्तर-प्रदेश	८	२,४५०
बम्बई	२५	५,०२०
पश्चिम बंगाल	२६	५,१५०
कुल...	१५८	६८,४४९

† भारतीय समाचार, १५ सितम्बर, १९५९, पृष्ठ ५१९।

११ और १२ जुलाई, सन् १९५९ की एक राष्ट्रीय अनुशासन-योजना के वरिष्ठ निरीक्षकों की बैठक में यह सुझाव रखा गया कि या तो जिन स्थानों पर अनुशासन-योजना चल रही है, वहाँ उनका काम बढ़ाया जाय, अथवा कुछ और राज्यों में भी इसका काम शुरू किया जाय। एक सुझाव यह भी रखा गया कि सब राज्यों के कुछ स्कूलों में यह योजना चालू की जाय। †

योजना के अङ्ग—योजना में शारीरिक शिक्षा, ड्रिल तथा खेल-कूद-द्वारा दी जाती है। नैतिक शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया जाता है ताकि विद्यार्थियों में अनुशासन, आत्म-निर्भरता, अभिमान, स्वदेश-प्रेम और आज्ञाकारिता की भावना का उदय हो। यह प्रशिक्षण विद्यार्थियों की कम उम्र में ही दिया जाता है, ताकि इन भावनाओं की नींव पक्की हो।

शिक्षकों का प्रशिक्षण—शिक्षकों के ट्रेनिंग के लिए प्रशिक्षण शिविर चलाये जाते है, जिनमें त्रैमासिक ठोस कोर्सों की व्यवस्था रहती है। अभी तक एक हजार से अधिक शिक्षक प्रशिक्षित हो चुके हैं। आशा की जाती हैं कि सन् १९६१ के पश्चात् यह कोर्स शिक्षक-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य अङ्ग रहेगा। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय कुशल निरीक्षकों की एक केन्द्रीय सूची तैयार कर रहा है।

उपसंहार—२८ मई, १९५९ में केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने नौ व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की है। श्री हृदयनाथ कुंजरू इस समिति के अध्यक्ष हैं। समिति को एक ऐसी योजना प्रस्तुत करनी होगी, जिसमें मुख्यतः निम्न-लिखित बातों की जाँच करनी होगी :

१. देश में वर्तमान प्रचलित शारीरिक शिक्षा, मनोरंजन, चरित्र-गठन एवं अनुशासन विषयक विभिन्न योजनाओं की परीक्षा करना।

२. ऐसे सुझाव देना, जिनसे उपर्युक्त क्षेत्रों में दोहराव बन्द हो तथा एक समन्वय स्थापित हो।

३. उपर्युक्त क्षेत्रों के उत्तरोत्तर विकास तथा उन्नति के लिए एक उपयुक्त योजना प्रस्तुत करना।

समिति इन विषयों की जाँच करेगी : बालचर तथा गर्ल्स गाईड, राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल एवं सहायक सैन्य शिक्षार्थी दल, अनुशासन एवं चरित्र संगठन योजना, शारीरिक शिक्षा एवं मनोरंजन, तथा युवक-कल्याण की विविध योजनाएँ।

---

† **भारतीय समाचार**, १ अगस्त १९५९, पृष्ठ ४०८।

ग्यारहवाँ अध्याय

कतिपय राष्ट्रीय संस्थान

प्रस्तावना

पिछले पत्रों में हमारे देश की मुख्य समस्याओं की आलोचना की गयी है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रजी शिक्षा के विरुद्ध काफी असन्तोष था। भारत के विभिन्न भागों में कुछ संस्थाएँ स्थापित हुईं, जिनका मुख्य उद्देश्य था राष्ट्रीय पद्धति पर शिक्षा देना। अधिकतर संस्थाएँ अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध खड़ी न रह सकीं, वे विलीन हो गईं। पर कुछ अभी भी अपना सिर ऊँचा किए खड़ी हैं। इनमें से मुख्य हैं: गुरुकुल काँगड़ी, एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, विश्व-भारती, विद्यापीठ, दिल्ली जामिया मिलिया, एवं हिन्दुस्थानी तालीमी संघ, सेवाग्राम। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

गुरुकुल काँगड़ी

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, हिन्दू-धर्म-सुधार का आन्दोलन आरम्भ हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने घोषणा की, "हमें वेद का पुनरुद्धार करना है।" इसके अनुसार, गुरुकुल प्रणाली का प्रचार भी आवश्यक समझा गया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कई गुरुकुल स्थापित हुए। जिनमें गुरुकुल काँगड़ी मुख्य है। इसकी स्थापना स्वामी श्रद्धानन्द ने सन् १९०२ में हरिद्वार के पास काँगड़ी में की।

संस्था का उद्देश्य है संस्कृत साहित्य के साथ-साथ वैदिक साहित्य का अध्ययन, प्राचीन राष्ट्रीय शिक्षण, भारत के प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्व का अध्ययन। इसीलिए यहाँ सांगोपांग वेद और अंग्रेजी साहित्य के साथ अंग्रेजी, रसायन, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, भू-विज्ञान, कृषि, पाश्चात्य दर्शन, अर्थ-शास्त्र तथा आयुर्वेद पढ़ाने की व्यवस्था की गई है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी है।

शहर के कोलाहल से दूर, प्रकृति देवी की गोद में यह संस्था स्थित है। यहाँ सावास प्रणाली के अनुसार शिक्षा दी जाती है, विद्यार्थी और शिक्षक साथ-साथ रहते हैं।

छः से आठ वर्ष की उम्र में, यहाँ बालक प्रविष्ट होता है; चौदह वर्ष के अध्ययन के बाद, वह स्नातक तथा दो वर्ष पश्चात् वाचस्पति होता है। गुरुकुल का आयुर्वेदिक विभाग विख्यात है। यहाँ विविध प्रकार की दवाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। यहाँ का पाठ्य-क्रम पँच-वर्षीय होता है, और १५-१९ वयोवर्ग के विद्यार्थी भर्ती किये जाते हैं।

गुरुकुल में सहशिक्षा निषिद्ध है। बालकों को चौबीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य-पालन करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। उन्हें निरामिष भोजन करना पड़ता है। विद्यार्थियों की दिनचर्या प्राचीन गुरुकुलों की नाईं होती है: प्रातःकाल उठना, शारीरिक परिश्रम, हवन, इत्यादि। आश्रम को साफ-सुथरा उन्हें ही रखना पड़ता है।

एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय का विकास पूना के एक सामान्य स्कूल से हुआ, जिसकी स्थापना सन् १८९६ में आचार्य कर्वे ने हिन्दू विधवाओं के लिए की थी। धीरे-धीरे इस छोटे से स्कूल में कई संस्थाएँ संलग्न हुईं, जैसे : एक छात्रावास, एक प्रायमरी स्कूल तथा एक प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण केन्द्र। संस्था इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक माता-पिता अपनी कुआँरी कन्याओं को छात्रावास में रखने लगे।

इससे आचार्य कर्वे का उत्साह बढ़ा और उन्होंने भारतीय छात्राओं के लिए एक उच्च शिक्षा योजना आरम्भ की। उनका कथन है कि नर और नारियों का पाठ्य-क्रम समान नहीं हो सकता, कारण दोनों के जीवन-क्षेत्र ही विभिन्न है। इसीलिए उन्होंने महिलाओं की आवश्यकता के अनुकूल उच्च शिक्षा का एक पाठ्यक्रम तैयार किया। उन्होंने यह भी तय किया कि यह शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से दी जाय। कारण, प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास निज भाषा के द्वारा ही हो सकता है।

सन् १९१६ में आचार्य कर्वे ने भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की। यह एक राष्ट्रीय सस्थान है। कारण, यहाँ भारत के कोने-कोने से छात्राएँ अध्ययन के लिए आती हैं। विश्वविद्यालय की अधोलिखित विशेषताएँ हैं, जो अन्य विश्वविद्यालयों में नहीं पायी जातीं :

१. विश्वविद्यालय केवल महिलाओं के लिए है;

२. इसके स्वीकृत कालिज देश के विभिन्न भागों में स्थित हैं;

३. पाठ्य-क्रम में स्त्रियों के लिए उपयोगी अनेक विषयों का समावेश है, जैसे : संगीत, चित्रकला, नाट्य शास्त्र, गृह विज्ञान, आदि;

४. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है; एवं

५. परीक्षाओं में बाह्य छात्राएं भी बैठ सकती हैं। इसका लाभ अनेक महिलाएँ उठाती हैं, जो कि कालिजों में नियमित रूप से सदा अध्ययन नहीं कर सकतीं।

सन् १९३० में विश्वविद्यालय का सदर मुकाम बम्बई में स्थानान्तरित हुआ। क्योंकि बम्बई के एक करोड़पति ने अपनी माता, श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी, की पुण्य स्मृति में लाखों रुपये दान दिये। इसी कारण इस विश्वविद्यालय का वर्तमान नामकरण हुआ। सन् १९५१ में, इसे वैधानिक स्वीकृति दी गयी है। विश्वविद्यालय के मान्यता-प्राप्त कालिज बम्बई, बड़ौदा, पूना, सूरत, भावनगर तथा अहमदाबाद में स्थित हैं। गत चालीस वर्षों से यह संस्थान हमारे देश की महिलाओं की जाग्रति और सामाजिक क्रान्ति में बड़ा योग दे रहा है।

विश्व-भारती

सन् १८६३ में कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ने परमार्थ साधकों के लिए एक आश्रम की स्थापना कलकत्ते के पास बोलपूर ग्राम में की थी। इसका नामकरण उन्होंने शान्ति-निकेतन किया। जिस स्थान में वे साधना किया करते थे, वहाँ एक संगमर्मर-शिला पर बँगला-भाषा में खुदा हुआ है :

तिनि आमार प्राणेर आराम, मनेर आनंद, आत्मार शांति।†

सन् १९०१ में गुरुदेव ने इसी स्थान में बच्चों के लिए एक प्रायोगिक विद्यालय स्थापित किया, जिसका उद्देश्य ऐसी शिक्षा देना था जो प्राकृतिक हो जहाँ बच्चे परिवार के वातावरण का अनुभव करें और वे पारस्परिक विश्वास और उत्साह के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक अध्ययन करें। सन् १९२१ में यही विद्यालय विश्व-भारती के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हुआ। कविवर ने सरकारी स्वीकृति की परवाह न की। क्योंकि वे अपनी संस्था को सरकारी कायदों से शृंखलाबद्ध नहीं रखना चाहते थे। अर्थाभाव के कारण उन्हें भटकना पड़ा, पर उन्होंने अपने आदर्शों का बलिदान न करना चाहा। स्वाधीन भारत में ही इस विश्वविद्यालय को भारतीय संसद द्वारा सन् १९५१ में वैधानिक स्वीकृति दी गई। विश्वविद्यालय के उद्देश्य इस प्रकार हैं :

---

† अर्थात् वे मेरे प्राण के आराम, मन के आनन्द एवं आत्मा की शान्ति हैं।
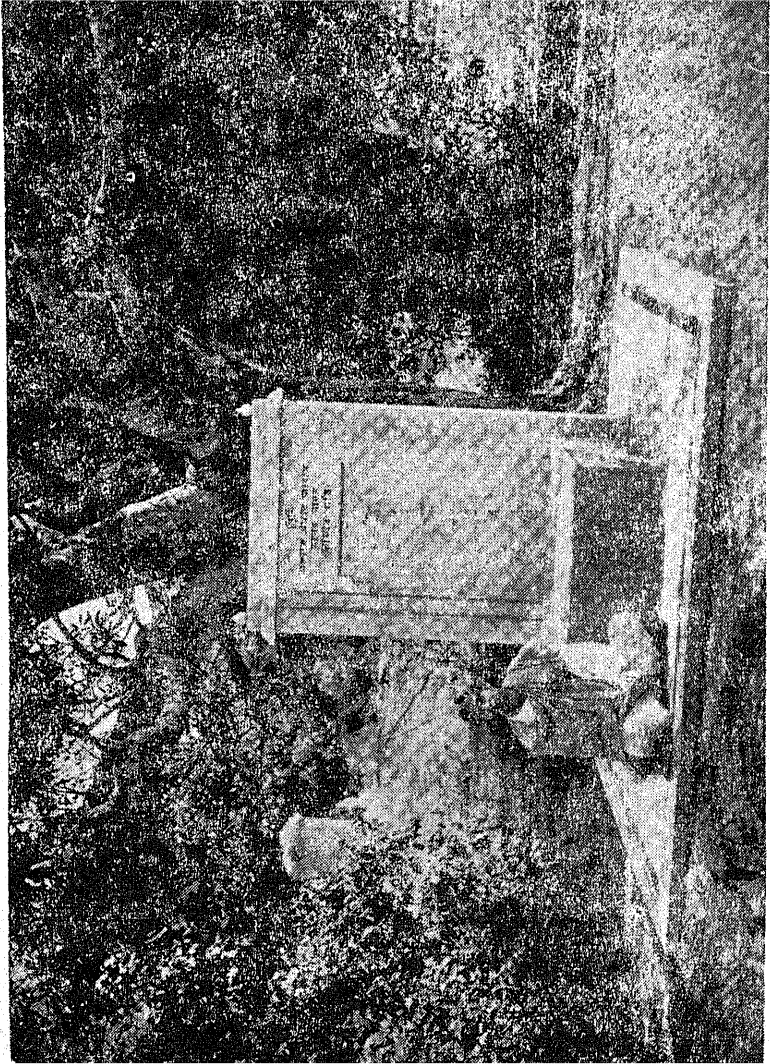
चित्र १९—सप्त-पर्ण की छाया में गुरुदेव (शान्ति-निकेतन)

१. विभिन्न दृष्टिकोण से मनुष्य-जीवन का अध्ययन;

२. पूर्व की विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन एवं अनुसन्धान;

३. पूर्व की विभिन्न संस्कृतियों को उनकी मौलिक एकता के आधार पर पश्चिम के विद्वानों और संस्कृति के निकट पहुँचाना; एवं

४. सहबन्धुत्व का अनुभव करते हुए पूर्व और पश्चिम का समन्वय करना, जिससे विश्व-बन्धुत्व और विश्व-एकता सम्भव हो सके।†

विश्व-भारती एक सावास विश्वविद्यालय है, जहाँ भारत के विभिन्न भागों से विद्यार्थीगण आते हैं तथा प्राध्यापकगण काम करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य देशों के छात्र तथा दर्शकगण यहाँ सदा आते-जाते ही रहते हैं। विदेशी छात्रगण भी यहाँ नियमित या अनियमित विद्यार्थी रूप से अध्ययन कर सकते हैं। अनियमित छात्रों के लिए विशेष उत्तर-स्नातक पाठ्यक्रम का प्रबंध किया जाता है, जैसे : बंगला, हिंदी, संस्कृत, पाली, चीनी और तिब्बती भाषाएँ, प्राचीन भारत का इतिहास, भारतीय दर्शन-शास्त्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति, इत्यादि। भारतीय कला तथा नृत्य की शिक्षा का भी यहाँ विशेष प्रबंध है। इसके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय में बिना कुछ अतिरिक्त फी (शुल्क) दिये कोई भी विद्यार्थी किसी भी कोर्स का अध्ययन नियमित या अनियमित छात्र के रूप में कर सकता है, बशर्ते कि वह उस विषय की ओर विशेष अभिरुचि दिखलावे।

विश्वविद्यालय के मुख्य निजी कालिज ये हैं : विद्या-भवन (उप-स्नातक एवं उत्तर-स्नातक कक्षाएँ तथा अनुसंधान), शिक्षा-भवन (उच्चतर माध्यमिक स्कूल), कला भवन (ललित कला एवं क्राफ्ट), संगीत-भवन (संगीत एवं नृत्य), विनय-भवन (शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय), शिल्प-सदन (कुटीर-शिल्प प्रशिक्षण-केंद्र)। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय विख्यात है जहाँ लगभग दो लाख पाण्डुलिपियों का संग्रह है।

दुनिया के रगड़े-झगड़े से दूर, शान्ति-निकेतन में पूर्ण शान्ति विराजती है। नील-गगन के नीचे आवश्यकतानुसार कक्षाएँ लगती हैं। शिक्षा में विद्यार्थियों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। पाठ्यक्रम में अनेक विषयों का समावेश है, ताकि प्रत्येक छात्र अपनी इच्छा के अनुकूल विषय का चुनाव कर सके। चित्रकला, नाट्य, संगीत, काष्ठ-कला, खुदाई का काम, भास्कर्य-कार्य, इत्यादि विषयों की शिक्षा की यहाँ व्यवस्था है। यह व्यवस्था अनेक विश्वविद्यालयों में नहीं रहती है। विशेषज्ञ इनका अध्यापन करते हैं।

विद्यार्थियों में समाज-सेवा की भावना जाग्रत करना विश्व-भारती का एक महान उद्देश्य है। लूले-लँगड़े, अन्धे-गूँगे तथा अन्य अपाहिजों की सेवा का बीड़ा इस विश्व-

† *Visva-Bharati Prospectus*, n. d., p. 1

विद्यालय ने उठाया है। विद्यार्थियों को आसपास के गाँवों में जाना पड़ता है तथा उन्हें दलितों या पतितों की उन्नति की ओर लक्ष्य रखना पड़ता है, ताकि इन गरीबों का जीवन किञ्चित् सुखप्रद हो।

शान्ति-निकेतन से एक मील दूरी पर पश्चिम की ओर 'श्रीनिकेतन' है। यह एक ग्रामीण उच्चतर शिक्षा-संस्था है, और विश्वभारती का एक भाग है। श्रीनिकेतन की स्थापना गुरुदेव ने सन् १९२१ में की थी। तभी से यह ग्राम-सुधार तथा ग्राम-शिक्षा का मुख्य केन्द्र रहा है।

गुरुदेव के देहावसान को आज दस से अधिक वर्ष बीत गये हैं, पर विश्व-भारती के रोम-रोम में उनके व्यक्तित्व की छाप विद्यमान है। संस्था के वातावरण से कवित्व जैसे फूट उठता है — गाँव की सादगी, कोपई नदी का कल-कल रव, बाग-बगीचे की सुरम्य हरीतिमा, शुष्क पत्रों की मर्मर ध्वनि तथा पक्षियों का अजस्र कर्ण-मधुर संगीत! हम कह सकते हैं कि शांति-निकेतन को प्रकृति का वरदान है। विश्व-भारती भारतीय संस्कृति का केन्द्र है तथा अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का विद्यापीठ है। इस संस्था के जन-हित तथा समाजसेवा-सम्बन्धी कार्य स्तुत्य एवं श्लाघ्य हैं।

विद्यापीठ

सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन के समय, कतिपय राष्ट्रीय विद्यापीठ भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित हुए, जैसे : पूना, अहमदाबाद, बनारस, लाहोर, पटना, अलीगढ़, (बाद में दिल्ली में स्थानान्तरित)। इनका मुख्य उद्देश्य था हमारे देश के नौजवानों को ऐसी उच्च शिक्षा देना कि उनके हृदय में राष्ट्रीय भाव प्रस्फुटित हो उठे और वे देशोद्धार के संग्राम में जुट पड़े। अंग्रेजी कालिजों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा यह शिक्षा सम्भव न थी।

इस उद्देश्य को सामने रखते हुए विद्यापीठों का पाठ्यक्रम तैयार किया गया। इसमें भारतीय भाषाओं तथा संस्कृति को प्रमुख स्थान दिया गया, तथा हिन्दी एक अनिवार्य विषय रखा गया। इनमें शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से दी जाती थी। विद्यापीठ निजी डिग्रियाँ तथा डिप्लोमा प्रदान करते थे। अनेक देश-भक्तों ने अल्प वेतन स्वीकार कर विद्यापीठों में अध्यापन का कार्य स्वीकार किया, पर असहयोग आन्दोलन की शिथिलता के साथ-साथ दिल्ली की जामिया-मिलिया के सिवा सभी विद्यापीठ बन्द हो गये। नौकरी के लिए इन विद्यापीठों के डिग्री-डिप्लोमाओं को मान्यता नहीं दी गयी। तब फिर वहाँ विद्यार्थीगण कैसे अध्ययन कर सकते थे? दाल-रोटी की समस्या जीवन में सबसे अधिक महत्व-पूर्ण होती है।

कतिपय विद्यापीठ कुछ-न-कुछ कार्य अवश्यमेव चलाते रहे, जैसे : खादी-प्रचार, बुनियादी शिक्षा, ग्राम-सुधार आदि। स्वातन्त्र्योत्तर-काल में इनका पुनरुद्धार हुआ। उदाहरण-स्वरूप, आज गुजरातविद्यापीठ, अहमदाबाद, निम्न-लिखित संस्थाएं या कार्यक्रम चला रहा है :

१. बुनियादी प्रयोगिक हाईस्कूल—यह एक उत्तर-बुनियादी हाईस्कूल है।

२. महादेव देसाई समाज-सेवा महाविद्यालय—मैट्रिक पास विद्यार्थियों के लिए तीनवर्षीय पाठ्यक्रम।

३. बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय—प्राथमिक शिक्षकों के लिए।

४. राष्ट्र भाषा-प्रचार—तीन मुख्य कार्य :

(१) कक्षाएँ चलाना, (२) गुजरात में राष्ट्र-भाषा परीक्षाओं का संचालन, एवं (३) पुस्तक-प्रकाशन।

५. पुस्तकालय—जहां करीब एक लाख पुस्तकें हैं।

६. वल्लभ विद्यालय, बोचासन सेवा-केन्द्र—अनुसूचित जातियों में काम करने के लिए ग्राम-सेवकों को तैयार करना।

७. अम्बेठी शुक्ल-केन्द्र—आदिवासी बच्चों के लिए, एक आश्रम स्कूल तथा समाज-शिक्षा-केन्द्र।†

जामिया मिलिया, दिल्ली

जामिया मिलिया की स्थापना असहयोग आन्दोलन के समय सन् १९२० में हुई थी। आरम्भ से ही यह विद्यापीठ अपना सिर ऊँचा किये हुए सेवा-रत है। इसकी स्थापना अलीगढ़ में हुई थी, पर पाँच वर्ष पश्चात् यह संस्था दिल्ली में स्थानान्तरित हुई।

जामिया मिलिया का ध्येय नौजवानों को सरकारी नौकरी के लिए तैयार करना नहीं था। इसका उद्देश्य नवयुवकों को आदर्श नागरिक बनाना है —ऐसे नागरिक, जिनका अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति प्रेम हो, जिनके हृदय में देश-भक्ति भरी पड़ी हो और जो देशोन्नति के लिए सदा भरसक प्रयत्न किया करें। पाठ्यक्रम में भारतीय सांस्कृतिक विषय कूट-कूट कर भरे गये हैं, पर उसमें पाश्चात्य विषयों का भी समावेश है। यहां सभी कौम के विद्यार्थी—मुसलमान तथा गैर-मुसलमान—अध्ययन करते हैं, पर उनकी शिक्षा में उनके व्यक्तित्व के विकास की ओर पूर्ण ध्यान दिया जाता है।

---

† *Prospectus* of *Gujarat Vidyapeetha*. 1954-55.

आँधी-तूफानों को झेलते हुए भी, जामिया ने अपनी स्वाधीनता क़ायम रखी। इसने सरकारी मान्यता की परवा न की, और तत्कालीन पाठ्यक्रम को स्वीकार नहीं किया। इसे आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा तथा इसकी डिग्रियाँ भी स्वीकृत नहीं हुईं। पर भिखारियों को सदा अपनी स्वाधीनता खोनी पड़ती है, इसके कारण जामिया ने सरकारी अनुदान की तनिक भी अपेक्षा नहीं की। उसने सदा अपने आदर्शों को सामने रखा। दान और चन्दे पर ही यह संस्था चलती रही। लोगों ने इस संस्था के प्रति सहानुभूति भी दिखलायी। कारण, उन्होंने जामिया के आदर्शों को समझा।

आज जामिया निम्न-लिखित संस्थाओं को चला रही है :

१. एक सावास कालिज.—इसमें कला, विज्ञान तथा सामाजिक शास्त्र की शिक्षा दी जाती है।

२. एक सावास बहूद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक शाला।

३. एक सावास प्राथमिक स्कूल.—यहाँ पर प्रोजेक्ट पद्धति-द्वारा शिक्षा दी जाती है।

४. प्रौढ़ शिक्षण-संस्था—जो प्रयोगिक समाज-शिक्षा-केन्द्रों का परिचालन करती है।

५. शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय.—इसमें बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं। अवर पाठ्यक्रम के लिए डिप्लोमा तथा प्रवर पाठ्यक्रम के लिए बी० एड० डिग्री मिलती है।

६. मकतबा.—यहाँ से स्कूली पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित होती हैं।

७. पुस्तकालय.—यहाँ बीस हज़ार से अधिक पुस्तकें हैं।

८. कला-प्रशिक्षण-केन्द्र.—क्राफ्ट शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए।

९. ग्राम्य अर्थशास्त्र तथा समाज-शास्त्र केन्द्र—यहाँ उत्तर-स्नातक स्तर पर अनुसन्धान-कार्य होता है।

१०. इतिहास एवं राजनीति शोध-संस्था.—यहाँ इन विषयों की शिक्षण-विधियों में समन्वय स्थापित करने के लिए शोध-कार्य हो रहा है। तथा यहाँ से सहायक शिक्षण-सामग्री तैयार होती है।

११. एक ग्रामीण उच्चतर शिक्षा-संस्था।

१२. एक पूर्व-प्राथमिक स्कूल।

१३. समाज-शिक्षा प्रकाशन-केन्द्र.—यहाँ नवशिक्षित वयस्कों की शिक्षा के विषय में अनुसन्धान किया जाता है, तथा उनके उपयोगी साहित्य का प्रकाशन किया जाता है।

आत्मत्याग-व्रत लेनेवाले व्यक्तियों के द्वारा, इस संस्था का सञ्चालन होता है। ये केवल २००–५०० रु० मासिक वेतन लेते हैं तथा संस्था की बीस वर्ष तक सेवा करना अंगीकार करते हैं। ऐसे ही महानुभाव इस संस्था के सदस्य हो सकते हैं। यही सदस्य संस्था की देख-भाल करते हैं तथा उसकी प्रबंधकारिणी सभा के सदस्य होते हैं।

हिन्दुस्थानी तालीमी संघ, सेवाग्राम

भूमिका.—बुनियादी शिक्षा की विस्तृत चर्चा इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में की गयी है। हिन्दुस्थानी तालीमी संघ, सेवाग्राम इस नवीन शिक्षा का प्रधान केन्द्र है। इसकी स्थापना सन् १९३० में हुई थी।

इस कार्य के लिए सेवाग्राम सर्वोत्तम स्थल गिना जा सकता है। इस केन्द्र के इर्द-गिर्द लगभग तीस गाँव हैं। परन्तु कोई भी गाँव यहाँ से अधिक दूर नहीं है। वर्धा रेलवे स्टेशन यहाँ से केवल पाँच मील की दूरी पर स्थित है। सेवाग्राम ग्राम-सुधार, खादी-प्रचार तथा पशु-पालन का एक प्रधान केन्द्र है।

शुरू-शुरू में संघ ने एक पूर्ण बुनियादी स्कूल कायम किया। इनमें आठवर्षीय प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी। नयी तालीम के विस्तार के साथ-साथ संघ को भी अपने कार्यकलाप बढ़ाने पड़े। कारण, नयी तालीम के अन्तर्गत अब शामिल हैं: (१ प्रौढ़ शिक्षा, (२) पूर्व-बुनियादी शिक्षा। (३) बुनियादी शिक्षा एवं, (४) उत्तर-बुनियादी शिक्षा

विभिन्न विभाग.—आज यह संघ अधोलिखित विभागों का संचालन कर रहा है:

१. पूर्व-प्राथमिक स्कूल या 'बालवाड़ी'।

२. बुनियादी स्कूल (७-१४ वयोवर्ग के बच्चों के लिए)। संघ स्वयं 'आनन्द निकेतन' नामक एक स्कूल चलाता है, और आसपास के गाँवों में स्थित लगभग बीस गाँवो के बुनियादी स्कूलों की देखरेख करता है।

३ उत्तर-बुनियादी स्कूल—इस संस्था में बुनियादी शिक्षा समाप्त किये विद्यार्थियों को ३-४ वर्ष अभ्यास करना पड़ता है। पाठ्यक्रम में इन विषयों का समावेश है: (१) कृषि, (२) बागवानी, २) पशु पालन, (४) तेल-

उत्पादन, ५) काष्ठ एवं धातु कार्य, (६) ग्राम इंजीनियरिंग एवं गृह-निर्माण, (६ बुनाई, (८) दर्जीगिरी, (९) गृह-विज्ञान (लड़कियों के लिए)। नयी तालीम के सिद्धान्तों के अनुसार विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाया जाता है।

४. विश्वविद्यालयीय शिक्षा—कृषि, पशु-पालन. ग्राम इंजीनिरिंग, स्वास्थ्य एवं शिक्षा का या तो प्रबंध किया जा रहा है या किया जानेवाला है।

५. प्रसार -कार्य—यह कार्य विश्वविद्यालय कार्य से सम्बन्धित है। मुख्य कार्यकलाप इस प्रकार हैं: (१) सेवाग्राम से ७ मील के अर्धव्यास में स्थित सघन क्षेत्रों में प्रसार-कार्य, ताकि लोग सर्वोदय-समाज के हेतु को समझा सकें। (२) १९ वर्ष से ऊपर के युवक एवं युवतियों को नयी तालीम की ग्राम रचना पद्धति में प्रशिक्षित करना, ताकि वे भूदान आन्दोलन में भाग ले सकें। (३ नयी तालीम शिक्षा के लिए शिक्षक-प्रशिक्षण-कार्य।

उत्तर-बुनियादी, विश्वविद्यालयीय तथा प्रसार-कार्य शिक्षा के लिए भारत के विभिन्न भागों से विद्यार्थीगण यहाँ आते हैं। थोड़े-बहुत अतिथि विदेशों से भी आते
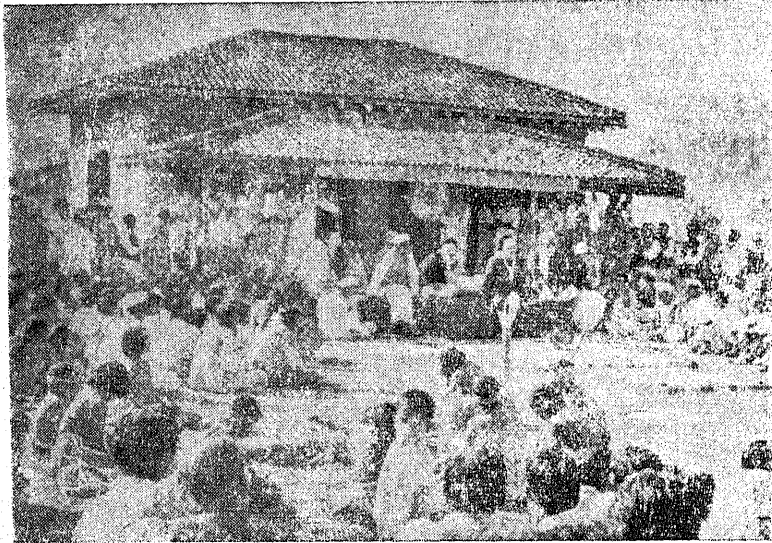
चित्र २०—सेवाग्राम में गान्धीजी की कुटिया

हैं। इनके लिए अल्प-कालिक (दो सप्ताह से लेकर कई महीने) प्रशिक्षण का विशेष प्रबन्ध किया जाता है।

उपसंहार—यह संघ बीस वर्ष से भी अधिक काल से अपना कार्य सतत कर रहा है। इसे अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा, पर इसने अपना कार्य प्रत्येक स्थिति में जारी रखा। संघ ने भारत के शिक्षा जगत में एक नयी क्रांति उत्पन्न की है। संघ का उद्देश्य एक ऐसे समाज की सृष्टि करना है, जिसके जन समुदाय स्वावलम्बी हों, जो अपने हाथ से स्वयं श्रम कर स्वाश्रित होवें, और उन्हें दूसरों की सहायता कदापि न लेनी पड़े। अपने दृढ़ संकल्प को कार्यान्वित करने में संघ को बहुत कुछ सफलता भी मिली है। आश्रम में स्थित गान्धीजी की कुटिया उसे ज्योति दिखाती रही है, और आगे दिखाती ही रहेगी।

बारहवाँ अध्याय

उपसंहार

स्वतन्त्रता-उपलब्धि के अनन्तर, शिक्षा की प्रगति एवं उन्नति के लिए अनेक योजनाएँ इस देश में चलायी गयी हैं, और चलायी जा रही हैं। तिस पर भी अभी शिक्षा का विस्तार आशानुरूप नहीं हुआ है। सौ वर्षों से अधिक समय से वर्तमान शिक्षा-पद्धति चली आ रही है। इस पद्धति की अकर्मण्यता का पता इसीसे चल सकता है कि आज ७० प्रति शत से अधिक स्त्री-पुरुष निरक्षर ही हैं। इतना ही नहीं, शिक्षित व्यक्तियों को उनके अनुकूल शिक्षा नहीं मिली। इस शिक्षा के द्वारा देश का यथोचित आर्थिक और सांस्कृतिक विकास भी न हुआ। इन खामियों की काफी नुकताचीनी हुई है, और हो भी रही है। पर इनका विशेष रूप से प्रतिकार नहीं किया गया। खेद के साथ कहना पड़ता है कि स्वातन्त्र्योत्तर-काल में भी इस चुनौती का सामना विधिवत् नहीं किया गया।

हमारे शिक्षा-सम्मेलनों तथा परिषदों में, एवं विश्वविद्यालयीय दीक्षान्त भाषणों में, हमारे देश के गण्यमान्य महानुभाव लम्बी-चौड़ी हाँकते हैं और शिक्षा के दोषों की टीका-टिप्पणी करते हैं। इन्हें सुनकर हताश हो जाना पड़ता है। जैसा कि स्वर्गीय मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा ही है, "वे नहीं समझ पाते हैं कि ऐसी समालोचना के कारण, भलाई के बदले बुराई ही होती है। इस निन्दा के विषाक्त फल-स्वरूप शिक्षकगण ढीले पड़ जाते हैं, विद्यार्थीगण निरुत्साह हो जाते हैं एवं जनता शिक्षा का अनादर करने लगती है।" † हम इन उच्च-पदस्थ दिग्गज महारथियों से पूछना चाहते हैं कि आखिर उन्होंने स्वयं शिक्षा के पुनरुद्धार के लिए क्या किया?

भारतीय शिक्षा को अनेक समस्याओं का सामना करना है। इनकी चर्चा पिछले अध्यायों में की गयी है। फिर भी हम तीन समस्याओं के सम्बन्ध में, इस अध्याय में, थोड़ा-बहुत कहना चाहेंगे। ये समस्याएँ ये हैं : (१) प्रशासन, (२) शिक्षा का गिरता हुआ मान-दण्ड एवं (३) विद्यार्थीवर्ग की अनुशासन-हीनता।

---

† *Times of India*, November 6, 1957.

प्रशासन की कमजोरियों के कारण, शिक्षा के दोष दूर नहीं हो रहे हैं। सरकार को किसी भी समय परामर्श का अभाव नहीं रहा। समय-समय पर अनेक समितियों तथा आयोगों की नियुक्तियाँ हुई हैं। उन्होंने विशद रूप से शिक्षा-समस्याओं का अध्ययन किया तथा उपयुक्त प्रस्ताव भी किये। वर्तमान काल में शिक्षा के प्रायः प्रत्येक अङ्ग पर पूर्णतः विचार करके तथा सम्यक् सुझाव देने के लिए स्थायी समितियों एवं परिषदों की नियुक्तियाँ की गयी हैं। प्रति वर्ष कतिपय कर्म-शालाएँ एवं गोष्ठियाँ भरती हैं। इन सबका परिणाम क्या निकला ? कहना नहीं होगा कि निराशा और हाथ मलने के सिवा कोई सुफल दृग्गोचर नहीं हुआ। कोई भी क्षेत्र हम लेते हैं तो हमें वहाँ सर्वत्र मृगतृष्णा की सृष्टि साकार दिखायी पड़ती है, चाहे हम अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लें या माध्यमिक शिक्षा में बहूद्देश्यीय पाठ्यक्रम की योजना को ही लें, अथवा अनुसन्धान या विश्वविद्यालयीय शिक्षा का सुधार लें। बड़ी-बड़ी योजनाओं में तब दूरदर्शिता के अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष होता है। उनके अनुसार व्यय की व्यवस्था नहीं हो पाती, और हममें उनको कार्यान्वित करने की क्षमता भी नहीं रहती है। कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है कि केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री, डॉ० कालूलाल श्रीमाली, को लोक-सभा में खेद के साथ यह स्वीकार करना पड़ा कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा भारत-संविधान के निर्देशानुसार नियत समय में कार्यान्वित नहीं की जा सकती है। †

दूसरों के दोष-दर्शन एवं नुकताचीनी में हमें आनन्द मिलता है, पर हम यह कभी भी विचार नहीं करते हैं कि हम स्वयं क्या कर सकते हैं ! उदाहरण-स्वरूप, सार्जेण्ट योजना का उद्देश्य कम-से-कम ४० वर्षों में शिक्षा के उस स्तर की प्राप्ति करना रखा गया जो तत्कालीन इंग्लैण्ड में पहुँच चुका था। इसकी खूब टीका-टिप्पणी हुई, और स्वर्गीय मौलाना आजाद ने कहा कि स्वाधीन भारत चालीस वर्ष ठहर नहीं सकता। सन् १९४८ की खेर-समिति ने सुझाव दिया कि सर्वव्यापी अनिवार्य बेसिक शिक्षा देश में सोलह वर्षों के भीतर ही लागू की जा सकती है। पर 'जो की जा सकती है', वह की नहीं गयी। हम लोग प्रसिद्धतम प्रतिवेदन लिख सकते हैं, पर उसे कार्यान्वित करने का हममें कोई दम-खम नहीं। हम मजे में खर्राटे लेते रहे। अब तो सोलह वर्षीय अवधि शीघ्र ही समाप्त होने वाली है, और हम खयाली पुलाव ही पकाते चले जा रहे हैं। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय का ध्येय अब सन् १९७५ में इस लक्ष्य तक पहुंचने

† *Inaugural Address at the All-India Council for Elementary Education*, March 10, 1958.

का है। पर हम इतने धक्के खा चुके हैं कि हमारा विश्वास किसी भी योजना पर नहीं रहा। भगवान् कम-से-कम इस योजना को तो सफल बनावें !

यह मानना ही पड़ेगा कि सरकार शिक्षा के लिए पर्याप्त अर्थ की व्यवस्था नहीं कर रही है। तिस पर भी गत दस वर्षों में हमारे देश का शिक्षा-विभागीय व्यय तिगुना हो गया है। पर यह शिक्षा-व्यय यथोचित नहीं हो रहा है। इस समय तो केन्द्रीय मन्त्रालय की हालत उस गधेवाले बूढ़े के समान है, जो कि सबको सन्तुष्ट करने की चेष्टाओं में असफल हुआ। मन्त्रालय आज इधर हाथ मार रहा है तो कल उधर। — आज 'जनता कालिज', तो कल 'संस्कृत-विश्वविद्यालय', तो परसों 'ग्रामीण उच्चतर संस्था'। हाल ही, उक्त मन्त्रालय एक नवीन योजना की परिकल्पना कर रहा है, जिसके अनुसार स्नातक होने के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को एक वर्ष ग्राम-सेवा करनी पड़ेगी। इस अनिवार्य भरती पर वार्षिक व्यय पांच करोड़ रुपये होगा, अर्थात् प्रति व्यक्ति पर एक हज़ार रुपये। न कभी बलात् कोई कार्य सफल हो सकता है, और न डण्डे की मार से समाज-सेवा का भाव ही उदित हो सकता है। यह तो 'धर-बांध सती करना' रहा। हमें पैसे की बरबादी को भी रोकना चाहिए। कभी-कभी हम अन्धा-धुन्ध अर्थ-नाश देखते हैं। फरवरी या मार्च में धड़ाधड़ नवीन योजनाओं को स्वीकृति दी जाती है; सोच-विचार किये बिना ही, अल्प काल में द्रव्य का व्यय कर दिया जाता है और यह ख्याल भी नहीं किया जाता कि पैसे का उचित उपयोग हुआ भी है या नहीं!! इस विषय में हम हार्टग समिति की अधो-लिखित चेतावनी कभी विस्मृत नहीं कर सकते :

> लोगों का ख्याल है कि शिक्षा-विस्तार केवल पैसे का सवाल है। यह ठीक नहीं है। हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सर्वदा पैसे की आवश्यकता होती है; पर इससे भी अधिक आवश्यकता एक दृढ़ एवं स्थिर संकल्प की होती है, जिसके अनुसार शिक्षा-नीति को कार्यान्वित करने का निरन्तर प्रयत्न किया जाय और उसीके अनुरूप अर्थव्यय हो। †

आज हमारे देश की सबसे अधिक आवश्यकता है जन-शिक्षा, और उसी ओर हमें अपने प्रयत्नों को केन्द्रीभूत करने की भी आवश्यकता है। एक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि भारत की ५ प्रति शत जनता, याने, दो करोड़ व्यक्तियों की मासिक आय ३:२ रुपये है, १० प्रति शत याने ३८ करोड़ जनता की आय ६·२ रुपये है तथा ५० प्रति शत अर्थात् बीस करोड़ लोगों की आमदनी १४·६ रुपये है। भारत की एक चतुर्थांश जनता को चार आने के खर्च पर दैनिक जीवन गुज़ारना पड़ता है।

† *Hartog Report*, p. 290.

हमारी शिक्षा-योजनाओं को लोगों की आर्थिक उन्नति की ओर ध्यान देना होगा। शिक्षा के द्वारा ही जनता की गरीबी दूर हो सकती है; जैसा कि श्री सैयदन ने कहा है, "उचित शिक्षा के अभाव में यह निर्धनता चिरस्थायी रहेगी।"†

आज हम ऐसे गण-तांत्रिक समाज के सृजन में संलग्न हैं जो कि न्याय, स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व पर आधारित है। पर इस भावना का अभाव हम अपनी शिक्षा-योजनाओं में अनुभव कर रहे हैं। हम देखते हैं कि अर्थाभाव के कारण, हमारे कितने ही नवयुवकों को यथोचित शिक्षा नहीं मिल पाती है। यदि पिता या अभिभावक के पास सम्पति हुई तो बच्चे को शिक्षा मिल सकी, अन्यथा योग्यता एवं पिपासा रहते हुए भी उसे सरस्वती देवी से नमस्कार कर लेना पड़ता है। हम यह अवश्य मानते हैं कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने वृत्ति-दान तथा मुफ्त शिक्षा का थोड़ा-बहुत बन्दोबस्त अवश्यमेव किया है, पर यह यथेष्ट नहीं है। इस ओर बम्बई राज्य का प्रयास सराहनीय है। गत वर्ष से इस राज्य में, उन बच्चों को निःशुल्क शिक्षा मिल रही है, जिनके अभिभावकों की वार्षिक आय नव सौ रुपये से अधिक नहीं है। शिक्षा को लोक-तन्त्रीय बनाने का इस देश में यह सर्वप्रथम प्रयास है। आशा की जाती है कि अन्य राज्य भी इस आदर्श का अनुसरण कर शिक्षा को लोक-तन्त्रीयता प्रदान करने में सहायक होंगे।

किसी भी शिक्षा-पुनर्योजना में सबसे अधिक आवश्यकता रहती है सशक्त शासकीय प्रबन्ध की। खेद के साथ कहना पड़ता है कि मौलाना अबुल कलाम आजाद के बाद 'केन्द्रीय शिक्षा तथा वैज्ञानिक शोध मन्त्रालय' दो भागों में विभक्त हुआ। मौलाना साहब की मृत्यु पर्यन्त, शिक्षा-मन्त्रालय की बागडोर एक मन्त्री-मण्डल के सदस्य के हाथ में थी। पर इस विभाजन के कारण, दो राज्य-मन्त्री दो भिन्न विभागों के लिए नियुक्त हुए। यदि काम बढ़ जाने के कारण, इन दो पृथक् मन्त्रालयों की सृष्टि हुई हो तो हमें कुछ कहना नहीं है; पर यदि इस विभाजन का कोई वैयक्तिक कारण हो, तो यह निस्सन्देह खेद का विषय है। इस नीति का प्रत्यक्ष फल होता है, कतिपय कार्यकलापों का दोहरावा, अर्थ तथा श्रम की कुछ-न-कुछ बरबादी।

शिक्षा-प्रशासन में अभी यथेष्ट अलगाव है।‡ राज्यीय शिक्षा-विभाग पर शिक्षा की अधिकतर जिम्मेवारी रहती है, और शिक्षा मन्त्रालय ही अधिकांश शिक्षा-संस्थाओं को चलाता है। पर कुछ विशेष स्कूलों तथा कालिजों को अन्य मन्त्रालय (केन्द्रीय तथा

† *Times of India*. July 18, 1959.

‡ देखिए पृष्ठ १३०।

राज्यीय) भी चलाते हैं, जैसे : कृषि, रेल, श्रम, परिवहन, स्वास्थ्य, उद्योग, सामुदायिक विकास, आदि। ये मन्त्रालय अपनी-अपनी डाफली, अपना अपना राग अलापा करते हैं तथा ये बहुत ही कम एक दूसरे के संस्पर्श में आते हैं। इनके कार्यकलापों में समन्वय स्थापित करने की विशेष आवश्यकता है।

हमारे शिक्षा-कार्यालयों की फाइलों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। किसी भी सामान्य विषय पर आदेश निकलने के लिए महीनों लग जाते हैं। इस प्रकार शिक्षा-प्रसार में लकवा लग जाता है। इस शोचनीय स्थिति के दो कारण हो सकते हैं : (१) निरर्थक पत्र-व्यवहार तथा दफ्तरी परिपाटी और (२) अफसरों की शिथिलता या अकर्मण्यता। शिक्षा-विभागों को प्रथम कारण की तहकीकात करनी चाहिए। जो प्रथाएं अनावश्यक मालूम पड़ें, उन्हें तत्काल उठा देना चाहिए। पर शिथिलता या अकर्मण्यता तो सख़्ती से ही रोकी जा सकती है। इसे दूर करने के लिए पञ्जाब सरकार ने एक विवेक-पूर्ण मार्ग निकाला है। इसके अनुसार सरकारी अफ़सरों की एक टोली किसी भी दफ्तर की एकाएक तलाशी लेती है और जाँच करती है कि अफसरगण अपना काम कहाँ तक सुचारु रूप से करते हैं। हाल ही में एक ऐसी जाँच शिक्षा-विभाग की हुई थी; और देखा गया है कि २,६०० अनिर्णीत कागजात पड़े हुए थे। एक यह दृष्टान्त ही हमारे दफ्तरों की वर्तमान स्थिति पर यथेष्ट प्रकाश डालता है।

अन्त में हम यह कहना चाहते हैं कि हमारे देश की शिक्षा-नीति शिक्षा-विदों द्वारा निर्धारित हो, न कि राजनीतिज्ञों या अधिकारी-दल-द्वारा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकारी-दल के नियमों के आधार पर अनेक राज्यीय सरकारें अपनी शिक्षा-नीति स्थिर करती है। शिक्षा एक अत्यन्त तकनीकी विषय है, जिसका प्रबन्ध सुचारु रूपेण शिक्षा-शास्त्री ही कर सकते हैं। शिक्षा को सबसे अधिक क्षति पहुँचती है 'प्रयास और भूल पद्धति' द्वारा। हम राजनीतिज्ञों से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे कृपया शिक्षा-क्षेत्र में अपना पैर पसारने की अनाधिकार चेष्टा न किया करें।

हमारी शिक्षा की दूसरी जटिल समस्या है शिक्षा का गिरता हुआ मान-दण्ड—शिक्षा-स्तर का क्रमागत ह्रास। इस विषय पर दो भिन्न मत नहीं हैं। लेकिन हमें हताश नहीं होना चाहिए। हमें समझना होगा कि शिक्षा के विस्तार के कारण, अब सभी प्रकार के विद्यार्थी विद्याध्ययन कर रहे हैं। पच्चीस या पचास वर्ष पहले ज्यादातर उच्च स्तर के छात्रगण स्कूल या कालिज में प्रविष्ट होते थे। पर अब तो समस्त शिक्षा-संस्थाएँ छात्र-समूह से खचाखच भर रही हैं। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि आजकल के श्रेष्ठतम विद्यार्थीगण, भूतपूर्व श्रेष्ठतम छात्रों से अच्छा काम कर दिखा रहे हैं।

अनेक देशों में भी शिक्षा के मान-दण्ड में अवनति दृष्टिगोचर हो रही है । आक्सफोर्ड या केम्ब्रिज सरीखे विश्वविद्यालयों का ही हाल लीजिए । वहाँ छात्र-वृत्ति या शिष्य-वृत्ति के लिए यथेष्ट योग्य छात्र नहीं मिल रहे हैं । पिछले वर्ष उपयुक्त विद्यार्थियों के अभाव के कारण, कतिपय विश्वविद्यालयीय-वृत्ति रोक रखनी पड़ी थी ।

इस सब चर्चा का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम अकर्मण्य बनकर बैठे रहें और निश्चेष्टता के नाम पर आँसू बहाया करें । हमें शिक्षा-स्तर के उन्नयन की भरपूर चेष्टा करनी चाहिए । इस सम्बन्ध में कुछ सुझावों की चर्चा पहले ही की गयी है, जैसे : शिक्षा संस्थाओं की छात्र-वृद्धि रोकना, शिक्षक-विद्यार्थी-अनुपात की उन्नति, निर्देश-परामर्श योजना, बहूद्देश्यीय पाठ्यक्रम का प्रबंध, शिक्षा-विधि की उन्नति, उपकक्षा-प्रणाली का प्रसार, विश्वविद्यालयों में चुनिन्दे विद्यार्थियों का प्रवेश, इत्यादि । हमें यह भी मानना पड़ेगा कि शिक्षा-संस्थाओं की वृद्धि के कारण, अब सभी प्रकार के व्यक्ति शिक्षक या प्राध्यापक नियुक्त हो रहे हैं । इस कारण भी अध्यापन-स्तर आज वैसा नहीं है, जैसा दस वर्ष पूर्व था । विद्यार्थीगण भी आजकल अधिक चंचल प्रकृति के हो रहे हैं । अधिकांश छात्र मन लगाकर विद्याध्ययन करते ही नहीं हैं । अतएव कोई आश्चर्य नहीं है कि शिक्षा-स्तर लगातार गिरता ही जा रहा है ।

परन्तु भारतीय शिक्षा की सबसे दुःखप्रद एवं चिन्तनीय समस्या है "विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता" होना । यह विपत्ति द्रौपदी की साड़ी की भाँति दिन-पर-दिन बढ़ती ही चली जा रही है और इसके कारण सारे देश-वासी गहरी साँसें भर रहे हैं । इस शोचनीय स्थिति पर बड़ी-बड़ी किताबें लिखी जा सकती हैं । तथापि इसके प्रमुख कारणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है । वे कारण ये हैं : (१) स्कूल तथा कालिज के प्रशासन में शिथिलता, (२) सुयोग्य या उपयुक्त अध्यापकों का अभाव, (३) शिक्षा-संस्थाओं में अत्यन्त छात्र-वृद्धि, (४) क्लास की पढ़ाई के सिवा, विद्यार्थियों में, स्वास्थ्य-रक्षा, शारीरिक शिक्षा तथा अन्य कार्यों का अभाव, (५) विद्यार्थी-संघों की अव्यवस्था, (६) शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का अभाव, (७) अर्थ-समस्याएँ, (८) निर्देश तथा परामर्श-शून्यता, (९) यथोचित पारिवारिक प्रभाव का अभाव, (१०) दूषित शिक्षा-प्रणाली, (११) राजनीतिज्ञों का शिक्षा पर हस्तक्षेप, (१२) आधुनिक विश्व-व्यापी अस्थिरता का विद्यार्थियों पर प्रभाव, (१३) भविष्य के विषय में बेचैनी एवं (१४) मानव-जीवन में आदर्श की अवनति ।

प्रथम दस कारणों का उल्लेख इस पुस्तक के पूर्वाध्यायों में हो चुका है हम यहाँ पर केवल अन्तिम चार कारणों की चर्चा करेंगे । हमें मानना ही पड़ेगा कि हमारे

देश की वर्तमान राजनैतिक स्थिति कुछ-कुछ विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता के लिए जिम्मेवार है। हमारे नेताओं ने अंग्रेजों के विरूद्ध आन्दोलन चलाने के लिए विद्यार्थियों का उपयोग किया, और असहयोग तथा सत्याग्रह के आन्दोलनों में विद्यार्थियों ने अच्छा हाथ बटाया। नवयुवकों के ओज के कारण, अंग्रेजो के उत्पीड़न, अत्याचार आदि का वेग उनके आवेशमय ज्वार में तिनके की भाँति बह गया। फल-स्वरूप वे आज उन्हीं अस्त्रों का उपयोग करते हैं, जिसके कारण, अंग्रेजों को यह देश छोड़ना पड़ा। बात ही बात में स्ट्राईक का तांता लगा ही रहता है, स्कूल-कालिजों पर धावा बोल दिया जाता है, असबाब इत्यादि तोड़-फोड़ डाले जाते हैं। इस तरह कभी कभी राजनैतिक दलों की भाँति विद्यार्थी-संघों की सृष्टि होती है। सबसे आपत्तिजनक बात यह है, जब कि बालकों का उपयोग चुनाव के लिए किया जाता है। उत्तर भारत के कुछ नगरों के चुनाव का एक दृष्टान्त नीचे दिया जाता है:

> चुनावों के कई दिन पहले से ही छोटे-छोटे बच्चों (जिनकी अवस्था सात-आठ वर्ष से लेकर चौदह-पन्द्रह वर्ष की थी) की टोलियाँ गलियों में तरह-तरह के नारे लगाती हुई घूमती थीं। ये नारे बड़े विचित्र थे। उदाहरण के लिये – एक लड़का कहता—"कौन जीतेगा?" इसके उत्तर में पूरी टोली समवेत स्वर में कहती—"अमुक जीतेगा।" किन्तु ऐसे भी नारे थे; और दुर्भाग्य से वे ही अधिक थे, जो आपत्ति-जनक थे, जैसे:
>
> गलीगली में शोर है—क्षत्रज्ञ चोर है।
> गली-गली में जोर है—क्षत्रज्ञ डाकू है।
> क्षत्रज्ञ गुंडे की यही पहचान—
> हाथ में लकड़ी, मुँह में पान॥ †

क्षत्रज्ञ के स्थान पर विरोधी उम्मेदवार का नाम लिया जाता था। इन बालकों की टोलियों ने बड़े-बड़े नेताओं, प्रोफेसरों, जन-सेवकों आदि को गली-गली उच्च स्वर से चोर और डाकू घोषित करके जनता को सचेत करने का उद्योग किया।—बालकों को आचरण, शिष्टता और नैतिकता से भ्रष्ट करना राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त आपत्तिजनक है। सभी दल के नेताओं को ठण्डे दिल से विचार करना चाहिए कि छोटे बच्चों का इस प्रकार उपयोग करना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है! व्यावहारिक राजनीति में विद्यार्थियों का उपयोग करना स्वभावतः अनुपयुक्त है, तिस पर छोटे-छोटे बच्चों को इस प्रकार गाली-गलौज सिखाना हमें कहाँ ले जायगा?

---

† **सरस्वती**, अप्रैल, १९५७, पृष्ठ २३३।

अपनी सन् १९५७-५८ की रिपोर्ट में विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने स्वीकार किया है कि विद्यार्थियों में अनुशासन-हीनता का मुख्य कारण है सामाजिक जीवन में अनुशासन का अभाव एवं बाहरी कारणों का प्रभाव। इसे रोकने के मुख्य तीन उपाय हैं। प्रथमतः, कायदे-कानूनों के द्वारा बच्चों एवं विद्यार्थियों का उपयोग चुनाव या किसी भी राजनैतिक प्रचार के लिए बन्द कर दिया जावे। इसके साथ हमारे नेतागण यह घोषणा करें कि वे विद्यार्थियों का उपयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं करेंगे। हमारे देश में पुरातन काल से धर्म-युद्ध का ही महत्व था। क्या चुनाव जीतने के लिए यह आवश्यक है कि हम बालकों की एक पूरी पीढ़ी की नैतिकता और शिष्टता का बलिदान कर दें? द्वितीयतः, शिक्षा-संस्थानों को भी सतर्क रहना चाहिए कि संस्था में विद्यार्थी-संघ क्षेत्रीय या राजनैतिक आधार पर संगठित न होवें। विद्यार्थियों का वास्तविक लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना है। उनका यह उद्देश्य तभी सिद्ध होगा जब वे दत्त-चित्त होकर विद्या-प्राप्ति में ही संलग्न रहें। राजनीति के कार्यों में भाग लेने से, जीवन में संघर्ष, क्रान्ति और विप्लवों के बीजों का अंकुरण होता है, जिससे उनकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है और शिक्षा के कार्यों में एक प्रकार का आन्दोलन मचता है। तृतीयतः, छात्रों को अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करना सिखाया जाय। विद्यार्थी कल्याण-कार्यों के प्रसार की सख़्त ज़रूरत है।

वस्तुतः छात्रों की अनुशासन-हीनता की चर्चा जितने बड़े पैमाने पर हम सुना या पढ़ा करते हैं, उतने पैमाने पर वह होती नहीं है। यह तो पत्रकारिता का प्रसाद है कि एक छोटी-सी घटना को मिर्च-मसाला लगाकर विस्तृतरूप दे दिया जाता है। हमें यह भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि विद्यार्थियों की यह अनुशासन-हीनता केवल हमारे देश की ही बीमारी नहीं है, वरन् यह एक विश्व-व्यापी व्याधि है। दो विश्व-युद्धों के कारण, संसार के अनेक देशों का नैतिक पतन हुआ है, जैसा कि श्री हुमायूँ कबीर कहते हैं:

> इन युद्धों के समय में, पृथ्वी से 'सत्य' का सबसे पहले लोप हुआ। लड़ाइयों के फल-स्वरूप एक ऐसे व्यक्तिवर्ग का उदय हुआ, जिसने असत् उपायों के द्वारा धन जोड़ा था।... नैतिक पतन, काला-बाजार, उत्कोच, रिश्वत या घूसख़ोरी का प्रभाव युवक-समुदाय पर पड़े बिना न रहा।†

अनुशासन-हीनता का एक और कारण है, और वह है भविष्य जीवन की अन्धकारिता। विद्यार्थियों का हृदय दहल उठता है, जब वे सोचते हैं कि विद्यार्थी जीवन

† Humayun Kabir. *Student Indiscipline.* Delhi, Publications Division, 1955. p. 6.

की समाप्ति के बाद क्या होगा ! बेकारी की समस्या को सोचकर उनका हृदय भयाकुल हो जाता है। आज जो पढ़े-लिखे लोग वेकार हो रहे हैं, और उनकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है; वह कितनी चिन्ताजनक है !! आज से अस्सी वर्ष पूर्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक व्यंग्य लिखा था :

> तीन बुलावे, तेरह धावे;
> निज-निज विपदा रोइ सुनावे।
> आँखें फूटी, भरा न पेट;
> क्यों सखि साजन ? नहिं 'ग्रेजुएट' !!

हमारे देश में प्राविधिक शिक्षा का विस्तार हो रहा है। पर कभी-कभी प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या हम आवश्यकता से अधिक प्राविधिज्ञों की संख्या तो नहीं बढ़ा रहे हैं ? साधारण शिक्षित की बेकारी की अपेक्षा उच्च एवं महँगी शिक्षा पाये हुए प्राविधिक व्यक्तियों की बेकारी से अधिक जटिल समस्याएँ, असन्तोष और कुण्ठा उत्पन्न होती है।

काउन्सिल ऑफ् इंडस्ट्रियल और साइंटिफिक रिसर्च की उपलब्ध जानकारी के अनुसार जनवरी, १९५७ में १,३४८ उच्च शिक्षा-प्राप्त वैज्ञानिक और प्राविधिक वेकार बैठे हुए थे। ये आँकड़े सम्पूर्ण न थे। अभी जब हमारी वैज्ञानिक एवं प्राविधिक शिक्षा योजनाएँ पूरी तरह से चालू नहीं हो पायी हैं और उनसे अपेक्षित संख्या में स्नातक नहीं निकल रहे हैं तब उनकी वेकारी की यह स्थिति है !! तो यह स्थिति उस समय किस रूप में होगी जब देश और विदेश में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा प्राप्त कर देश में स्नातकों का मेला लगेगा ? निश्चय ही यह एक जटिल समस्या है, जिसके हल न होने से देश की आर्थिक क्षति तो होवेगी ही, साथ ही हम उच्च शिक्षित और योग्य व्यक्तियों की बेकारी से उत्पन्न खतरों का सामना करने को भी बाध्य हो जावेंगे। जब देश में नियोजन का बोलबाला है, तब अवश्य ही यह आशा की जा सकती है कि देश के कर्णधार अभी से इस खतरे को रोकने का प्रयत्न करेंगे।

पर सबसे भीषण समस्या है दैनिक जीवन में आदर्शों की अवनति की। हम जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहाँ ही आदर्श का पतन देखते हैं। घूस-रिश्वत का प्रचार बढ़ रहा है, कर्तव्य-निष्ठा उठी जा रही है, आत्मीयों या रिश्तेदारों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिलती हैं, कार्य-दक्षता या ठोस योग्यता की ओर कोई ध्यान नहीं है। ऊपरी दिखावा ही उन्नति का मूल माना जाता है, न कि वास्तविक कार्य। जवाबदार लोग नवयुवकों को

उपदेश देते हैं — बड़े-बड़े उपदेश — सत्य बोलो, मेहनत करो, काम से जी न चुराओ, आदि। पर जब वह नवयुवक उसी पूज्य उपदेशक को असत्यवादी, उच्छृंखल और काम-चोर पाता है तब वह घबरा उठता है, उसका मन सत्य से डिग जाता है और वह आत्म-विश्वास खो बैठता है। हमारे नवयुवकों के सामने केवल आदर्श की आवश्यकता नहीं है, बरन् आदर्श पुरुष, आदर्श जीवन और आदर्श समाज की आवश्यकता है। पर आजकल तो भारत का दिनों दिन नैतिक पतन होता जा रहा है!

आज हम पंच-वर्षीय योजनाएँ चला रहे हैं। हम फेक्टरी तथा वैज्ञानिक शोध-संस्थाएँ खोल रहे हैं, कल-कारखानों की उन्नति करना चाहते हैं, नदियों पर बाँध बांध रहे हैं, कृषि की उन्नति चाहते हैं, सहकारिता की योजनाएं चला रहे हैं। इन सब कार्य-कलापों का उद्देश्य है देश की समृद्धि, लोगों की आर्थिक उन्नति तथा देश से गरीबी और बेकारी का निष्कासन। पर किसी भी देश की उन्नति उसकी धन-राशि के द्वारा मापी नहीं जा सकती है। देश की उन्नति जनता की वैयक्तिक उन्नति पर निर्भर है। जनतन्त्र भारत में हमें प्रत्येक व्यक्ति के विकास की ओर ध्यान देना पड़ेगा। कारण, जन-तन्त्र जनों द्वारा ही संगठित होता है। इस कारण, स्वाधीन भारत की उन्नति के लिए हमें ऐसे नर-नारी चाहिए, जिनका हृदय देश-प्रेम से भरा हो, एवं जो कर्तव्य-निष्ठ तथा चरित्रवान् हों। कहा ही है :

बने कर्मठ, दृढ़ व्रती, पवित्र —
कर सके भारत का अभ्युदय;
लक्ष्य हो जिसका विमल चरित्र
मिले हम सबको ऐसा हृदय!!

परिशिष्ट एक

शिक्षा संस्थाएँ एवं छात्र-संख्या

भारत (१९५६-५७)

संस्था		संस्था-संख्या	छात्र-संख्या
विश्वविद्यालय	...	३३	
माध्यमिक एवं इण्डरमीडिएट शिक्षा-मण्डल		१२	
अनुसन्धान-संस्थाएँ	...	४१	
कला एवं विज्ञान कालिज	...	८४९	६,२७,७३४
व्यावसायिक एवं प्राविधिक शिक्षा-सम्बन्धी कालिज			
कृषि	...	२५	७,०५१
वाणिज्य	..	२८	६१,३६३
शिक्षक-प्रशिक्षण	...	१३३	१५,१६६
इंजीनियरिंग	...	४७	१९,२०४
वन-विद्या	...	३	४२७
कानून	...	२९	२०,८१७
मेडिकल	...	९९	२७,२८९
शारीरिक शिक्षा	...	१०	४७८
टेकनौलॉजी	...	७	२,७०१
पशु-विद्या	...	१४	४,६५९
अन्य क्षेत्र	...	४	८७८
विशेष शिक्षा-सम्बन्धी कालिज			
संगीत, नृत्य, एवं अन्य ललित कलाएँ		२७	३,७३८
प्राच्य विद्या	..	७९	५५३
समाज-शास्त्र	...	६	४७६
अन्य क्षेत्र	....	१०	३,१८२

संस्था		संस्था संख्या	छात्र-संख्या
साधारण शिक्षा के स्कूल			
उच्च/उच्चतर एवं उत्तर-बुनियादी	....	११,८१५	२२,५४,९१२
मिडिल	...	२४,४८६	५१,५८,६८५
प्राथमिक	...	२,८७,२९८	२,५९,६४,८०८.
पूर्व-प्राथमिक	....	७६९	९९,३१३
व्यावसायिक एवं तकनीकी स्कूल			
कृषि	....	९४	६,२४४
कला एवं क्राफ्ट	...	३०४	१४,७४५
वाणिज्य	...	८२९	८०,५९१
इजीनियरिंग	...	६८	२९,०२६
वन-विद्या	...	४	१३४
उद्योग	...	५३३.	३६,८२०
मेडिकल	...	१०९	७,५६१
शारीरिक शिक्षा	...	३६	३,५०५
शिक्षक प्रशिक्षण	...	९१६	९५,४७४
टेकनौलॉजी	...	१११	१७,४६६
पशु-विद्या	...	७	१,०६६
अन्य विषय	...	११	१,७५५
विशेष शिक्षा-सम्बन्धी स्कूल			
मजबूरों के लिए	...	९८	५,०२८
समाज कार्यकर्ताओं के लिए	...	४४	४,०१०
संगीत, नृत्य एवं अन्य ललित कलाएँ		१८४	१५,६९३
प्राच्य-विद्या	...	३,३२२	१,२९,३५६
बाल-अपराधियों के स्कूल	...	३७	७,२७३
समाज (प्रौढ़) शिक्षा	...	४४,०५८	१२,०४,९८५
अन्य विषय	...	१,३२७	६८,८७८
	कुल योग...	२,७७,८३०	३,६०,०५,६२७

परिशिष्ट दो

भारत के विश्वविद्यालय, १९५८

क्रम	नाम एवं स्थापित होने का वर्ष	कार्य	कालिज संख्या	छात्र-संख्या
१	आगरा विश्वविद्यालय, आगरा (१९२७)	शैक्षणिक एवं संबद्धीय	६०	३७,३१५
२	अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (१९२०)	सावास एवं शैक्षणिक	२	४,३७०
३	अलाहाबाद विश्वविद्यालय, अलाहाबाद, (१८८७)	सावास एवं शैक्षणिक	४	८,१६९
४	आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर (१९२६)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	४९	२९,८४०
५	अन्नामलय विश्वविद्यालय, अन्नामलयनगर (१९२९)	सावास एवं शैक्षणिक	—	२,७६५
६	बनारस विश्वविद्यालय. वाराणसी (१९१६)	सावास एवं शैक्षणिक	२१	१०,२१०
७	बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा (१९४९)	सावास एवं शैक्षणिक	३	४,८५१
८	बिहार विश्वविद्यालय, पटना (१९५२)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	७६	४८,०३१
९	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई (१८५७)	संघात्मक एवं शैक्षणिक	४२	३९,४५६
१०	कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता (१८५७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	१४८	१,१३,७५१
११	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली (१९२२)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२२	१३,०२८
१२	गौहाटी विश्वविद्यालय, गौहाटी (१९४८)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२६	१५,५८१

क्रम	नाम एवं स्थापित होने का वर्ष	कार्य	कालिज संख्या	छात्र-संख्या
१३	गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर १९५७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	१२	—
१४	गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद (१९५०)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	४५	२१,५७६
१५	जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर (१९५७)	संबद्धीय एवं संघात्मक	१७	—
१६	जादवपुर विश्वविद्यालय, जादवपुर (१९५४)	सावास एवं शैक्षणिक	२	१,२१८
१७	जम्मु एवं काश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर १९४८)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२५	६,०९९
१८	कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ (१९४९)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२५	८,२२०
१९	केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम (१९३७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	६६	३०,७७७
२०	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (१९५७)	सावास एवं शैक्षणिक	—	—
२१	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (१९२१)	सावास एवं शैक्षणिक	१३	१०,८११
२२	मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास (१८५७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	१०५	६०,२८९
२३	मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरँगाबाद (१९५८)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	—	—
२४	मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर (१९१६)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	५३	२६,२२०
२५	नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (१९२३)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२८	१३,४७८

क्रम	नाम एवं स्थापित होने का वर्ष	कार्य	कालिज संख्या	छात्र-संख्या
२६	ओस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद (१९१८)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	३४	१७,५१४
२७	पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (१९४७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	११६	५१,११५
२८	पटना विश्वविद्यालय, पटना (१९१७)	सावास एवं शैक्षणिक	१०	९,४७७
२९	पूना विश्वविद्यालय, पूना (१९४९)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	३९	१९,८४६
३०	राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (१९४७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	४१	१७,७२४
३१	रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की (१९४८)	सावास एवं शैक्षणिक	—	६७३
३२	सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, वल्लभविद्यानगर, आनन्द (१९५५)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	४	२,६३७
३३	सागर विश्वविद्यालय, सागर (१९४६)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२३	९,४५८
३४	एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, बम्बई (१९५१)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	६	१,९९४
३५	श्री व्यंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (१९४८)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	१७	१०,००२
३६	उत्कल विश्वविद्यालय, कटक (१९४३)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२१	७,१३०
३७	विश्व-भारती विश्वविद्यालय, शान्ति-निकेतन (१९५१)	सावास एवं शैक्षणिक	६	६५९
३८	विक्रम-विश्वविद्यालय, उज्जैन (१९५७)	संबद्धीय एवं शैक्षणिक	२६	—

* —अंक प्राप्त नहीं हुए।

परिशिष्ट तीन

परिभाषिक शब्दावली

A

Ability–योग्यता
Aboriginal–आदिवासी
Academic–शास्त्रीय
Accommodation–वास-स्थान
Account–हिसाब, लेखा
Achievement–निष्पत्ति
Act–कानून
Activity –क्रियाशीलता
—— Method–क्रियात्मक प्रणाली
Administrator–प्रशासक
Adolescent–किशोर
Adviser–परामर्शदाता
Affiliating–सम्बद्धीय
Agenda–कार्यसूची
Aid–अनुदान
Aided–सहायता-प्राप्त
All-India Council for Elementary Education -अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद्
All-India Council for Secondary Education–अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद
All-India Council for Technical Education–अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद्
Astronomy-ज्योतिष
Audio-visual aids–श्रव्य-दृश्य उपकरण
Autonomy–स्वायत्तता
ACC–सहायक सैन्य शिक्षार्थी दल

B

Basic Education–बुनियादी शिक्षा
Bill–विधेयक
Biology-जीव विज्ञान
Board–मण्डल
Body–निकाय
Book-binding–जिल्दसाजी
Borstal school–किशोर–बन्दी स्कूल
Botany-वनस्पति-शास्त्र
Budget–आय-व्ययक
Bureau–कार्यालय

C

Cabinet–मंत्रि-मण्डल
Camp–शिविर
Card-board work–दफ्तरीगिरी
Carpentry–बढ़ईगिरी
Census–जनगणना
Central Advisory Board of Education–केन्द्रीय सलाहकारी शिक्षा-मण्डल
Centralisation–केन्द्रीकरण
Certificate–प्रमाण-पत्र
Cess–उपकर

Chancellor—कुलपति
Charter—अधिकार-पत्र
Chemistry—रसायन-शास्त्र
Citizenship—नागरिकता
Classification—वर्गीकरण
Clinic—उपचार गृह
Co-curricular—पाठ्य-विषयान्तर
College— कालिज, महाविद्यालय
Commerce—वाणिज्य
Commission—आयोग
Committee—समिति
Compact—ठोस, सघन
Cumulative Record Card—उन्नति-विषयक लेखा
Concurrenct—समवर्ती-सूची
Co-education—सह-शिक्षा
Continuation Education सातत्य शिक्षा
Constitution—संविधान
Co-ordination—समन्वय, एकसूत्री-करण
Correlation—समवाय, समन्वय
Council—परिषद
Curricular—पाठ्यक्रमागन्त, पाठ्य-विषयक

D

Data Sheet—विवरण-सूची
Democracy—जन-तन्त्र
Despatch—घोषणा-पत्र
Didactic Apparatus—पाठन युक्ति यन्त्र
Direct—प्रत्यक्ष
Director of Education—शिक्षा संचालक
Discipline—अनुशासन
Drawing—चित्र-कला
Dyiug—रंगरेजी

E

Education—शिक्षा
Education Department—शिक्षा विभाग
Educationist—शिक्षाविद, शिक्षा विज्ञ
Efficiency—कार्यकुशलता
Embroidery—कशीदे का काम
Engineer—इंजीनियर
English—अँग्रेजी
Entertainment—आमोद-प्रमोद, मनोरंजन कार्य
Examination—परीक्षा
Examination (External) —बाह्य-परीक्षा
———— (Internal)—आन्तरिक परीक्षा
———— (Periodical) —सावधिक-परीक्षा
Ex-officio—पदेन
Experiment—प्रयोग
Experimental Method—प्रयोगात्मक पद्धति
Extension—प्रसारण
Extracurricular Activity—पाठनेतर कार्य

F

Family Planning–परिवार नियोजन
Federal–संघात्मक
Fee–शुल्क
Finance–वित्त
Fund निधि
Furniture–असबाब

G

Gardening–बागवानी
General Education–सामान्य शिक्षा
Geology–भूगर्भ विज्ञान
Geometry–रेखा-गणित
Gift–उपहार
Graduate-स्नातक
Grant-in-aid–आर्थिक अनुदान
Guidance–निर्देश
———— Bureau-निर्देश-केन्द्र

H

Handicapped–मजबूर
Handicraft–दस्तकारी
Hostel–छात्रावास
Humanities–मानवीय विषय

I

Idiot–जड़
Indirect–परोक्ष, अप्रत्यक्ष
Individual-वैयक्तिक, व्यक्तिगत
Industry–उद्योग
Infancy–शैशव
pection–निरीक्षण
Inspector–निरीक्षक, इन्सपेक्टर
Inservice Education–मध्य-अध्यापन शिक्षा
Institution–संस्था
Integration–एकीकरण
Intelligence–बुद्धि
Intelligence Quotient–बोध लब्धि
———— Test–बुद्धि परीक्षा माप
International–अन्तर्राष्ट्रीय

J

Juvenile–बाल अपराधी
———— Court–बालापराधी न्यायालय

L

Laboratory–प्रयोगशाला
Labourer–श्रमिक
Leather-work–चर्मकार्य
Life-long–आजीवन

M

Maladjusted–असामञ्जस्य
Management–प्रबन्ध
Manual–शारीरिक
Mechanistic–यान्त्रिक
Medium–माध्यम
Meeting–बैठक, अधिवेशन
Mental Testing–बुद्धि परीक्षण
Military Training–सैनिक प्रशिक्षण
Ministry–मन्त्रालय
Minute–लेख-पत्र

Monitorial System—छात्राध्यापक प्रणाली
Moron—मूर्ख
Mother-tongue—मातृ-भाषा
Multipurpose—बहूद्देश्यीय
Municipality—नगरपालिका
Ministry of Education—शिक्षा मन्त्रालय
Ministry of Scientific Research and Cultural Affairs—वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मन्त्रालय

N

NCC—राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थीदल
National Council of Rural Edn.—राष्ट्रीय ग्रामीण उच्चतर शिक्षा परिषद
National Council for Women's Edn.—राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा परिषद्
Needle-work—सूचि-कार्य
Nurse—धात्री

O

Objective Test—वस्तुगत परीक्षा
Observation—अवलोकन
Occupation—धन्धा, रोजगार
Optional—वैकल्पिक
Oral—मौखिक
Overseer—कार्य-निरीक्षक

P

Physically Handicapped—विकलाङ्ग
Physiology—शरीर विज्ञान
Planning—योजना
Post-graduate—उत्तर-स्नातक
Post-war-युद्धोत्तर
Poultry—कुक्कुट-पालन
Practice Teaching-अध्यापन अभ्यास
Preparatory—प्रारंभिक
Pre-service Education—पूर्व-अध्यापन शिक्षा
President—अध्यक्ष
Principal—आचार्य
Private—निजी, स्वसंचालित
Productive-उत्पादनशील
Psychology—मनोविज्ञान

Q

Qualification—योग्यता
Qualitative—गुणात्मक
Quantitative—संख्यात्मक
Quarterly—त्रैमासिक
Quinquennial—पंच-वर्षीय

R

Rambling—परिभ्रमण
Recognition—मान्यता, प्रस्वीकृति
Reconstruction—पुनर्रचना
Re-education—पुनः शिक्षा
Reformatory—सुधार विद्यालय
Refresher—पुनर्संजीवन
Report—प्रतिवेदन
Repression—दमन
Research—शोध, गवेषणा, अनुसन्धान

Resolution–प्रस्ताव
Rural–ग्राम्य

S

Salary–वेतन
Scholarship–वृत्ति
Secretary–सचिव
Self activity–आत्मक्रियाशीलता
—— Government–स्वायत्त शासन
——Supporting-स्वावलम्बी, स्वाश्रयी
Seminar-गोष्ठी
Sense training–ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा
Social Efficiency–सामाजिक कुशलता
Socialization–समाजीकरण
Specialization–विशिष्टीकरण
Specialist–विशेषज्ञ
Spinning–कताई
Spiritual–आध्यात्मिक
Stagnation–अवरोधन
Standard–स्तर, मान
Stage–प्रक्रम
State–राज्य
Statistics–सांख्यिकी
Survey–सर्वेक्षण

T

Table–तालिका
Technical Education–तकनीकी या प्राविधिक शिक्षा
Text-book–पाठ्य-पुस्तक
Theoretical–सैद्धान्तिक
Thesis–महा निबन्ध
Time-table–समय-सारिणी
Training–प्रशिक्षण
Trial-and-error Method प्रयास-और-त्रुटि-प्रणाली
Tribunal–न्याय-सभा

U

Unaided–स्वाश्रित
Undergraduate–उप-स्नातक
Union–संघ
Unit–अन्विति
UNESCO–विज्ञान एवं संस्कृति संगठन
UNO–संयुक्त राष्ट्र संघ
Uniformity–एकरूपता
Universal–सार्वलौकिक
UGC–विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

V

Value–मान्यता, मूल्य
Virtue–गुण
Vocational–व्यावसायिक

W

Wastage–व्यर्थता
Weaving–बुनाई
Work–कार्य
——— load–कार्यबोझ
——— shop–कर्मशाला

Y

Youth–युवक
——— welfare–युवक-कल्याण

ग्रन्थ-सूची

पहला अध्याय : भारतीय शिक्षा की रूपरेखा

Apte, D. G. *Universities in Ancient India.* Baroda, Faculty of Education and Psychology, n. d. pp. 56.

Basu, A. N. *Education in Modern India.* Calcutta, Orient Book Co., 1947. pp. 184

Bhagwan Dayal. *Development of Modern Indian Education.* Bombay, Orient Longmans, 1955. pp. 558.

Government of India. *India, 1959.* Delhi, Ministry of Information & Broadcasting, 1959. pp. 263.

James, H. R. *Education and Statesmanship in India.* Bombay, Longmans, 1917. pp. 143.

Mayhew, A. *The Education of India.* London, Faber & Gwyer, 1928 pp. 306.

Mookerji, R. K. *Ancient Indian Education.* Bombay, Macmillan, 1947. pp. 658.

Mukerji, S. N. *History of Education in India (Modern Period).* Baroda, Acharya Book Depot, 1957. pp. 341.

Nurullah S., and Naik J. P. *A History of Education in India.* Bombay, Macmillan, 1951. pp. 953.

प्रसाद, मुनेश्वर : भारतीय शिक्षा का इतिहास, प्रथम भाग. पटना, अजन्ता प्रेस, १९५५, पृष्ठ २८८ ।

दूसरा अध्याय : शिक्षा-व्यवस्था

भारत सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीझन-द्वारा प्रकाशित निम्नलिखित प्रतिवेदन :

Annual Reviews on Education: *Education in India,* 1947-48; 1948-49: 1949-50; 1950-51; 1951-52; 1952-53; 1953-54; 1954-55; 1955-56.

भारत, १९५९, पृष्ठ ३८९ ।

Education—A Graphic Representation in India. 1957. Ch. VI.

Progress of Education in India, 1947-52. 1953. pp. 279.

Mukerji, S. N. *An Introduction to Indian Education.* Baroda, Acharya Book Depot. 1958. Ch. II.

——. *Secondary School Administration.* Baroda, Acharya Book Depot, 1959. Ch. III.

The Indian Iustitute of Public Administration. *The Organisation of Government of India.* Bombay, Asia Publishing House, 1958. Ch. XVI.

तीसरा अध्याय : बुनियादी शिक्षा

अन्सारी, सैयद एवं शर्मा, सोहनलाल : बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त. दिल्ली, अत्तरचन्द्र कपूर एण्ड सन्स, १९५८. पृष्ठ १६० ।

Aryanayakam, E. W. *The Story of Twelve Years.* Sevagram, Hindustani Talimi Sangh. n. d. pp. 16

Avinashlingam, T. S. *Understanding Basic Education.* Delhi, Manager of Publications, 1954. pp. 61.

Government of India. *Handbook of Teachers for Basic Schools.* 1956. pp. 325.

Hindustani Talimi Sangh, Sevagram. *Basic National Education.* n. d. pp. 96.

——. *Educational Recontruction.* 1950. pp. 183.

——. *One Step Forward.* 1940. pp. 292.

समग्र नई तालीम. १९४६. पृष्ठ २२५.

कश्यप, सन्तोषराज एवं गुप्त, अमृतलाल : नई तालीम के सिद्धान्त एवं शिक्षाविधि. पंजाब, किताबघर, १९५७. पृष्ठ २८६ ।

Kripalani, J. B. *The Latest Fad.* Sevagram, Hindustani Talimi Sangh, 1938. pp. 102.

Patel, M. S. *Educational Philosophy of Gandhiji.* Ahmedabad, Navjivan Press, 1953. pp. 238.

Shrimali, K. L. *The Wardha Scheme.* Udaipur, Vidya Bhawan, 1949. pp. 303.

Solanki, A. B. *Technique of Correlation in Basic Education.* Baroda, Faculty of Education & Psychology, 1956. pp. 43.

Varkey, C. J. *Wardha Scheme of Education.* Bombay, O.U.P. 1940. pp. 176.

चौथा अध्याय : प्राथमिक शिक्षा

Basu, A. N. *Primary Education in India.* Calcutta, Indian Associated Publishing Co. 1946. pp 64.

भटनागर, रामप्रसाद. भारतीय शिक्षा का आधुनिक इतिहास मुरादाबाद, कालिज स्टोर्स, १९५९. पृष्ठ २४० ।

Desai, D. M. *Universal Compulsory and Free Primary Education in India.* Bombay, Indian Institute of Education, 1953. pp. 392.

Desai, Dinker. *Primary Education in India.* Bombay, Servants of India Society, 1948 pp. 128.

दुबे लक्ष्मीकान्त एवं सूर रमणीकान्त. भारतीय शिक्षा का इतिहास, अलाहाबाद, किताबघर, १९५७, पृष्ठ ५९८ ।

Estimates Committee. *Elementary Education.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. pp. 89.

Ministry of Education. *Report of the First Meeting of the All-India Council for Elementary Education.* Delhi, Manager of Publications, 1958. pp. 121.

Parulekar, R. V. *Literacy in India.* Bombay, Macmillan, 1939. pp. 181.

Saiyadain, K. G., Naik, J. P., and Husain S. Abid. *Compulsory Education in India.* Paris, UNESCO, 1952. pp. 191.

Sen, J. M. *History of Elementary Education in Indin.* Calcutta, Book Co., 1943. pp. 313.

सिंह, बँशीधर एवं शास्त्री, भूदेव. भारतीय शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास. आगरा, गयाप्रसाद एण्ड सन्स, १९५७. पृष्ठ २२९ ।

पाँचवा अध्याय : माध्यमिक शिक्षा

A Report on Secondary Education Extension Course. Madras, South India Teacher, Nos. 7 & 8. 1954.

Estimates Committee. *Secondary Education.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. pp. 90.

Government of India. *Head Masters on Secondary Education.* Delhi, Publications Division, 1954. pp. 40.

——. *Report of the Secondary Education Commission.* Delhi, Publications Division, 1953. pp. 319

Hampton, H. V. "Seconday Education", *The Educational System.* Bombay, O.U.P. n. d. pp 64.

Mukerji, S. N., ed. *Secondary Education in Other Lands.* Baroda. Faculty of Education and Psychology. 1956. pp. 65.

Report of a Study by an International Team. *Teachers and Curricula in Secondary Schools.* Delhi, Ford Foundation. 1954. pp. 142.

"Report on Baroda Workshop," *Journal of Education & Psychology.* April, 1955.

सिंह, राघवप्रसाद : भारतवर्ष तथा उत्तरप्रदेश में प्रजातन्त्रिक उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की ऐतिहासिक भूमिका. लखनऊ, हिन्दी साहित्य भंडार, १९५९. पृष्ठ २०८।

Siqueira T. N. "The Aim of Secondary Education", *South India Teacher.* November, 1954.

छठा अध्याय : विश्वविद्यालयीय शिक्षा

Basu, A. N. *University Education in India.* Calcutta, Book Emporium. 1944. pp. 166.

Dongerkery, S. R. *Thoughts on University Education.* Bombay, Popular Book Depot, 1955. pp. 170.

——. *Universities and National Life.* Bombay, Hind Kitabs. 1950, pp. 115.

—————————. *Universities and Their Problems.* Bombay, Hind Kitabs, 1948. pp. 191.

Education Committee. *Report of the Three-year Degree Corurse.* Delhi, Ministry of Education, 1958. pp. 23.

Estimates Committee. *University and Rural Higher Education.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. p. 112.

Ghosh, J. *Higher Education in Bengal.* Calcutta, Book Company, 1929. pp. 242.

Government of India. *Directory of Institutions of Higher Education.* 1958. Delhi, Manager of Publications, 1958. pp. 245.

——. *Indian University Administration.* Delhi, Manager of Publications, 1958. pp. 149.

——. *Rural Institutes.* Delhi, Manager of Publications, 1955. pp. 77.

——. *The Report of the University Education Commission.* Vol. I. Delhi, Manager of Publications. 1949. pp. 747.

Iyenger, K. R. S. *A New Deal for Our Universities.* Calcutta. Orient Longmans, 1951. pp. 134.

झिंगरन, वशँगोपाल एवं शर्मा, वेद्राम : हमारे शिक्षा प्रतिवेदन. अलीगढ़, विश्व-प्रकाशन, १९५९. पृष्ठ ५५८.

Mukerji, S. N. *Higher Education and Rural India.* Baroda, Acharya Book Depot, 1956. pp. 342.

Sheshadri, P. *The Universites of India.* Bombay, Oxford University Press, pp. 58.

सातवाँ अध्याय : स्त्री-शिक्षा

All-India Women's Conference. *Education of Women in Modern India.* Aundh Publishing Trust, 1946. pp. 87.

Baig, Tara Ali, ed. *Women of India.* Delhi, The Publications Division, 1958. pp. 276.

Cousins, M. E. *Indian Womenhood Today.* Allahabad, Kitabistan, 1941. pp. 207.

Dasgupta, Jyoti Probha. *Girls' Education in India in the Secondary and Collegiate Levels.* Calcutta, University of Calcutta, 1938. pp. 269.

Gandhi, M. K. *Women and Social Injustice.* Ahmedabad, Navjivan Press, 1942. pp. 276.

Government of India. *Report of the National Committee on Women's Education.* Delhi, Manager of Publications. 1959. pp. 335.

Indra. *Status of Women in Ancient India.* Lahore, Minerva Book Shop. 1949. pp. 324.

Joshi, K. L., and Shukla P D. "Women and Education in India," *Women and Education,* Paris, UNSECO, 1953. pp. 264.

सिंह, गणेशप्रसाद : हमारी शिक्षा. वाराणसी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकाल्य, १९५८. पृष्ठ ३०९.

आठवाँ अध्याय : प्राविधिक शिक्षा

C. A. B. E. *Report of the Technical Education Committee,* 1943. Delhi, Manager of Publications, 1956. pp. 37

Chandiramani, G. K. *Technological Education in India.* Delhi, Publications Division, 1956. pp. 20.

Estimates Committee, *Technical Education.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. p. 127.

Government of India. *Report on Vocational Education in India.* (Abbott-Wood Report). Delhi, Manager of Publications, 1937. pp. 138.

——. *Scientific Research.* Delhi, Manager of Publications, 1957. pp. 88.

National Planning Committee. *General Education and Technical Education, and Developmental Research.* Bombay, Vora & Co., 1938. pp. 209.

प्रसाद, मुनेश्वर : भारतीय शिक्षा का इतिहास. (द्वितीय विभाग). पटना, श्री अजन्ता प्रेस, १९५७. पृष्ठ ५१७.

रावत, प्यारेलाल. भारतीय शिक्षा का इतिहास. आगरा, भारत पब्लिकेशन्स, १९५८. पृष्ठ ६०८।

Venkatraman, K. " Technical Education ", *The Educational System.* Bombay, O. U. P., 1943. pp. 64.

नवाँ अध्याय : शिक्षक प्रशिक्षण

A.A.C.T.E. *School and Community Laboratory Experiences in Teacher Education.* Oneonta, N. Y. 1948. pp. 340.

Association of Training Colleges in India. *Report of the First, Second and Third Conferences.* Baroda, Faculty of Education and Psychology.

Commission on Teacher Education. *The Improvement of Teacher Education.* Washington, American Council on Education. 1946. pp. 283.

Divekar, S. M. "A Plea for Bridging Gulf Between the Basic and Non-Basic Graduate Teacher Education Programmes", *Journal of Education & Psychology,* October, 1956,

Filho, M. B. L. *et al. The Training of Rural School Teachers* Paris, UNESCO, 1953. pp. 164.

Hindustani Talimi Sangh. *Revised Syllabus for the Training of Teachers.* Sevagram, 1952. pp. 81.

Kaul, G. N. and Menon T, K. N. *Experiments in Teacher Training.* Delhi, Publications Division, 1954. pp. 73.

Mukerji, S. N. "Practical Work of Teachers' Colleges." *Journal of Education & Psychology,* January, 1955.

National Teachers' Association. *Education for Teaching.* Washington, WCOTP. 1954. pp. 57.

Report of the First Seminar on Extension Services in Training Colleges. Hyderabad, 1954. pp. 55.

Richardson, C. A. *et. al. The Education of Teachers in England, France and U.S.A.* Paris, UNESCO. 1953. pp. 339.

Theodore, C. B., and Cooper, R. M., eds. *The Preparation of College Teachers.* Washington, American Council on Ed., 1950. pp. 186.

दसवाँ अध्याय : विविध विषय

१. पूर्व-प्राथमिक-शिक्षा

All-India Child Education Conference. *Problems of Child Education in India.* Indore, Bal-Niketan Sangh, 1956. pp. 150.

Estimates Committee. *Elementary Education.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1958. pp. 89.

Hindustani Talimi Sangh. *Pre-Basic Education.* Sevagram, 1953. pp. 26.

Narulkar, Shanta. *Plan and Practice.* Sevagram, Hindustani Talimi Sangh, 1950. pp. 64.

२. समाज शिक्षा

Apte, D. G. *Social Education at a Glance.* Baroda, Faculty of Education & Psychology, 1956. pp. 15.

Community Projects Administration. *Manual of Social Education.* Delhi, Publications Division. 1955. pp. 110.

Indian Adult Education Association. *Teachers' Handbook of Social Education.* Delhi, Publications Division. 1955. pp. 101.

शास्त्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी : सामाजिक शिक्षा और समाज सेवा. पटना, मगध–राजधानी प्रकाशन, पृष्ठ ३६७.

Sohan Singh. *Social Education in India.* Delhi, Ministry of Education, 1956, pp. 18.

३. मजदूरों की शिक्षा

Estimates Committee. *Special Education.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat. 1958. pp. 60.

Planning Commission. *Social Welfare in India.* Delhi. Publications Divison. 1955. pp. 850.

Priestly, K. E., and Wright B. P. *Mentäl Health and Education.* Hong Kong, University Press, 1956. pp. 97.

Sent, M. "Problems of Handicapped Chidren in India', *Irdian Journal of Child Health.* November 1952. pp. 597–607.

४. स्वास्थ्य एवं अनुशासन

C. A. B. E. *A National Plan of Physical Education.* Delhi, Publications Division, 1959. pp. 61.

Desai, C. R. *History and Progress of Physical Educ-tion in Ind'-.* Baroda, Faculty of Education & Psychology, Unpub' ;hed Dissertation for M. Ed., 1956. pp. 521.

Estimates Committee. *Cultural and International Activities.* New Delhi, Lok Sabha Secretariat. 1958. p. 116.

Planning Commission. *Social Welfare in India.* Delhi, Publications Division, 1955. pp. 53–119.

ग्यारहवाँ अध्याय : कतिपय राष्ट्रीय संस्थान

Fleming, D. J. *Schools With a Message for India.* Madras, O.U.P., 1948. pp. 192.

Government of India. *Experiments in Primary and Basic Education.* Delhi, Ministry of Education. 1956. pp. 33.

Gujarat Vidyapitha. *Annual Report,* 1954–55 (in Gujarati). Ahmedabad, Navjivan Press, 1955. pp. 21.

Hindustani Talimi Sangh, Wardha. *Basic Education At Sevagram.* 1951. pp. 26.

——. *Nai Talim at Sevagram.* 1955. pp. 8.

Jamia Millia Islamia, *Review of Aims, History and Scope of Work.* Report 1954-55. pp. 54.

Sri Aurobi..o Ashram, Pondicherry. *Sri Aurabindo International University Centre.* 1958. pp. 16.

Thacore C. N. "Some Aspects of the Educational Thought of India", *Educational Studies and Investigations*, Vol. I. ,,Bombay, Asia Publishing House, 1951. pp. 262.

Vidyavachaspati Indra. "Gurukulas' Contributions to the Present Educational System", *Educational India*. December, 1955.

Visva-Bharati. *Prospectus*. Santiniketan Press, n. d. pp. 15.

बारहवाँ अध्याय : उपसंहार

Chakravarty, A. *Thoughts on Indian Education*. Delhi, Manager of Publications, 1958. pp. 101.

Government of India. *Future of Education in India*. Delhi, Ministry of Information and Broadcasting, 1956 pp. 126.

——. *The Field of Education*. Delhi, Ministry of Education & Scientific Research, 1957. pp. 72.

Kabir, Humayun. *Education in New India*. London, George Allen & Unwin. 1955. pp. 212.

——. *Student Indiscipline*. Delhi, Ministry of Education. 1955. pp. 23.

Sondhi, G. D. *A Plan for Youth Welfare*. Delhi, Ministry of Education. 1956. pp. 67.

अनुक्रमणिका

(विषयानुसार)

व

श

——— ———

अनुक्रमणिका

(नामक्रमानुसार)